Bachelor of Arts (Sanskrit)

बैचलर ऑफ आर्ट्स (संस्कृत)

पंचम सेमेस्टर - बी0ए0एस0एल (N)- 330

विविध विद्या परम्परा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति **बी0ए0एस0एल (N)- 330**

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय, संकाय अध्यक्ष
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रोफेसर गिरीश चन्द्र पन्त,
संस्कृत विभागाध्यक्ष, जामिया मिल्लिया इस्लामिया
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रोफेसर जया तिवारी,
संस्कृत विभागाध्यक्षा, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रोफेसर रेनू प्रकाश (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रोफेसर देवेश कुमार मिश्र,
संस्कृत संकाय, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं सम्पादन

डॉ0 नीरज कुमार जोशी
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	खण्ड	इकाई संख्या
श्री राहुल पन्त,	**खण्ड 1**	(इकाई 1, 2)
असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग	**खण्ड 2**	(इकाई 1)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 4**	(इकाई 1,2,3)
डॉ0 सुधीर नौटीयाल,	**खण्ड 1**	(इकाई 3)
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग		
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी		
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,	**खण्ड 2**	(इकाई 2)
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग,	**खण्ड 3**	(इकाई 1,2,4)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी		
डॉ0 भानु जोशी,	**खण्ड 2**	(इकाई 3)
एसो. प्रोफे. योग विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी		
डॉ0 प्रभाकर पुरोहित,	**खण्ड 3**	(इकाई 3)
असि. प्रोफे-ए.सी. ज्योतिष विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी		
डॉ0 कान्ता प्रसाद,	**खण्ड 4**	(इकाई 4)

असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रकाशक: (उ0 मु0 वि0, हल्द्वानी) -263139

कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

पुस्तक का शीर्षक-विविध विद्या परम्परा (BASL (N)- 330)

प्रकाशन वर्ष : 2025

ISBN No.

मुद्रक:

नोट:- सर्वाधिकार सुरक्षित । इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

अनुक्रम

खण्ड- एक (Section-A) काव्य एवं नाट्य विद्या	**पृष्ठ संख्या 1- 4**
इकाई-1 काव्य के सिद्धांत	05-19
इकाई-2 विद्या के रूप में काव्य	20-38
इकाई-3 नाट्यविद्या	39-57
खण्ड- दो (Section-B) योग एवं आयुर्वेद विद्या	**पृष्ठ संख्या 58**
इकाई-1 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास	59-70
इकाई-2 आयुर्वेद के अनुसार स्वास्थ्य एवं रोगों की अवधारणा	71-85
इकाई-3 योग दर्शन एवं चिकित्सा	86-99
खण्ड- तीन (Section-C) सृष्टि विद्या	**पृष्ठ संख्या 100**
इकाई-1 सृष्टि की वैदिक परिकल्पना एवं अवधारणा	101-123
इकाई-2 वैदिक वाङ्मय में ब्रह्माण्ड की अवधारणा	124-134
इकाई-3 वैदिक सृष्टि के प्राचीन एवं आधुनिक सिद्धान्त	135-148
इकाई-4 सृष्टि संरचना एवं स्वरूप	149-167
खण्ड- चार (Section-D) गणित एवं खगोल विद्या	**पृष्ठ संख्या 168**
इकाई-1 वैदिक गणित का उद्भव एवं विकास	169-182
इकाई-2 भारतीय गणित के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ परम्परा	183-195
इकाई-3 उत्तरवैदिक कालीन भारतीय गणित (जैन, बौद्ध आदि)	196-207
इकाई-4 खगोल विज्ञान का परिचय एवं प्रतिपाद्य	208-224

खण्ड- एक (Section-A)
काव्य एवं नाट्य विद्या

इकाई- 1 काव्य के सिद्धान्त

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 काव्य का अर्थ एवं स्वरूप
1.3.1 काव्य का अर्थ एवं लक्षण
1.3.2 काव्य का आविर्भाव
1.3.3 महाकाव्य का स्वरूप
1.3.4 आचार्य राजशेखर का काव्य निरूपण
1.3.5 काव्य का ध्येय
1.4 काव्य के सिद्धान्त
1.4.1 रस सिद्धान्त (रस सम्प्रदाय)
1.4.2 अलंकार सिद्धान्त (अलंकार सम्प्रदाय)
1.4.3 रीति सिद्धान्त (रीति सम्प्रदाय)
1.4.4 वक्रोक्ति सिद्धान्त (वक्रोक्ति सम्प्रदाय)
1.4.5 ध्वनि सिद्धान्त (ध्वनि सम्प्रदाय)
1.4.6 औचित्य सिद्धान्त (औचित्य सम्प्रदाय)
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों!

प्रस्तुत इकाई **'काव्य के सिद्धान्त'** से सम्बन्धित है। प्रायः सभी जानते हैं कि भारतीय ज्ञान परम्परा का मूल **'वेद'** को माना जाता है। अतः काव्य का उद्भव भी वैदिक सूत्रों से ही माना जाता है। जिनमें स्तुतिपरक नाराशंसियों, दान स्तुतियों, सम्वाद-सूक्तों तथा देवताओं के वर्णन का महत्व काव्यात्मक शैली में है। रामयाण और महाभारत जैसे आर्ष काव्य इस साहित्य विधा के भास्कर कहे गये हैं, जिन्होंने परवर्ती काव्यों को विषय-वस्तु, वर्णन-विधि तथा भाषा-शैली भी दी है। आदिकाव्य रामायण और महाभारत परवर्ती महाकवियों और नाटककारों के महाकाव्यों और नाटकों के उपजीव्य रहे हैं।

संस्कृत साहित्य में काव्य को मुख्य रूप से दो भागों में वर्गीकृत किया गया है, **श्रव्यकाव्य** और **दृश्यकाव्य**। श्रव्यकाव्य वह है जो सुनने या पढ़ने के लिए होता है, जैसे कि महाकाव्य, खण्डकाव्य, और गीतिकाव्य। दृश्यकाव्य वह है जो नाटक अथवा अभिनय के माध्यम से होता है।

काव्य का प्रयोजन अथवा ध्येय सौन्दर्य प्रदान करना है। संस्कृत के आचार्यों ने आरम्भ से ही इस प्रयोजन को स्वीकार किया है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में इसके अतरिक्त भी अनेक काव्य प्रयोजनों का निरूपण किया गया है। जैसे पाठक के लिए आनन्द, शान्ति, धर्म, निति और अध्यात्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त होना, कला और व्यवहार-ज्ञान में कुशलता। कवि के लिए जैसे- काव्य यश कि प्राप्ति और धनादि भी प्राप्त करवाता है।

काव्यंयशसेऽर्थकृते व्यवहारविदेशिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। (का०प्र० १.२)

काव्य में दोष, अराजकता की उत्पत्ति न हो इसके लिए काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की परम आवश्यकता होती है। आचार्यों ने जो काव्य सिद्धान्त दिए हैं वे हैं- रस सिद्धान्त, अलंकार सिद्धान्त, रीति सिद्धान्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त, ध्वनि सिद्धान्त और औचित्य सिद्धान्त, आपको इन्हीं सिद्धान्तों से अवगत करवाना प्रस्तुत इकाई का ध्येय है।

1.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों, प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप—

- काव्य का अर्थ एवं लक्षण को जानेंगे।
- काव्य का आविर्भाव एवं महाकाव्य के स्वरूप को जानेंगे।
- काव्य के ध्येय को जानेंगे।
- आचार्य राजशेखर के काव्य निरूपण को जानेगें।
- काव्य के सिद्धान्त रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि एवं औचित्य को जानेगें।

1.3 काव्य का अर्थ एवं स्वरूप

1.3.1 काव्य का अर्थ एवं लक्षण

'काव्य' शब्द का अर्थ, कवि की कृति होता है। अर्थात कवि जो कार्य करता है, उसे 'काव्य' कहा जाता है- **'कवेः कर्म काव्यम्।'** 'कवि' शब्द 'कु' अथवा 'कव्' धातु 'भ्वादि आत्मनेपद-कवते' से बना है जिसका अर्थ है- ध्वनि करना, चित्रण करना इत्यादि। शब्दों के माध्यम से किसी विषय का आकर्षण विवरण देना या चित्रण करना **'काव्य'** है।

सर्वप्रथम 'काव्यलक्षण' अग्निपुराण में प्राप्त होता है। वहाँ उल्लिखित है- **'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली काव्यम्।'** अर्थात संक्षेप से जो वाक्य होता है उसका नाम काव्य है, और संक्षेप से वाक्य का अर्थ है कि जिस अर्थ को कहना चहाते हैं वह जितने से कहा जा सकता है उससे न अधिक न कम, इस तरह की पदावली काव्य है। आचार्य भामह के अनुसार काव्य का लक्षण है- **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।'** यह काव्य का लक्षण जितना प्राचीन है उतना ही संक्षिप्त है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना है। वह काव्य दो प्रकार का है गद्य काव्य और पद्य काव्य। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य का लक्षण निरुपित करते हुए कहा है- **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'।** आर्थात रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द काव्य है। आचार्य विश्वनाथ प्रणीत काव्य का लक्षण है **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।** अर्थात रसात्मक वाक्य काव्य है।

संस्कृत वांग्मय भारतीय समाज के उदात विचारों का दर्पण है। संस्कृत काव्य जीवन की प्रतिकूल प्रस्तिथियों में भी आनन्द की खोज में सदैव संलग्न रहा है। आनन्द को परमेश्वर का विशुद्ध पूर्णरूप कहा गया है **'रसौ वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'** अतएव संस्कृत काव्य **'रस'** है। रस का उन्मीलन श्रोता तथा पाठकों के हृदय में आनन्द का प्रकट होना ही काव्य का चरम लक्ष्य है।

1.3.2 काव्य का आविर्भाव-

काव्य विधा का उद्भव वैदिक सूक्तों से प्राप्त होता है जिनमें स्तुतिपरक नाराशंसियों, दान स्तुतियों, सम्वाद-सूक्तों तथा देवताओं के वर्णन का महत्व काव्यात्मक शैली में है। रामयाण और महाभारत जैसे आर्ष काव्य इस साहित्य विधा के भास्कर हैं जिन्होंने परवर्ती काव्यों को विषय-वस्तु, वर्णन-विधि तथा भाषा-शैली भी दी है। रामायण तथा महाभारत में भारतीय सभ्यता का भव्य रूप जिस प्रकार प्रस्फुटित होता है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नही होता। आदिकाव्य रामायण और महाभारत परवर्ती महाकवियों और नाटककारों के महाकाव्यों और नाटकों के उपजीव्य रहे हैं। संस्कृत महाकाव्यों में महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण 'आदिकाव्य' माना जाता है, तथा वाल्मीकि 'आदिकवि' माने जाते हैं। भारतीय जन-मानस में मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित श्रीराम कथा का प्रथम-प्रथम विवरण 'रामायण' में ही प्राप्त होता है। कथा प्रायः सभी जानते हैं कि कैंसे व्याध के बाण से बिधे हुए क्रौंच के लिए विलाप करने वाली क्रौंची का करुण शब्द ऋषि ने सुना, और उनके मुखारविन्द से अकस्मात एक अनुष्टुप वाक् में श्लोक प्रकट होता है-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। रामायण १/२/१५)

अर्थात हे! निषाद तुमने काम से मोहित इस क्रौंच पक्षी को मारा है, अतः तुम्हे कभी प्रतिष्ठा प्राप्त न हो। महर्षि वाल्मीकि की करुणामयी वाणी को सुनकर ब्रह्मा प्रकट हुये और उन्होंने श्रीराम के

चरित लिखने को कहा। रामायण कि रचना इसी प्रेरणा का फल है। महर्षि वाल्मीकि अनुष्टुप छन्द के अविष्कारक माने जाते हैं। रामायण महाकाव्य सात काण्डों में विभक्त है और प्रयेक काण्ड सर्गों में विभक्त है। सर्गों में रमणीय संस्कृत पद्य हैं जो अनुष्टुप, उपजाति, वंशस्थ आदि सुन्दर गेयात्मक छन्दों में निबद्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २४ सहस्त्र पद्य (श्लोक) हैं। अतः इसे चतुर्विंशतिसाहस्री संहिता भी कहते हैं। परवर्ती कवियों, नाटककारों तथा लेखकों ने रामायण की कथा का अनुहरण अपने ग्रन्थों में किया है, साथ ही रामायण की शैली का अनुसरण भी किया है।

महाभारत विश्व साहित्य में सबसे बड़ा ग्रन्थ है, जिसमें एक लाख से कुछ अधिक श्लोक होने कि सम्भावना है। कौरवों और पाण्डवों का इतिहास का वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपितु हमारे हिन्दू धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी इसका प्रयोजन है। यह ग्रन्थ भारत के सांस्कृतिक विषयों का विराट कोष तथा आचार कि संहिता है। महाभारत के विषय में लोकोक्ति प्रसिद्ध है- **'यन्न भारते तन्न भारते'** अर्थात जो बातें महाभारत में नहीं हैं वे भारतवर्ष में नहीं होती हैं।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।

महाभारत को अट्ठारह पर्वों में विभक्त किया गया है, जो पुनः अनेक उपपर्वों तथा अध्यायों में विभक्त हैं। मुख्य रूप से कौरवों और पाण्डवों के बीच हुए युद्ध का इसमें वर्णन है जिसमें कौरवों का सर्वनाश हुआ तथा अन्याय पर न्याय की विजय हुई। प्रायः सभी जानते हैं कि आदिकाव्य रामायण और महर्षि व्यास कृत महाभारत परवर्ती महाकवियों और नाटककारों के महाकाव्यों और नाटकों के उपजीव्य रहे हैं।

1.3.3 महाकाव्य का स्वरूप-

संस्कृत साहित्य में काव्य को मुख्य रूप से दो भागों में वर्गीकृत किया गया है, जो कि इस प्रकार से हैं-**श्रव्यकाव्य** और **दृश्यकाव्य**। श्रव्य काव्य वह है जो सुनने या पढ़ने के लिए होता है, जैसे कि महाकाव्य, खण्डकाव्य, और गीतिकाव्य। दृश्य काव्य वह है जो नाटक अथवा अभिनय के माध्यम से होता है।

आचार्यों के मतानुसार महाकाव्य की रचना 'सर्गों' में की जाती है **'सर्गबन्धो महाकाव्यम्'।** महाकाव्य में एक ही नायक होता है, जो देवता होता है या धीर उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है **'तत्रैको नायकः सुरः।'** महाकाव्य में श्रृंगार, वीर, या शान्त रस में से किसी एक रस की प्रधानता होति है। साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ जी लिखते हैं-

श्रङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गीरस ईष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः।।

वीर, श्रृंगार अथवा शान्त रस , इनमें से कोई एक रस मुख्य (अंगी) होता है। अन्य रस गौण रूप से रखे जाते हैं। महाकाव्य का कथानक इतिहास में प्रसिद्ध होता है या किसी सज्जन का चरित वर्णन किया जाता है। अश्वघोष ने अपने महाकाव्यों को बुद्ध तथा परिवार से सम्बद्ध घटनाओं के आधार पर लिखा। कालिदास का 'रघुवंश' रामायण या पुराणों की कथाओं पर आश्रित है, 'कुमारसम्भव' शिव-पार्वती के विवाह कि प्रसिद्ध कथा पर आश्रित है। किरातार्जुनीयम्,

नैषधीयचरितम् और शिशुपालवधम् आदि तीनों बृहत्त्रयी महाकाव्य महाभारत कि घटनाओं पर आश्रित हैं। आधुनिक युग के महाकव्य भी इस नियम पर चलते हैं। आचार्य विश्वनाथ का कथन है- **'इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद् वा सज्जनाश्रयम्।'** कथानक पाँच सन्धियों से युक्त होना चाहिए। सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है, परन्तु सर्ग की समाप्ति में वृत्त बदल दिया जाता है। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिए और न ही बहुत छोटे। प्रतिसर्ग के अंत में आगामी कथानक की सूचना होनी चाहिए। वृत्त को अलंकृत करने के लिए संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्री, प्रदोष, अन्धकार, वन, ऋतू, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अवश्य किया जाता है।

1.3.4 आचार्य राजशेखर का काव्य निरूपण-

राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में काव्य पुरुष का निरूपण करते हुए कहा है- **'शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्, समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणिछन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च मलंकुर्वन्ति।'** अर्थात शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, संस्कृत मुख है, प्राकृत बाहु है, अपभ्रंश जंघा है, पैशाची (भाषा) पैर है तथा मिश्रित भाषा हृदय वक्ष:स्थल है। समता, प्रसन्नता, माधुर्य, औदार्य और तेज काव्य पुरुष के गुण हैं। वाणी उत्कृष्ट है। रस काव्य कि आत्मा है। छन्द रोयें हैं। प्रश्नोत्तर रूप काव्य तथा प्रहेलिका आदि वाग्विनोद हैं। अनुप्रास एवं उपमा आदि अलंकार काव्य को अलंकृत करते हैं।

1.3.5 काव्य का ध्येय-

काव्य का प्रयोजन अथवा ध्येय सौन्दर्य प्रदान करना है। संस्कृत के आचार्यों ने आरम्भ से ही इस प्रयोजन को स्वीकार किया है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में इसके अतरिक्त भी अनेक काव्य प्रयोजनों का निरूपण किया गया है। जैसे पाठक के लिए- (१) आनन्द, शान्ति, (२) धर्म, निति और अध्यात्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त होना, (३) कला और व्यवहार-ज्ञान में कुशलता। कवि के लिए जैसे- काव्य यश कि प्राप्ति और धनादि भी प्राप्त करवाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार- **दुखार्त्तन्यं श्रमार्त्तानां शोकर्तानां तपस्विनाम्। विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।।** (ना०शा० १/१११/१२) दुखी और चिन्ताग्रस्त व्यक्तियों के मन को नाट्य विश्राम और शान्ति प्रदान करता है। भामह के अनुसार-

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।

काव्य अध्ययन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति, समस्त कलाओं में निपुणता के साथ-साथ उत्तम काव्य से कीर्ति और प्रीति (आनन्द) की भी प्राप्ति होती है।

आचार्य मम्मट के अनुसार-

काव्यंयशसेऽर्थकृते व्यवहारविदेशिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। (का०प्र० १.२)

काव्य यश के लिए, अर्थ प्राप्ति के लिये, व्यवहार ज्ञान के लिए, अमंगल निवारण के लिए, अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए और स्त्री के समान मधुर उपदेश प्राप्ति के लिए प्रयोजनीय होते हैं। सत्काव्य के परिज्ञान से व्यवहार करने वाले लोगों को अपने-अपने व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है। आचार्य कुन्तक के अनुसार-

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।५।।

काव्य सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति से भी अधिक आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न कराने में सहायक होता है।

1.4 काव्य के सिद्धान्त

भारतीय साहित्य परम्परा का बृहद एवं अत्यन्त समृद्ध क्षेत्र रहा है। इसमें विशेष रूप से काव्य के स्वरूप, लक्षण, प्रयोजन, प्रभाव और मूल्याङ्कन से जुड़े सिद्धान्तों का विश्लेषण किया गया है। काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय निम्नांकित हैं-

काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त या सम्प्रदाय		**प्रवर्तक**
१. **रस सिद्धान्त**	-	भरतमुनि
२. **अलंकार सिद्धान्त**	-	आचार्य भामह
३. **रीति सिद्धान्त**	-	आचार्य वामन
४. **वक्रोक्ति सिद्धान्त**	-	आचार्य कुन्तक
५. **ध्वनि सिद्धान्त**	-	आनन्दवर्धनाचार्य
६. **औचित्य सिद्धान्त**	-	आचार्य क्षेमेन्द्र

1.4.1 रस सिद्धान्त (रस सम्प्रदाय)

रस सिद्धान्त के आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं- **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** अर्थात रसात्मक वाक्य ही काव्य है। **'रसौ वै सः'** श्रुति के आधार पर रस को आनन्द स्वरुप ब्रह्म माना गया है। इस श्रुति वाक्य के माध्यम से भारतीय मनीषियों ने जीवन के परम उद्देश्य के रूप अलौकिकानन्द स्वरूप तत्व ब्रह्म रस का विवेचन किया है।

आचार्य भरत को रस सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है। रससिद्धान्त का स्वरूप और उसकी परिभाषा इन्होंने कुछ इस प्रकार दी है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है- **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'** और रस की निष्पत्ति अनेक भावों के उपगम से होती है- **'नानाभवोपगमाद्रसनिष्पत्तिः।'** भरतमुनि का रस सूत्र ही रस सिद्धान्त का प्राणभूत है। उत्तरवर्ती आचार्यो ने इसी के आधार पर रस का विवेचन किया है। 'नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रसों का और सातवें अध्याय में भावों का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। यही रस सिद्धान्त का आधार है।

आचार्य धनंजय ने भरतमुनि का समर्थन करते हुए लिखा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव आदि स्थायी भावों के साथ मिलकर स्थायी भाव रस रूप में निष्पन्न होता है-

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः।। (दशरूपक ३/१)

आचार्य मम्मट का कथन है कि विभावादि के द्वारा या उनके सहित व्यंजना द्वारा व्यक्त किया हुआ वह स्थायी भाव रस कहा जाता है- **'व्यक्तः स तै विभावाद्यै: स्थायी भावो रस: स्मृतः।'** (का०प्र० ४/२८)

आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि **'रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्'** (स० द० ४/१) अर्थात रति आदि स्थायी भाव ही रस स्वरुप को प्राप्त करते हैं। साहित्य दर्पण में रस के स्वरूप को व्यक्त करते हुए आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं कि सत्वोद्रेक रस का हेतु है। यही नहीं, वह तो अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर, स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद सहोदर और लोकोत्तर चमत्कार से युक्त होता है। आचार्य विश्वनाथ का आश्रय है कि रस का आस्वादन होता है, अतः वह रस है अर्थात रस आस्वाद रूपा है- **'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'** और इस रस के आस्वाद कर्ता सहृदय ही होते हैं। काव्यशास्त्र में विभन्न रसों के वर्ण एवं देवताओं की कल्पना की गई है, वह निम्नांकित है-

रस	स्थायीभाव	वर्ण	देवता
श्रृंगार	रति	श्याम	विष्णु
हास्य	हास	श्वेत	प्रमथ
रौद्र	क्रौध	रक्त	रूद्र
करुण	शोक	कपोत	यम-वरुण
वीभत्स	जुगुप्सा	नील	महाकाल
भयानक	भय	कृष्ण	कालदेव
वीर	उत्साह	स्वर्ण, गौर	इंद्र (महेन्द्र)
अद्भुत	विस्मय	पीत	गन्धर्व, ब्रह्मा
शान्त	निर्वेद	अरुण	पूषा
वात्सल्य	रति	ईषदरुणाभ	वासुदेव

अभिनव गुप्त ने शान्तरस का अधिष्ठाता बुद्धदेव को माना है, विश्वनाथ ने नारायण को तथा हर्षोपाध्याय ने परमेश्वर को माना है। विश्वनाथ ने वात्सल्य रस का देवता जगदम्बा को माना है।

1.4.2 अलंकार सिद्धान्त (अलंकार सम्प्रदाय)

रस सिद्धान्त के पश्चात दूसरा स्थान अलंकार सिद्धान्त का है। कालक्रम से भरतमुनि के बाद दूसरे आचार्य भामह अलंकार सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाते हैं। अलंकार शब्द की रचना 'अलं' तथा 'कृ' धातु से हुई है, अलंकार शब्द का अर्थ है 'सजावट' । **'अलंकरोतीति अलंकारः ।** अथवा **अलंक्रियते अनेनेत्यलंकारः'** जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार (आभूषण) है।

आचार्य भामह अलंकारवादी आचार्य हैं, उनका मत यह है कि आभूषण से रहित सुन्दरी का मुख अपने प्रिय को अच्छा नहीं लगता है- **'न कान्तामपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।'** जिस प्रकार सुन्दरी के लिये आभूषणों की प्रधानता है, उसी प्रकार काव्य में अलंकारों की भी प्रधानता है।

आचार्य दण्डी ने काव्य शोभा के विधायक रूप में अलंकारों को महत्व दिया है- **'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते'** यहाँ अलंकार काव्य के समग्र सौन्दर्य के रूप में तथा इसी सौन्दर्य के उपकरण के रूप में ग्रहण किया गया है। आचार्य वामन ने अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची माना है। उनका कथन है कि अलंकार गुणों का उत्कर्ष करते हैं, सौन्दर्य को बढाते हैं। अलंकार काव्य के साध्य नही अपितु साधन हैं। आचार्य भामह के अनुसार 'शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है'- **'व्क्राभिधेय श्ब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः'** अर्थात लोकोत्तर चमत्कार के उत्पादक शब्द और अर्थ के वक्रत्व अथवा वैचित्र्य को विशिष्ट अलंकार कहते हैं।

आचार्य मम्मट रसवादी आचार्य हैं, उन्होंने अलंकार का उद्देश्य रस को पुष्ट करना माना है। उनका अलंकार का लक्षण इस प्रकार से है-

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वरेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। (का०प्र० ८/६७)

अर्थात अलंकार हार आदि आभूषणों के समान हैं और वे रस के उपकारक हैं। मम्मट ने अपने काव्य के लक्षण में 'अलंकृति: पुनः क्वापि' लिखकर काव्य में अलंकार की अनिवार्यता का आग्रह किया।

जयदेव ने मम्मट के काव्य के काव्य लक्षण में आये 'अलंकृति: पुनः क्वापि' अर्थात कहीं-कहीं अलंकार हीन शब्दार्थ भी काव्य हो सकते हैं, इस अंश पर कटाक्ष करते हुए लिखा है-

अङ्गीकरोति यः काव्यं श्ब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादानुष्णमनलं कृती।। (चन्द्रालोक १/८)

अर्थात् जो अलंकार विहीन शब्द-अर्थ को काव्य मानते हैं, वे उष्णताविहीन अग्नि की सत्ता क्यों नहीं मानते हैं? अलंकार सम्प्रदायवादी काव्य में अलंकारों को ही प्रधान मानते हैं और इसका अन्तर्भाव रसवदलंकारों में करते हैं।

1.4.3 रीति सिद्धान्त (रीति सम्प्रदाय)

अलंकार सिद्धान्त के पश्चात रीति सिद्धान्त का स्थान आता है। रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य वामन को माना जाता है। आचार्य वामन ने काव्य में अलंकार की प्रधानता के स्थान पर रीति की प्रधानता का प्रतिपादन किया है। **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** यह उनका सिद्धान्त है।

'रीति' को काव्य का महत्वपूर्ण अंग माना गया है। आचार्य वामन रीति के विषय में कहते हैं- **'विशिष्टापदरचना रतिः।'** अर्थात विशिष्टपद रचना ही रीति है। वामन के अनुसार पद रचना कि विशेषता या उत्कर्ष गुणों पर निर्भर है- **'विशेषो गुणात्मा।'** उनके मत में गुण काव्य की शोभा के प्रधान तत्व हैं तथा ये काव्य के नित्य धर्म हैं। आचार्य वामन के मत में रीति काव्य की आत्मा है, और काव्य का समस्त सौन्दर्य रीति पर ही आश्रित मानते हैं। पूर्ववर्ती काव्यशास्त्री आचार्य दण्डी ने भी इस मत को स्वीकार किया था, उन्होंने रीति एवं गुणों को परस्पर सम्बद्ध कर एक मानने की चेष्टा की थी। उनका कथन है- **'वैदर्भमार्गस्य प्राण दशगुणाः स्मृताः।'** अर्थात वैदर्भी आदि रीतियों के

प्राण दश गुना हैं। यद्यपि दण्डी ने इस रीति सिद्धान्त की चर्चा की थी, परन्तु इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का सम्पूर्ण श्रेय वामन को है।

रीति के भेद- आचार्य वामन ने वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली नामक तीन रीतियाँ मानी हैं। वैदर्भी रीति काव्य में विशेष प्रशंसित रीति है। कालिदास को वैदर्भी रीति की रचना में विशेष सफलता मिली है। गौड़ी रीति ओजपूर्ण शैली है। मधुरता तथा सुकुमारता का इसमें अभाव रहता है। पांचाली रीति का उल्लेख भामह तथा दण्डी ने नही किया है। इस रीति का सर्व प्रथम उल्लेख वामन ने किया था। उनके अनुसार यह माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न रीति है और अगठित, भावशिथिल, छायायुक्त (कान्ति रहित) मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त होती है।

1.4.4 वक्रोक्ति सिद्धान्त (वक्रोक्ति सम्प्रदाय)

रीति सिद्धान्त के पश्चात वक्रोक्ति सिद्धान्त का स्थान आता है। काव्यशास्त्र में प्रथम-प्रथम वक्रोक्ति शब्द आचार्य भामह के द्वारा प्रयुक्त हुआ है। भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में में 'लोक-व्यवहार से अलग अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति माना है। वे सभी अलंकारों का मूल वक्रोक्ति को मानते हैं। वक्रोक्ति के आभाव में वे अलंकारों का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते हैं। आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को उपमा प्रपंच के अन्तर्गत अर्थालंकार माना है। आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति को सर्वालंकार मूला कहा है। आचार्य जयदेव ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है। आचार्य मम्मट एवं आचार्य विश्वनाथ ने भी वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में माना है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में आचार्य कुन्तक को माना जाता है। कुन्तक ने बाण भट्ट के वाक्-छल,क्रीडालाप, परिहास-जल्पित,चमत्कार पूर्ण शैली, वचन विदग्धता आदि वक्रोक्ति शब्द के अर्थों की पृष्ठभूमि में वक्रोक्ति को वैदग्ध्य-भंगी-भणिति कहा है-**'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भंगी-भणितिरुच्यते।'** (वक्रोक्तिजीवित १/१०) **'वैदग्ध्य'** का अर्थ है निपुण कवि के काव्य-निर्वाण करने का कौशल, **'भंगी'** का अर्थ है विच्छित्ति, चमत्कार, चारुता, शोभा आदि और **'भणिति'** का अर्थ है वर्ण शैली। इस प्रकार आचार्य कुन्तक के अनुसार ''काव्य निर्माण की अपूर्व कुशलता से लोकोत्तर चमत्कारप्राण विचित्र कथन वक्रोक्ति है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छ: भेद माने हैं। वे निम्नांकित हैं-

१. **वर्णविन्यासवक्रता,**
२. **पदपूर्वार्द्धवक्रता,**
३. **प्रत्ययाधिवक्रता,**
४. **वाक्यवक्रता,**
५. **प्रकरणवक्रता,**
६. **प्रबन्धवक्रता,**

आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया है। लेकिन उनके मत को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नही किया गया है। वे अकेले ही इस मत के प्रवर्तक हैं। पूर्वाचार्यों ने वक्रोक्ति को केवल अलंकार के रूप में स्वीकारा है।

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापार-शालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।। (वक्रोक्तिजीवित १/७)

अर्थात काव्य मर्मज्ञ सहृदयों के आह्लादकारक सुन्दर वक्र कवि व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।। वक्रोक्तिजीवित ३।।
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्य व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।। वक्रोक्तिजीवित ४।।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।। वक्रोक्तिजीवित ५।।

अर्थात आचार्य कुन्तक के मतानुसार काव्य रचना राजकुमार आदि के लिए सुन्दर एवं ढंग से कहा गया धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति का सरल मार्ग है। सत्काव्य के परिज्ञान से व्यवहार करने वाले लोगों को अपने-अपने व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है। काव्य सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति से भी अधिक आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न कराने में सहायक होता है।

1.4.5 ध्वनि सिद्धान्त (ध्वनि सम्प्रदाय)

वक्रोक्ति सिद्धान्त के पश्चात ध्वनि सिद्धान्त आता है। ध्वनि सिद्धान्त के संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य माने जाते हैं। इनके मत में काव्य की आत्मा ध्वनि है। **'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।'** अर्थात काव्य की आत्मा 'ध्वनि' है। सभी सिद्धांतों में ध्वनि सिद्धान्त सबसे अधिक प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त रहा है।

ध्वनि सिद्धान्त के विरोध में वैयाकरण, साहित्यिक, वेदान्ती, मीमांसक, नैयायिक सभी ने आवाज उठायी, किन्तु अन्त में आचार्य मम्मट ने बड़ी प्रबल युक्तियों के माध्यम से उन सबका खण्डन करके ध्वनि सिद्धान्त की पुनः स्थापना की। अतः उनको ध्वनि प्रतिष्ठापक परमाचार्य कहा जाता है। ध्वनि की व्याख्या करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन लिखते हैं-

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

अर्थात जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने 'ध्वनि' कहा है।

संक्षेप में ध्वनि का अर्थ व्यंग्य है। ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा ध्वनिकार को व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त से मिली है। इसके लिए वे व्याकरणों के ऋण को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि- प्रथम सिद्धान्त वैयाकरण ही है क्योंकि व्याकरण समस्त विद्याओं का मूल है **'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणः, व्याकरणमूलतत्वात् सर्वविद्यानाम्।'** वे सुनाई देने वाले वर्ण को ध्वनि कहते हैं। उसी प्रकार उनके मतानुयायी अन्य विद्वानों ने भी वाच्य, वाचक, व्यंग्यार्थ, व्यंजना व्यापार और काव्य-पद व्यवहार्य को ध्वनि कहा है।

ध्वनिवादि आचार्यों ने काव्य के तीन भेद स्वीकारे हैं- उत्तम काव्य, मध्यम काव्य और अधम काव्य। उत्तम काव्य में व्यंग्य की प्रधानता होती है अर्थात उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहती है, उसी को ध्वनि कहा गया है। ध्वनि के तीन भेद होते हैं- रसध्वनि, अलंकारध्वनि

और वस्तुध्वनि। इनमें रसध्वनि को श्रेष्ठ माना गया है। मध्यम काव्य को गुणीभूतव्यंग्य भी कहते हैं। इस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व तो होता है, लेकिन वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय नहीं होता। अधम काव्य के अन्तर्गत चित्र आता है। इस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व नहीं होता और न तो अर्थगत चारूत्व होता है। ध्वनिकार ने अधम काव्य को स्वीकार करते हुए उसे काव्य की कोटि में स्थान दिया है।

1.4.6 औचित्य सिद्धान्त (औचित्य सम्प्रदाय)

ध्वनि सिद्धान्त के पश्चात औचित्य सिद्धान्त का स्थान आता है। औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र को माना जाता है। औचित्य सम्प्रदाय के आचार्य काव्य की आत्मा औचित्य को मानते हैं। जिस प्रकार मानव जीवन में औचित्य महत्वपूर्ण है उसी प्रकार काव्य के जीवन में औचित्य महत्वपूर्ण तत्व माना गया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि "काव्य में अलंकार और गुण आदि सभी व्यर्थ हैं यदि उसमें काव्य के जीवित औचित्य का निर्वाह नहीं हुआ हो।"

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्।। (औचित्य विचार चर्चा ५)

अर्थात उन्होंने स्पष्ट कहा हिया कि अलंकार अलंकार है, अर्थात बाह्य शोभादायक तत्त्व है, और गुण भी गुण ही है, परन्तु रससिद्धि काव्य का स्थिर जीवन या आत्मा तो औचित्य ही है।

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किलं यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते।। (औचित्य विचार चर्चा ७)

जहाँ पर औचित्य के अनुसार काव्य में कवि कार्य नहीं करता है, वहाँ काव्य उपहासास्पद हो जाता है। काव्य में रस, अलंकार, गुण, रीति आदि के द्वारा काव्यास्वाद और चमत्कार वहीं मिलता है, जहाँ इनका प्रयोग औचित्य पूर्ण होता है। रस आदि अनुचित प्रयोग काव्यास्वाद और काव्य सौन्दर्य का घातक होता है।

1.5 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई में आपने काव्य के सिद्धान्तों का अध्ययन किया। आपने संस्कृत काव्यशास्त्र के रस सिद्धान्त, अलंकार सिद्धान्त, रीति सिद्धान्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त, ध्वनि सिद्धान्त और औचित्य सिद्धान्त का भली-भांति अध्ययन किया। काव्य में दोष, अराजकता की उत्पत्ति न हो इसके लिए लक्षण ग्रन्थों के सिद्धान्तों की परम आवश्यकता होती है।

संस्कृत वांग्मय भारतीय समाज के उदात विचारों का दर्पण है। संस्कृत काव्य जीवन की प्रतिकूल प्रस्तिथियों में भी आनन्द की खोज में सदैव संलग्न रहा है। आनन्द को परमेश्वर का विशुद्ध पूर्णरूप कहा गया है **'रसौ वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'** अतएव संस्कृत काव्य **'रस'** है। रस का उन्मीलन श्रोता तथा पाठकों के हृदय में आनन्द का प्रकट होना ही काव्य का चरम लक्ष्य है। आचार्य भरत अनुसार- **दुखार्त्तन्यं श्रमार्त्तानां शोकर्तानां तपस्विनाम्। विश्रामजननं लोके**

नाट्यमेतद् भविष्यति।। दुखी और चिन्ताग्रस्त व्यक्तियों के मन को नाट्य विश्राम और शान्ति प्रदान करता है। आचार्य भामह के अनुसार-

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।

'काव्य' अध्ययन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति, समस्त कलाओं में निपुणता के साथ-साथ उत्तम काव्य से कीर्ति और प्रीति (आनन्द) की भी प्राप्ति होती है।

आचार्य मम्मट के अनुसार-

काव्यंयशसेऽर्थकृते व्यवहारविदेशिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

काव्य यश के लिए, अर्थ प्राप्ति के लिये, व्यवहार ज्ञान के लिए, अमंगल निवारण के लिए, अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए और स्त्री के समान मधुर उपदेश प्राप्ति के लिए प्रयोजनीय होते हैं। सत्काव्य के परिज्ञान से व्यवहार करने वाले लोगों को अपने-अपने व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है। काव्य सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति से भी अधिक आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न कराने में सहायक होता है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

- परिज्ञान - निपुणता, अन्तर्दृष्टि
- अलौकिक - अद्भुत, अपूर्व
- अराजकता - अनियन्त्रित
- विमर्श - विवेचन
- कान्ता - पत्नी
- सम्मित - तुल्य, समान
- विलक्षण - असामान्य, असाधारण
- प्रतिकूल - जो अनुकूल न हो
- उन्मीलन - खिलाना
- मतानुयायी - विशिष्ट मतों का पालन करने वाले
- उपकरण - यन्त्र
- विनोद - मनोरंजन

अभ्यास प्रश्न-

१. 'रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' किन आचार्य का मत है?
२. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' किन आचार्य का मत है?
३. 'आदिकाव्य' किसे माना जाता है?
४. आचार्य राजशेखर ने शब्द और अर्थ को काव्य का क्या माना है?

५. 'रस सिद्धान्त' के प्रवर्तक किन्हें माना जाता है?
६. 'रीति सिद्धान्त' के प्रवर्तक किन्हें माना जाता है?
७. 'ध्वनि सिद्धान्त' के प्रवर्तक किन्हें माना जाता है?
८. 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह रस सिद्धान्त किन आचार्य का है?
९. श्रृंगार रस का स्थायी भाव क्या है?
१०. रौद्र रस का स्थायी भाव क्या है?
११. शान्त रस का स्थायी भाव क्या है?
१२. 'औचित्य' को काव्य की आत्मा किन आचार्य ने माना है?
१३. 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा किन आचार्य ने माना है?
१४. 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा' यह काव्य लक्षण किन आचार्य का है?
१५. वात्सल्य रस के देवता किन्हें माना जाता है?

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. आचार्य जगन्नाथ
२. आचार्य विश्वनाथ
३. रामायण को
४. काव्य का शरीर
५. भरतमुनि
६. आचार्य वामन
७. आचार्य आनन्दवर्धन
८. आचार्य भरतमुनि
९. रति
१०. क्रोद्ध
११. निर्वेद
१२. आचार्य क्षेमेन्द्र
१३. आचार्य कुन्तक
१४. आचार्य भामह
१५. वासुदेव को

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, लेखक डॉ उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', प्रकाशक- चौखम्बा भारती अकादमी वाराणसी (पृष्ठ संख्या- १४४, १९३ इत्यादि)
२. ध्वन्यालोकः (श्री आनन्दवर्धनाचार्य-विरचित ध्वन्यालोक की हिंदी व्याख्या), व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, सम्पादक डॉ नगेन्द्र, प्रकाशक- ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

३. भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धान्त (आलोचनात्मक अध्ययन) लेखक डॉ राजकिशोर सिंह, प्रकाशन केंद्र, रेलवे क्रोसिंग, सीतापुर रोड़, लखनऊ-२२६००७ (पृष्ठ संख्या- १०९, ११०, १४०, १४१, १५५, १५६, १७३, १८३, १८४, २३३, २४९, २५०)
४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, लेखक महामहोपाध्याय पी० वी काणे, अनुवादक डॉ इंद्रचंद्र शास्त्री, प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली ११०००७
५. संस्कृत वांग्मय का बृहद इतिहास (तृतीय खण्ड), प्रधान सम्पादक पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, सम्पादक प्रो० भोलाशंकर व्यास, प्रकाशक- उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ
६. संस्कृत वांग्मय का बृहद इतिहास, (चतुर्थ खण्ड) प्रधान सम्पादक पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, सम्पादक प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रकाशक- उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ
७. संस्कृत साहित्य का इतिहास, लेखक आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक- शारदा निकेतन ५ बी, कस्तूरबा नगर, सिगरा वाराणसी-२२१०१०
८. काव्यमीमांसा, लेखक कविराजश्रीराजशेखर, व्याख्याकार पं श्रीकृष्णमणित्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
९. अग्निपुराण, लेखक महर्षि व्यास, प्रकाशक- गीताप्रेस गोरखपुर
१०. साहित्यदर्पण, लेखक आचार्य विश्वनाथ
११. वक्रोक्तिजीवितम्, आचार्य कुन्तक
१२. ध्वन्यालोक, आचार्य आनन्दवर्धन
१३. काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट, व्यख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

१. काव्य का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए?
२. महाकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालिए?
३. काव्य सिद्धान्त की विवेचना कीजिये?
४. काव्य का ध्यये स्पष्ट कीजिये?

इकाई- 2 विद्या के रूप में काव्य

इकाई कि संरचना

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 विद्या का अर्थ एवं स्वरूप
2.4 विद्या की उपयोगिता
2.5 विद्या के रूप में काव्य
  2.5.1 आचार्य राजशेखर का मत
  2.5.2 काव्यविद्या का प्रयोजन एवं उद्देश्य
2.6 काव्य विद्या की विधाएँ
  2.6.1 काव्य के भेद
  2.6.2 संस्कृत महाकाव्य
  2.6.3 आदिकाव्य रामायण एवं महाभारत
  2.6.4 संस्कृत गीतिकाव्य
  2.6.5 संस्कृत गद्य एवं चम्पूकाव्य
  2.6.6 नाटक
2.7 सारांश
2.8 पारिभाषिक शब्दावली
2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों!

प्रस्तुत इकाई **'विद्या के रूप में काव्य'** से सम्बन्धित है। प्रायः सभी जानते हैं कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान परम्परा का मूल 'वेद' है। ज्ञानार्थ 'विद्' धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' ही है। **'विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः'** अर्थात जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाये वही 'वेद' है। मनु के अनुसार वेद सभी ज्ञानों के अक्षय कोष हैं **'सर्वज्ञानमयो हि सः।'** (मनुस्मृति २/७) वेदों कि संख्या चार है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेद को चार भागों में वर्गीकृत किया गया है- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद। उपनिषदों में कई विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

मुण्डकोपनिषद में विद्या को दो भागों में विभक्त किया गया है। **पराविद्या** एवं **अपराविद्या**। पराविद्या वह विद्या है, जिस विद्या द्वारा परब्रह्म अविनाशी परमात्मा का तत्वज्ञान होता है, वह 'परा' विद्या है। भारतीय संस्कृति में परा विद्या से तात्पर्य स्वयं को जानने या परम सत्य को जानने से है। चार वेद एवं छ: वेदांग इन दस विद्याओं का नाम अपरा विद्या है। अपरा विद्याओं में ही चतुर्दश विद्याओं का समाहार हो जाता है। चरों वेदों के सहित संस्कृत साहित्य के आकार के रूप में चतुर्दश विद्याओं के रूप में परिगणित हैं। चतुर्दश विद्याओं का उल्लेख पुराणों, उपनिषदों, धर्मशास्त्रों में प्राप्त होता है।

आचार्य राजशेखर ने सम्पूर्ण वांग्मय को काव्य एवं शास्त्र दो प्रकार का माना है। इनके अनुसार शास्त्र के अध्ययन के पश्चात ही काव्य विद्या में प्रवेश करना उचित है। काव्य के लिए शास्त्र दीपक के समान उपयोगी सिद्ध होता है। शास्त्र का वर्गीकरण दो भागों में किया गया है अपौरूषेय तथा पौरुषेय। अपौरुषेय शास्त्र में मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का समावेश है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद त्रयी कहलाते हैं। अथर्वेद को चतुर्थ वेद कहा जाता है। छन्दोबद्ध मन्त्र ऋचा है। गायन युक्त होने पर वे ही मन्त्र साम कहलाते हैं। छन्द रहित मन्त्र यजुष हैं। और तीनों का मिश्रण ही अथर्व है। इसी प्रकार चार उपवेद भी हैं। छ: वेदांगों कि संख्या हैं, किन्तु राजशेखर के मत में अलंकार शास्त्र भी वेद का सप्तम अंग है।

पौरुषेय शास्त्रों में पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृति और तंत्र का परिगणन किया जाता है। पुराण अट्ठारह हैं। इतिहास पुराण का ही अंग है। स्मृतियों कि संख्या अट्ठारह है। इस प्रकार चार वेद, छ: वेदांग, और चार शास्त्र ये ही १४ विद्याएँ हैं। लेकिन राजशेखर काव्य को पन्द्रहवीं विद्या मानते हैं। आपको काव्यविद्या से अवगत करवाना प्रस्तुत इकाई का ध्येय है।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- विद्या के अर्थ एवं स्वरूप को जानेंगे।
- विद्या की उपयोगिता को समझेंगे।
- विद्या के रूप में काव्य की क्या भूमिका है, यह जानेंगे।
- काव्यविद्या की विधाओं को जानेंगे।
- काव्यविद्या के प्रति रूचि उत्पन्न होगी।

2.3 विद्या का अर्थ एवं स्वरूप

प्राचीनकाल से ही समस्त भारतीय विद्याओं का उद्देश्य अज्ञानता की निवृति एवं चरम लक्ष्य की प्राप्ति रहा है। विद्या शब्द की व्युत्पत्ति 'विद्' धातु से क्यप् व स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय करने से हुई है। जिसका का अर्थ है ज्ञान, शिक्षा, विज्ञान इत्यादि। जिसके द्वारा अज्ञानरूपी बन्धन से मुक्ति प्राप्त हो सके। उपनिषदों में कहा गया है **'सा विद्या या विमुक्तये'** अर्थात वही वास्तविक विद्या है जो मुक्ति दिलाने में सहायक हो। उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि जिससे अमरता की प्राप्ति हो, उसको 'विद्या' कहते हैं **'विद्ययाऽमृतमश्नुते।'** अतएव विद्वानों ने मुक्ति का एक मात्र साधना 'विद्या' को माना है। जिसे मनीषी ब्रह्मसाक्षात्कार, निर्वाण इत्यादि शब्दों से निर्दिष्ट करते हैं। ज्ञान के बिना मुक्ति कथमपि सम्भव नही है। **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'** अतः 'विद्या' का निरन्तर अन्वेषण ऋषि-मुनियों द्वारा प्राचीनकाल से ही किया गया है।

जैसा कि प्रायः सभी जानते हैं कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान परम्परा का मूल 'वेद' है। ज्ञानार्थ 'विद्' धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' ही है। **'विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः'** अर्थात जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाये वही 'वेद' है। मनु के अनुसार वेद सभी ज्ञानों के अक्षय कोष हैं **'सर्वज्ञानमयो हि सः।'** (मनुस्मृति २/७)

वेदों कि संख्या चार है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेद को चार भागों में वर्गीकृत किया गया है- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद। उपनिषदों में कई विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा- मुण्डकोपनिषद में विद्या को दो भागों में विभक्त किया गया है। **पराविद्या** एवं **अपराविद्या। 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।** (मुण्डकोपनिषद् १/१/४) **'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षिरमाधिगम्यते।।'** (मुण्डकोपनिषद् १/१/५) पराविद्या वह विद्या है जिस विद्या द्वारा परब्रह्म अविनाशी परमात्मा का तत्वज्ञान होता है, वह 'परा' विद्या है। भारतीय संस्कृति में परा विद्या से तात्पर्य स्वयं को जानने या परम सत्य को जानने से है। चार वेद एवं छ: वेदांग इन दस विद्याओं का नाम अपरा विद्या है। अपरा विद्याओं में ही चतुर्दश विद्याओं का समाहार हो जाता है। चरों वेदों के सहित संस्कृत साहित्य के आकार के रूप में चतुर्दश विद्याओं के रूप में परिगणित हैं। चतुर्दश विद्याओं का उल्लेख पुराणों, उपनिषदों, धर्मशास्त्रों में प्राप्त होता है।

छान्दोग्योपनिषद में सनत्कुमार ने नारद को जो उपदेश दिये उस उपदेश में कई विद्याओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है। वे विद्याएँ इस प्रकार से हैं-

'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं बाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।' (छान्दोग्योपनिषद् ७/१/२) अर्थात ऋग्वेद, यजुर्वेद, , सामवेद और चौथा अथर्ववेद, इतिहास-पुराण पाँचवाँ वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजनविद्या, नृत्य-संगीत आदि कला-शिल्पविद्या का उल्लेख प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में चौदह विद्याओं का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। वे इस प्रकार से हैं-

पुराण्यायमीमांसाधर्मशास्त्रङ्गमिश्रितः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।। (याज्ञवल्क्य स्मृति १/३)

अर्थात्- पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और छः वेदाङ्ग के साथ चारों वेद, विद्याओं तथा धर्म के चौदह स्थान हैं। चार वेद- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। छः वेदांग- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। चार उपांग- पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। ये चौदह विद्याएँ हैं। इसके अतरिक्त उपपुराण भी हैं उनका समायोजन पुराणों के अन्तर्गत है। ठीक इसी प्रकार वैशेषिक शास्त्र न्याय में, वेदान्तशास्त्र का मीमांसा में, महाभारत, रामायण, सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णव आदि शास्त्रों का धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव होता है। चार उपवेदों के सहित यही विद्याएँ अट्ठारह भी मानी जाती है। उपवेद हैं- आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अथर्ववेद।

अग्निपुराण महापुराण है। इसमें समस्त विद्याओं का विषय वर्णित है। **'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्या प्रदर्शिताः।'** (अग्निपुराण ३८३/५२) इसमें 'पराविद्या एवं 'अपराविद्या' इन दोनों विद्याओं का प्रतिपादन किया गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नामक वेद विद्या, विष्णु महिमा, संसार सृष्टि, छन्द, शिक्षा, व्याकरण, निघन्टु (कोष), ज्योतिष, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि, मीमांसा, विस्तृत न्यायशास्त्र, आयुर्वेद, पुराणविद्या, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अर्थशास्त्र, वेदान्त और महान (परमेश्वर) श्रीहरि यह सब 'अपराविद्या' के अन्तर्गत आते हैं। तथा परम अक्षर 'पराविद्या' है। विष्णु पुराण में भी मुख्य रूप से चौदह विद्याएँ वर्णित हैं। वे इस प्रकार से हैं-

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणां धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।। (विष्णु पुराण ३/१३/२८)
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः।। (विष्णु पुराण ३/१३/२९)

अर्थात छः वेदांग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र ये चौदह विद्याएँ हैं। इन्हीं में आयुर्वेद, धनुर्वेद और गान्धर्ववेद इन तीनों को तथा चौथे अर्थशास्त्र को समाहित कर लेने से कुल अट्ठारह विद्याएँ हो जाती हैं।

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चार विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है। **आन्वीक्षकी**, **त्रयी**, **वार्ता** और **दण्डनीति** ये चार विद्यायें हैं। मनु सम्प्रदाय के अनुयायी आचार्यों ने त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, इन तीन विद्याओं को मानते हैं। बृहस्पति के अनुयायी केवल दो ही विद्यायें मानते हैं- वार्ता और दण्ड नीति। उनके मतानुसार त्रयी तो दुनियादारी (लोकयात्राविद)लोगों की आजीविका का साधन है। शुक्राचार्य के अनुयायी तो केवल दण्डनीति को ही मानते हैं। किन्तु आचार्य कौटिल्य ने चारों विद्याओं को माना है। **'आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या'** (कौटिलीय अर्थशास्त्र अ० १/१)

आन्वीक्षकी- यह विद्या सर्वदा ही सब विद्याओं को प्रदीप, सभी कार्यों का साधन और सब धर्मों का आश्रय मानी गयी है।

त्रयी- सामवेद, ऋग्वेद तथा यजुर्वेद इन तीनों का समन्वित नाम ही त्रयी विद्या है। यह विद्या धर्म, चारों वर्णों और चारों आश्रमों को अपने-अपने धर्म में स्थिर रखने के कारण लोक में उपकारक है।

वार्ता- कृषि पशुपालन और व्यापार, ये वार्ताविद्या के विषय हैं। यह विद्या, धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थ और नौकर-चाकर आदि प्रदान की उपकारिणी विद्या है।

दण्डनीति-आन्वीक्षकी, त्रयी और वार्ता इन सभी विद्याओं की सुख-समृद्धि दण्ड पर निर्भर है। दण्ड (शासन) को प्रतिपादित करने वाली नीति ही दण्डनीति कहलाती है।

2.4 विद्या की उपयोगिता

विद्या से तात्पर्य ज्ञान या शिक्षा से है। मानव जीवन कि सबसे महत्वपूर्ण सम्पत्ति विद्या (ज्ञान) को कहा जाता है। विद्या व्यक्ति के जीवन को प्रकाशमय बनाने में सहायक सिद्ध होती है। विद्या व्यक्ति के भीतर सोचने समझने कि क्षमता विकसित करती है। विद्या व्यक्ति के आचरण, विचार और व्यवहार को संवारती है। विद्या के द्वारा व्यक्ति आत्मनिर्भर और विवेकशील बनता है।

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्।। (हितोपदेश-६)

विद्या से मनुष्य में विनम्रता आती है, विनम्रता से योग्यता आती है, योग्यता से धन की प्राप्ति होती है, धन के द्वारा वह धर्म-कर्म करता है, और धर्म-कर्म से मनुष्य को सुख की प्राप्ति होती है। विद्या के द्वारा व्यक्ति को रोजगार की भी प्राप्ति होती है, जिससे वह धनार्जन करके अपने जीवन का निर्वाह करता है। अतः विद्याध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है।

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाद्रियते सदा।। (हितोपदेश-७)

शस्त्रविद्या एवं शास्त्रविद्या दोनों का आदर करना चाहिए। परन्तु शस्त्रविद्या बुढापे में 'पुरुषार्थ' न होने से काम नही आती, बल्कि उपहास कराती है। लेकिन शास्त्रविद्या सर्वदा (सब काल में) आदर प्रदान कराती है। विद्या सब काल में व्यक्ति को समाज में सम्मान प्राप्त करवाती है। विद्वान पुरुष को समाज आदर और सम्मान कि दृष्टि से देखता है।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभा मध्ये हंसमध्ये बको यथा।। (हितोपदेश-३८)

जो माता-पिता अपनी सन्तान को उचित शिक्षा प्रदान नही करवाते वे अपनी सन्तान की वैरी (शत्रु) हैं। क्योंकि वह सन्तान विद्वानों की सभा में अज्ञानता के कारण उपहास का पात्र बनेगी। जैसे हंसों के मध्य बगुला शोभा प्राप्त नही करता। अतः माता-पिता का कर्तव्य है कि वह समय रहते अपनी सन्तान को उचित शिक्षा प्रदान करायें, क्योंकि विद्या से विहीन मनुष्य के जीवन को शास्त्रों में पशुतुल्य बताया गया है।

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।। (नीतिशतकम-१३)

जिन मनुष्यों के पास विद्या नही है, तप जीवन में नही है, दान देने की इच्छा नही है, न ज्ञान प्राप्त करने कि अभिलाषा है, न ही उनके जीवन में सदाचार है और न ही धर्म है, इस प्रकार के मनुष्य पृथ्वी पर भारभूत मात्र हैं और मनुष्य के रूप में वे पशु के समान व्यर्थ विचरण कर रहे हैं। शास्त्रों में मनुष्य के जीवन में सदाचार को बहुत महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। सदाचार से रहित व्यक्ति की निन्दा कि गयी है।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी, विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने, विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं, विद्याविहीनः पशुः।। (नीतिशतकम्-२०)

मनुष्य का विद्या नामक एक महनीय रूपा है और यह अतिगूढ आन्तरिक ज्ञान रूपी धन है। विद्या राज्य-यश आदि भोगों को प्रदान करने वाली है तथा यश और सुख को उत्पन्न करने वाली है। विद्या गुरुओं की भी गुरु है। विदेश आदि जाने में यह मनुष्य कि बन्धु है। विद्या परमात्मभूत है। विद्या ही राज्य में पूजित होती है, धन नही होता। विद्या से विहीन मनुष्य पशुवत् है।

भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान का मूल आधार 'आचार' है। आचार के आधार पर ही हिन्दू समाज का निर्माण हुआ था। आचार को परम धर्म और धर्म की आधारशिला भी कहा जाता है।

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति।। (वसिष्ठधर्मसूत्र ६/१)

आचारहीन व्यक्ति के लिए संसार में कोई सुख नहीं है और परलोक में भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। कोई व्यक्ति यदि वेद और शास्त्रों के ज्ञान में भले ही पारंगत हो यदि वह आचार से भ्रष्ट है तो समस्त धर्मज्ञान उसे कोई लाभ नहीं पहुँचाते और न ही उसे आनन्द की प्राप्ति होगी।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्।। (मनुस्मृति १/१०९)

यदि कोई सदाचार से रहित है तो वह वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त पुण्य-फल को प्राप्त नहीं कर पाता। जो सदाचार से युक्त है अर्थात जो सदाचारी व्यक्तित्व वाला है वह सम्पूर्ण पुण्य-फल प्राप्त करता है।

वेदः स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच् चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।। (मनुस्मृति २/१२)

मनु ने धर्म के चार लक्षणों में सदाचार को गृहण किया है। सम्पूर्ण ज्ञान का उपयोग है उस ज्ञान को सदाचार में परिणत करना।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।। (मनुस्मृति १/११०)

धर्माचरण से ही धर्म की प्राप्ति, सिद्धि एवं अभिवृद्धि को देखकर मुनियों ने सब तपस्याओं का श्रेष्ठ मूल आधार श्रेष्ठाचरण को ही स्वीकार किया है। हमारे धर्मशास्त्रों में व्यक्ति को पर्याप्त महत्व मिला है। लेकिन इस महत्व की शर्त है कि वह आचार और धर्म का यथावत पालन करना।

धर्म व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए आवश्यक है। यह सही और गलत के बीच अन्तर स्पष्ट करता है। दूसरों के साथ सद्भाव से रहने की प्रेरणा देता है। पशु और मनुष्य में कई गुण समान होते हैं, लेकिन मनुष्य में एक धर्म ही विशिष्ट गुण है, जो पशु और मनुष्य में अन्तर स्पष्ट करता है। आचार्य कहते हैं-

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषांधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।। (हितोपदेश-२५)

अर्थात आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से होते हैं। मनुष्यों में केवल 'धर्म' की ही प्रधानता होती है। धर्म से हीन मनुष्य को पशु के समान माना गया है। **'एको धर्मः श्रेयः'** (विदुरनीति श्लोक- ५७) केवल एक धर्म ही मनुष्य के लिए परम कल्याणप्रद है। आचार्य चाणक्य का कथन है कि **'वित्तेन रक्ष्यते धर्मो'** (चाणक्य नीति ५/९) तात्पर्य यह है कि धन से धर्म की रक्षा की जाती है, अर्थात धर्म की रक्षा हेतु अर्थ भी आवश्यक है। आचार्य चाणक्य ने दया से रहित धर्म की उपेक्षा की है। उनका कथन है कि **'त्यजेध्दर्मं दयाहीनं'** अर्थात मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसे धर्म का त्याग कर दे जिसमें दया और ममता आदि का अभाव हो। धर्म मनुष्य के जीवन को नैतिकदिशा प्रदान करता है। देखा गया है कि मनुष्य के जीवन में सुख-दुख सफलता-विफलता का क्रम चलता रहता है, ऐसे समय में धर्म उसे धैर्य रखने का सामर्थ्य और मानसिक शान्ति प्रदान करता है। धर्म मनुष्य के व्यक्तित्व और चरित्र को भी उत्कृष्ट बनाता है। धर्म मनुष्य को समाज में अन्य लोगों के प्रति परस्पर प्रेम से जीवन यापन करने के लिए भी प्रेरित करता है। धर्म जीवन को नैतिकदिशा प्रदान करता है, साथ ही समाज में सन्तुलन बनाने में सहायक होता है। धर्म से आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त होती है। समाज में सभी को नैतिक कर्तव्य की भावना से जागरूक करवाता है।

किसी भी वस्तु की सिद्धि के लिए लक्षण और प्रमाण इन दोनों की आवश्यकता होती है। प्रमाण प्रमाता में रहकर वस्तु की पहचान कराता है और लक्षण वस्तु में रहकर दूसरों से उसे पृथक दिखाता है। धर्माचार्य मनु ने जीवन में दस पदार्थों के धारण करने को 'धर्म' कहा है। वे हैं-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। (मनुस्मृति ६/९२)

१. **धृति**- धनादि का नाश होने पर चित्त में धैर्य बना रहना। अपने धर्म से विमुख न होना।
२. **क्षमा-** दूसरे के अपराधों को क्षमा करना। किसी के अपकार करने पर बदला न लेना।
३. **दम-** मन को मनमानी न करने देना।
४. **अस्तेय-** दूसरों की वस्तु में स्पृहा न होना। अन्याय से परधनादि गृहण न करना।
५. **शौच-** आहारादि की पवित्रता, शरीर को शुद्ध रखना, शास्त्र आदि रीति से शरीर को शुद्ध रखना बाहाभ्यन्तर की पवित्रता।
६. **इन्द्रिय निग्रह-** इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त न करना। जितेन्द्रिय होना।
७. **धी-**भली-भाँति समझना। प्रतिपक्ष संशय को दूर करना। आत्मोपासना। शास्त्र के तात्पर्य को समझना।
८. **विद्या-** आत्मानात्मविषयक विचार। बहुश्रुत होना। आत्मोपासना।
९. **सत्य-** मिथ्या और अहितकारी वचन न बोलना। सत्य बोलना।
१०. **अक्रोध-** दैववश क्रोध उपन्न होने पर उसको रोकने का प्रयत्न करना। क्रोध के होने पर भी क्रोधित न होना।

याज्ञवल्क्य जी के मतानुसार यज्ञ, सदाचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि देश कालसापेक्ष 'धर्म' हैं। और योग द्वारा आत्मदर्शन 'परम धर्म' है। धर्म एवं विद्या भारतीय भारतीय संस्कृति के दो सबसे महत्वपूर्ण स्तम्भ हैं। धर्म हमें जीवन में सही मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता

है, और विद्या उसे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में कैसे लायें यह सिखाती है। जिसके द्वारा समाज नैतिक रूप से पुष्ट और ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होता है।

2.5 विद्या के रूप में काव्य

आचार्य बलदेव उपाध्याय जी का कथन है- "भारतवर्ष का यह सुन्दर देश सदा से प्रकृति-नटी का रमणीय रंगस्थल बना हुआ है। पृकृति-देवी ने अपने कर-कमलों से सजाकर इसे शोभा का आगार तथा सुषमा का निकेतन बनाया है। इसका बाह्यरूप जितना अभिराम है। आन्तर रूप उतना ही आभामय है"। अत्यन्त प्राचीनकाल में प्रथम-प्रथम कोमल कविता का उद्गम इसी भारतवर्ष पर सम्पन्न हुआ। यह देश साहित्यशास्त्र की उद्गम भूमि है। संस्कृत वांग्मय में महर्षि वाल्मीकि कृत 'रामायण' आदिकाव्य माना जाता है और महर्षि वाल्मीकि जी आदि कवि के रूप में समादृत हैं। वास्तव में 'रामायण' एक महान कवि की महती कृति है, इस काव्य में एक ओर इसके रचयिता की विलक्षण काव्य-प्रतिभा का समावेश है और दूसरी ओर जिस देश में इस काव्य की रचना हुई वहाँ के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आध्यात्मिक और आदर्श जीवन की समग्रताओं का समवेत समन्वय है। प्रायः सभी जानते हैं कि आदिकाव्य रामायण और महर्षि व्यास कृत महाभारत परवर्ती महाकवियों और नाटककारों के महाकाव्यों और नाटकों के उपजीव्य रहे हैं।

'काव्य' शब्द का अर्थ, कवि की कृति होता है। अर्थात कवि जो कार्य करता है, उसे 'काव्य' कहा जाता है। सर्वप्रथम 'काव्यलक्षण' अग्निपुराण में प्राप्त होता है। वहाँ उल्लिखित है- **'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली काव्यम्।'** अर्थात संक्षेप से जो वाक्य होता है उसका नाम काव्य है, और संक्षेप से वाक्य का अर्थ है कि जिस अर्थ को कहना चहाते हैं वह जितने से कहा जा सकता है उससे न अधिक न कम, इस तरह की पदावली काव्य है। भामह के अनुसार काव्य का लक्षण है- **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।'** (१.१६) यह काव्य का लक्षण जितना प्राचीन है उतना ही संक्षिप्त है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना है। वह काव्य दो प्रकार का है गद्य काव्य और पद्य काव्य। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य का लक्षण निरुपित करते हुए कहा है- **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'।** आर्थात रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द काव्य है। आचार्य विश्वनाथ प्रणीत काव्य का लक्षण है **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।** अर्थात रसात्मक वाक्य काव्य है।

संस्कृत वांग्मय भारतीय समाज के उदात विचारों का दर्पण है। संस्कृत काव्य जीवन की प्रतिकूल प्रस्तिथियों में भी आनन्द की खोज में सदैव संलग्न रहा है। आनन्द को परमेश्वर का विशुद्ध पूर्णरूप कहा गया है **'रसौ वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'** अतएव संस्कृत काव्य **'रस'** है। रस का उन्मीलन श्रोता तथा पाठकों के हृदय में आनन्द का प्रकट होना ही काव्य का चरम लक्ष्य है।

कवि का अर्थ है किसी विषय को कहने वाला अथवा प्रतिपादन करने वाला होता है और कोषकार उसे पंडित कहते हैं- **'संख्यावान् पण्डितः कविः।'** अर्थात किसी विषय का प्रतिपादन करने वाला 'विद्वान'। ध्वन्यालोक लोचन में अभिनव गुप्त कहते हैं- **'कवयति इति कविः तस्य कर्म काव्यम्'।** अर्थात जो काव्य रचना करता है वह कवि है और उसका कर्म काव्य रचना है। ध्वन्यालोक में वर्णित है-

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते।।

अर्थात काव्यरूपी जो अनंत जगत है उसमें कवि ही प्रजापति है। उस जगत का सृष्टिकर्ता वही है, अतः उसे जिस तरह का संसार सही लगे, इस जगत को उसी प्रकार बदल जाना पड़ता है। अग्निपुराण में बहुत ही सुन्दर उक्ति वर्णित है-

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।। (अग्निपुराण ३३७/३-४)

अर्थात पृथ्वी पर मनुष्य जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है। उसमें भी विद्या प्राप्त होना दुर्लभ है। संसार में कवि होना और भी दुर्लभ है। कवि हो भी गये तो प्रसिद्धि पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

2.5.1 आचार्य राजशेखर का मत-

आचार्य राजशेखर ने सम्पूर्ण वांग्मय को काव्य एवं शास्त्र दो प्रकार का माना है। इनके अनुसार शास्त्र के अध्ययन के पश्चात ही काव्य विद्या में प्रवेश करना उचित है। काव्य के लिए शास्त्र दीपक के समान उपयोगी सिद्ध होता है। शास्त्र का वर्गीकरण दो भागों में किया गया है अपौरूषेय तथा पौरुषेय।

अपौरुषेय शास्त्र में मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का समावेश है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद त्रयी कहलाते हैं। अथर्वेद को चतुर्थ वेद कहा जाता है। छन्दोबद्ध मन्त्र ऋचा है। गायन युक्त होने पर वे ही मन्त्र साम कहलाते हैं। छन्द रहित मन्त्र यजुष हैं।ओए तीनों का मिश्रण ही अथर्व है। इसी प्रकार चार उपवेद भी हैं। छ: वेदांगों कि संख्या हैं, किन्तु राजशेखर के मत में अलंकार शास्त्र भी वेद का सप्तम अंग है।

पौरुषेय शास्त्रों में पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृति और तंत्र का परिगणन किया जाता है। पुराण अट्ठारह हैं। इतिहास पुराण का ही अंग है। स्मृतियों कि संख्या अट्ठारह है। इस प्रकार चार वेद, छ: वेदांग, और चार शास्त्र ये ही १४ विद्याएँ हैं। लेकिन राजशेखर काव्य को पन्द्रहवीं विद्या मानते हैं।

राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में काव्य पुरुष का निरूपण करते हुए कहा है- **'शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्, समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणिछन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च मलंकुर्वन्ति।'** अर्थात शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, संस्कृत मुख है,प्राकृत बाहु है, अपभ्रंश जंघा है, पैशाची (भाषा) पैर है तथा मिश्रित भाषा हृदय वक्ष:स्थल है। समता, प्रसन्नता, माधुर्य, औदार्य और तेज काव्य पुरुष के गुण हैं। वाणी उत्कृष्ट है। रस काव्य कि आत्मा है। छन्द रोयें हैं। प्रश्नोत्तर रूप काव्य तथा प्रहेलिका आदि वाग्विनोद हैं। अनुप्रास एवं उपमा आदि अलंकार काव्य को अलंकृत करते हैं।

2.5.2 काव्यविद्या का प्रयोजन एवं उद्देश्य-

काव्य का प्रयोजन और उद्देश्य सौन्दर्य प्रदान करना है। संस्कृत के आचार्यों ने आरम्भ से ही इस प्रयोजन को स्वीकार किया है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में इसके अतरिक्त भी अनेक काव्य प्रयोजनों का निरूपण किया गया है। जैसे पाठक के लिए- (१) आनन्द, शान्ति, (२) धर्म, निति और

अध्यात्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त होना, (३) कला और व्यवहार-ज्ञान में कुशलता। कवि के लिए जैसे- काव्य यश कि प्राप्ति और धनादि भी प्राप्त करवाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार- **दुखार्त्तन्यं श्रमार्त्तानां शोकर्तानां तपस्विनाम्। विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।।** (ना०शा० १/१११/१२) दुखी और चिन्ताग्रस्त व्यक्तियों के मन को नाट्य विश्राम और शान्ति प्रदान करता है। भामह के अनुसार-

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।

काव्य अध्ययन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति, समस्त कलाओं में निपुणता के साथ-साथ उत्तम काव्य से कीर्ति और प्रीति (आनन्द) की भी प्राप्ति होती है।

आचार्य मम्मट के अनुसार-

काव्यंयशसेऽर्थकृते व्यवहारविदेशिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। (का०प्र० १.२)

काव्य यश के लिए, अर्थ प्राप्ति के लिये, व्यवहार ज्ञान के लिए, अमंगल निवारण के लिए, अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए और स्त्री के समान मधुर उपदेश प्राप्ति के लिए प्रयोजनीय होते हैं। मम्मट के अनुसार काव्य के मूलतः छः प्रयोजन हैं।

१. यश प्राप्ति
२. अर्थ प्राप्ति
३. लोक व्यवहार का ज्ञान
४. अनिष्ट का निवारण या लोक मंगल
५. आत्मशान्ति या आनन्दोपलब्धि
६. कान्तासम्मित उपदेश

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिकाव्यजीवित' में काव्य का प्रयोजन अधिक स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं-

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।३।।
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्य व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।४।।चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।५।।

अर्थात् काव्य रचना राजकुमार आदि के लिए सुन्दर एवं ढंग से कहा गया धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति का सरल मार्ग है। सत्काव्य के परिज्ञान से व्यवहार करने वाले लोगों को अपने-अपने व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है। काव्य सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति से भी अधिक आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न कराने में सहायक होता है।

2.6 काव्य विद्या की विधाएँ

2.6.1 काव्य के भेद-

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज जिस प्रकार का होगा वह उसी भांति साहित्य में प्रतिबिम्बित रहता है। संस्कृत साहित्य भारतीय समाज के भव्य विचारों का रुचिर दर्पण है। भारतवर्ष में सांसारिक जीवन के उपकरणों का सौलभ्य होने के कारण भारतीय समाज जीवन संग्राम के विकट संघर्ष से अपने को अलग रखकर आनन्द की अनुभूति को अपना लक्ष्य मानता है। अतः संस्कृत काव्य जीवन की विषम परिस्थितियों के भीतर से आनन्द कि खोज में सदा संलग्न रहा है। संस्कृत का कवि अपनी कविता को कलात्मक वस्तु के समान सजाने तथा भूषित करने का अश्रान्त प्रयास करता है। संस्कृत के कवि सौन्दर्य तथा माधुर्य के उपासक होते हैं। उनका हृदय सौम्य भाव में विशेष रमता है। संस्कृत साहित्य में काव्य विधा को मुख्य रूप से दो भागों में वर्गीकृत किया गया है, जो कि इस प्रकार से हैं-**श्रव्यकाव्य** और **दृश्यकाव्य**। श्रव्य काव्य वह है जो सुनने या पढ़ने के लिए होता है, जैसे कि महाकाव्य, खण्डकाव्य, और गीतिकाव्य। दृश्य काव्य वह है जो नाटक अथवा अभिनय के माध्यम से होता है।

2.6.2 संस्कृत महाकाव्य-

आचार्यों के मतानुसार महाकाव्य की रचना 'सर्गों' में की जाती है **'सर्गबन्धो महाकाव्यम्'।** महाकाव्य में एक ही नायक होता है, जो देवता होता है या धीर उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है **'तत्रैको नायकः सुरः।'** महाकाव्य में श्रृंगार, वीर, या शान्त रस में से किसी एक रस की प्रधानता होति है। साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ जी लिखते हैं-

श्रङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गीरस ईष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः।।

वीर, श्रृंगार अथवा शान्त रस , इनमें से कोई एक रस मुख्य (अंगी) होता है। अन्य रस गौण रूप से रखे जाते हैं। महाकाव्य का कथानक इतिहास में प्रसिद्ध होता है या किसी सज्जन का चरित वर्णन किया जाता है। अश्वघोष ने अपने महाकाव्यों को बुद्ध तथा परिवार से सम्बद्ध घटनाओं के आधार पर लिखा। कालिदास का 'रघुवंश' रामायण या पुराणों की कथाओं पर आश्रित है, 'कुमारसम्भव' शिव-पार्वती के विवाह कि प्रसिद्ध कथा पर आश्रित है। किरातार्जुनीयम्, नैषधीयचरितम् और शिशुपालवधम् आदि तीनों बृहत्त्रयी महाकाव्य महाभारत कि घटनाओं पर आश्रित हैं। आधुनिक युग के महाकव्य भी इस नियम पर चलते हैं। आचार्य विश्वनाथ का कथन है- **'इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद् वा सज्जनाश्रयम्।'** कथानक पाँच सन्धियों से युक्त होना चाहिए। सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है, परन्तु सर्ग की समाप्ति में वृत्त बदल दिया जाता है। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिए और न ही बहुत छोटे। प्रतिसर्ग के अंत में आगामी कथानक की सूचना होनी चाहिए। वृत्त को अलंकृत करने के लिए संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्री, प्रदोष, अन्धकार, वन, ऋतू, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अवश्य किया जाता है।

2.6.3 आदिकाव्य रामायण एवं महाभारत

रामायण तथा महाभारत में भारतीय सभ्यता का भव्य रूप जिस प्रकार प्रस्फुटित होता है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नही होता। आदिकाव्य रामायण और महाभारत परवर्ती महाकवियों और नाटककारों के महाकाव्यों और नाटकों के उपजीव्य रहे हैं। संस्कृत महाकाव्यों में महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण 'आदिकाव्य' माना जाता है, तथा वाल्मीकि 'आदिकवि' माने जाते हैं। भारतीय जन-मानस में मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित श्रीराम कथा का प्रथम-प्रथम विवरण 'रामायण' में ही प्राप्त होता है। कथा प्रायः सभी जानते हैं कि कैंसे व्याध के बाण से बिधे हुए क्रौंच के लिए विलाप करने वाली क्रौंची का करुण शब्द ऋषि ने सुना, और उनके मुखारविन्द से अकस्मात एक अनुष्टुप वाक् में श्लोक प्रकट होता है-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। रामायण १/२/१५)

अर्थात् हे! निषाद तुमने काम से मोहित इस क्रौंच पक्षी को मारा है, अतः तुम्हे कभी प्रतिष्ठा प्राप्त न हो। महर्षि वाल्मीकि की करुणामयी वाणी को सुनकर ब्रह्मा प्रकट हुये और उन्होंने श्रीराम के चरित लिखने को कहा। रामायण कि रचना इसी प्रेरणा का फल है। महर्षि वाल्मीकि अनुष्टुप छन्द के अविष्कारक माने जाते हैं। रामायण महाकाव्य सात काण्डों में विभक्त है और प्रयेक काण्ड सर्गों में विभक्त है। सर्गों में रमणीय संस्कृत पद्य हैं जो अनुष्टुप, उपजाति, वंशस्थ आदि सुन्दर गेयात्मक छन्दों में निबद्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २४ सहस्त्र पद्य (श्लोक) हैं। अतः इसे चतुर्विंशतिसाहस्री संहिता भी कहते हैं। परवर्ती कवियों, नाटककारों तथा लेखकों ने रामायण की कथा का अनुहरण अपने ग्रन्थों में किया है, साथ ही रामायण की शैली का अनुसरण भी किया है।

महाभारत विश्व साहित्य में सबसे बड़ा ग्रन्थ है, जिसमें एक लाख से कुछ अधिक श्लोक होने कि सम्भावना है। कौरवों और पाण्डवों का इतिहास का वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपितु हमारे हिन्दू धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी इसका प्रयोजन है। यह ग्रन्थ भारत के सांस्कृतिक विषयों का विराट कोष तथा आचार कि संहिता है। महाभारत के विषय में लोकोक्ति प्रसिद्ध है- **'यन्न भारते तन्न भारते'** अर्थात जो बातें महाभारत में नहीं हैं वे भारतवर्ष में नहीं होती हैं। अतः भारतवर्ष के समस्त पक्ष इसमें निहित हैं। स्वयं महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास इस तथ्य का उल्लेख करते हैं-

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।

महाभारत को अट्ठारह पर्वों में विभक्त किया गया है, जो पुनः अनेक उपपर्वों तथा अध्यायों में विभक्त हैं। मुख्य रूप से कौरवों और पाण्डवों के बीच हुए युद्ध का इसमें वर्णन है जिसमें कौरवों का सर्वनाश हुआ तथा अन्याय पर न्याय की विजय हुई।

2.6.4 संस्कृत गीतिकाव्य-

गीतिकाव्य संस्कृत वांग्मय की परम रम्य विधा है। गीति की आत्मा भावातिरेक है। कवि अपनी रागात्मक अनुभूति तथा कल्पना से वर्ण्य विषय तथा वस्तु को भावात्मक बना देता है। गीतियों का निर्माण उस बिंदु पर होता है, जब कवि का हृदय सुख-दुःख के तीव्र अनुभव से आप्लावित हो जाता है और वह अपनी रागात्मिका अनुभूति को अपनी हार्दिक भावना की पूर्णता

के कारण बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में परिणत करता है। स्व-गम्य अनुभूति, पर गम्य अनुभूति के रूप में परिणत करने के लिए कवि जिन मधुर भावापन्न रससान्द्र उक्तियों का माध्यम पकड़ता है, वही गीतियाँ होती हैं।

संस्कृत गीतिकव्यों में मुख्य रूप से श्रृंगार, नीति, विरह, वैराग्य, भक्ति, ऋतुवर्णन, देवस्तुति आदि में से किसी एक विषय को चुनकर उसे संवेगात्मक अभिव्यक्ति दी गयी है। मानव को अभिभूत करने के लिए इनमें आत्मा और विषय का साक्षात् सम्वाद निरुपित हुआ है क्योंकि आत्मा की स्वरूपोपलब्धि के बिना आनन्द कि कल्पना सम्भव नहीं है। श्रृंगार में प्रेमी-प्रेमिका के संयोग का, नीति में नैतिक शिक्षाओं की महत्ता का, विरह में प्रिय या प्रिया की उत्सुकता का, वैराग्य में सांसारिक विषयों की क्षणभंगुरता का, भक्ति में आराध्य देव के प्रति अनुराग का, ऋतुवर्णन में विभिन्न ऋतुओं के अनुरूप प्राकृतिक परिवेश में मानवीय भावनाओं का और देवस्तुतियों में देव की महिमा का कवियों ने स्वानुभूत अभिव्यंजन किया है।

संस्कृत गीतिकव्यों के दो वर्ग हैं- श्रृंगारमूलक तथा भक्तिमूलक (स्त्रोत्रकाव्य)। भक्तिमूलक गीतिकाव्य 'स्त्रोत्र' कहलाते हैं। इनमें अपने आराध्य, देवता, गुरु आदि के प्रति श्रद्धा युक्त काव्य कुसुमाञ्जली अर्पित की जाती है। श्रृंगारमूलक गीतिकव्यों में ऋतुवर्णन, संदेश-प्रेषण, प्रेम तथा विरह की भावनाओं के आवेग आदि का वर्णन किया जाता है। संस्कृत में कतिपय प्रसिद्ध गीतिकाव्य निम्नांकित हैं-

१. **ऋतुसंहार-** यह महाकवि कालिदास की कृति है। यह छः सर्गों का गीतिकाव्य है। इसमें ग्रीष्म से आरम्भ करके वसन्त तक छः ऋतुओं का श्रृंगारमय वर्णन है। इसमें १४४ पद्य हैं।
२. **मेघदूतम्-** यह कालिदास की प्रसिद्ध गीतिकाव्य है। इसे खण्डकाव्य भी कहा जाता है। मन्दाक्रान्ता छन्द में रचित केवल ११५ पद्यों की यह लघुकाय कृति दो भागों में विभक्त है- पूर्वमेघ तथा उत्तरमेघ।
३. **गाथा-सप्तशती-** 'गाथा' प्राकृतिक भाषा का लोकप्रिय छन्द है जो संस्कृत के आर्या छन्द के समान है।
४. **भर्तृहरि के शतक त्रयी-** यह तीन नीतिशतक, श्रृंगारशतक और वैराग्यशतक हैं।
५. **अमरुशतक-** श्रृंगार प्रधान मुक्तककाव्यों में अमरुशतक या अमरुकशतक का महत्वपूर्ण स्थान है।
६. **जयदेव का गीतगोविन्द-** यह संस्कृत भाषा का श्रेष्ठ गीतिकाव्य है। इसमें १२ सर्ग है जो पुनः प्रबन्धों में कुल २४ प्रबन्ध विभक्त है। इत्यादि

2.6.5 संस्कृत गद्य एवं चम्पूकाव्य-

गद्यकाव्य में गद्य शैली में भावनाओं, अलंकारों और रसों की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है। गद्य शब्द 'गद्' धातु (व्यक्तायां वाचि) से यत् प्रत्यय लगाकर बना है। जिसका अर्थ होता है मानव की अभिव्यक्ति की मौलिक प्रक्रिया। आचार्य दण्डी गद्यकाव्य की परिभाषा कुछ इस प्रकार से देते हैं- **'अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिक कथा।'** (काव्यदर्श १/२३) अर्थात गद्यकाव्य के दो रूप हैं आख्यायिका और कथा। गद्यकाव्य को लिखने में कवियों को कठिनाई होती है। अतः एक उक्ति

प्रसिद्ध है **'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।'** गद्यकाव्य लेखन में कवियों की परीक्षा होती है। गद्यकाव्य का प्रथम रूप यजुर्वेद की संहिताओं में प्राप्त होता है **'गद्यात्मकं यजुः।'** वेदांग साहित्य में भी गद्य के प्रयोग का सुन्दर दृष्टान्त मिलता है। सूत्र ग्रन्थों में छोटे-छोटे वाक्यों में प्रमेय-बहुल गद्य का तथा निरुक्त में प्रवाहपूर्ण शास्त्रीय गद्य का प्रयोग हुआ है।

कथा- आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में कहा है कि कथा में गद्य द्वारा सरस कथानक का निर्माण होता है, इसमें खिन आर्या और कहीं वक्त्र छन्द का प्रयोग होता है। इसके आरम्भ के पद्यों में नमस्कार और खल आदि का वर्णन रहता है।

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितं।।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्।।

आख्यायिका- यह भी कथा के समान ही होती है। जिसमें कवि के वंश का भी वर्णन रहता है। इसमें अन्य कवियों काभी पद्यात्मक वर्णन होता है, कथा भाग के खण्डों को आश्वास या उच्छवास कहते हैं।

आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वंशानुकिर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्।।

संस्कृत गद्य काव्य के दो भेद माने गये हैं कथा और आख्यायिका। इन भेदों का निरूपण अग्निपुराण, काव्यदर्श, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में किया गया है। बाणभट्ट की गद्य रचनाओं में 'हर्षचरित' आख्यायिका तथा 'कादम्बरी' कथा के रूप में प्रसिद्ध हैं, स्वयं बाणभट्ट ने इन्हें इस रूप में निर्दिष्ट किया है।

चम्पूकाव्य- संस्कृत साहित्य में पद्यकाव्य और गद्यकाव्य के अतरिक्त चम्पूकाव्य भी है। यह काव्य सौन्दर्य, मधुरविन्यास तथा रस से परिपूर्ण होते है। चम्पूकाव्य का लक्षण सर्वप्रथम आचार्य दण्डी ने निर्दिष्ट किया है- **'गद्यपद्यमयी काचित् चम्पूरित्यपि विद्यते'।** (काव्यदर्श १/३१) अर्थात गद्य एवं पद्य से मिश्रित काव्य को चम्पू कहा जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने भी अपने ग्रन्थ साहित्य दर्पण में चम्पूकाव्य का लक्षण निर्दिष्ट किया है- **'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।'** (सा०दर्प० ६/३३६) अर्थात गद्य एवं पद्य से युक्त काव्य को चम्पूकाव्य कहा जाता है। चम्पूकाव्य में वर्णन के लिए गद्य और भावपूर्ण भाग के लिए पद्य का प्रयोग किया जाता है। भोज ने अपने ग्रन्थ 'चम्पूरामायण' के आरम्भ में कहा है कि गद्य के समावेश से पद्य की सुक्तियाँ उसी प्रकार रमणीय हो जाती हैं जैसे वाद्यकला से गीत सुन्दर हो जाता है। गद्य एवं पद्य से मिश्रित रचना का शुभारम्भ वैदिककाल से ही माना जाता है। कृष्णयजुर्वेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार की शैली प्रचुर रूप से प्रयुक्त है।

अतिपय चम्पूकाव्य निम्नांकित हैं-

१. **नलचम्पू-** त्रिविक्रमभट्ट का 'नलचम्पू' नामक चम्पूकाव्य उपलब्ध चम्पूकारों में सर्वप्रथम है। यह सात उच्छवासों का चम्पूकाव्य है। जिसमें नल-दमयन्ती की प्रणयकथा वर्णित है।

२. **जीवन्धरचम्पू-** इस चम्पूकाव्य के लेखक हरिश्चन्द्र हैं। गुणभद्र रचित उत्तरपुराण में वर्णित जीवन्धर-कथा को इन्होंने चम्पूकाव्य के रूप में लिखा है।

३. **यशस्तिलकचम्पू-** यह सोमदेव कृत चम्पूकाव्य है। इस चम्पूकाव्य में जैन पुराण में विश्रुत यशोधर के चरित का वर्णन बड़ी ही प्रौढ़ आलंकारिक शैली में किया गया है। यह चम्पू आठ आश्वास में विभक्त है।

४. **रामायणचम्पू-** इस चम्पूकाव्य के रचयिता धारानरेश भोजदेव हैं। यह रामायण की कथा पर आश्रित चम्पूकाव्य है। इसके आरम्भ में महर्षि वाल्मीकि की प्रशंसा की गयी है- '**मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः।**' कला पक्ष के कारण यह उत्कृष्ट चम्पू ग्रन्थों में मान्य है। इत्यादि

चम्पूकाव्य में कवियों को गद्य एवं पद्य दोनों में लेखन कौशल दिखाने का अवसर प्राप्त होता है। गद्य-पद्य से युक्त चम्पूकाव्य सदैव संस्कृत लेखकों एवं पाठकों के आकर्षण का विषय रहा है।

2.6.6 नाटक-

संस्कृत काव्यमनीषियों ने काव्य को दृश्य और श्रव्य दो वर्गों में विभक्त किया है। दृश्य काव्य के दो भेद होते हैं- रूपक तथा उपरूपक। रूपक १० होते हैं तथा उपरूपक १८ प्रकार के होते हैं। रूपकों का एक प्रमुख भेद 'नाटक' है। साहित्य के सभी प्रकारों में रूपक अथवा नाटक श्रेष्ट माना गया है। इसकी रचना को कवित्व की अन्तिम सीमा कहा जाता है- '**नाटकान्तं कवित्वं।**' नाटक में गद्य एवं पद्य दोनों का मिश्रण रहता है, इसे सुनने के अतरिक्त देखा भी जाता है। श्रव्य की अपेक्षा दृश्य का अधिक प्रभाव होता है। आचार्य वामन ने भी अपने काव्यालंकर सूत्र में कहा है- '**सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः।**' कारण यह है कि यह चित्र पट के समान अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। इतनी विशेषताएं अन्य काव्य भेदों में नहीं होती हैं।

नाटक के सन्दर्भ में साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ स्पष्ट निर्देश करते हैं-

नाटकं ख्यात वृत्तं स्यात् पञ्च संधिसमन्वितम् ।
विलास्द्धर्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः।।

ख्यातं रामायणादि प्रसिद्धं वृतं। यथा रामचरितादि। संधयो वक्ष्यन्ते नानाविभूतिभिर्युक्तमिति महासहायम्। सुखदुख समुद्भूत्व्म् रामयुधिष्ठिरादिविर्तान्तेष्वाभियुक्तम्। राजर्षयो दुष्यन्तादयः। दिव्याः श्री कृष्णादयः दिव्यातिदिव्यः यो दिव्योऽप्यात्मनि नराभिमानि। यथा श्री रामचन्द्रः।

नाटक की कथावस्तु इतिहास आदि पर आश्रित होती है। नाटक में पाँच संधियाँ होती है। नाटक में कम से कम पाँच अंक और अधिक से अधिक दस अंक होते हैं। नाटक का विभाजन अंकों में ही किया जाता है। नाटक में श्रृंगार या वीर रस अंगी रस होते है तथा शेष अंग रूप में विद्यमान रहते हैं। नाटक में नायक धीरोदत्त कोटि का होना चाहिए। तथा वह उच्च कुल में उत्पन्न क्षत्रिय या राजा होना चाहिए। नाटक का नायक जैसे श्रीरामचन्द्र आदि हो क्योंकि श्रीराम का वृत रामायण आदि लोक प्रसिद्ध ग्रंथों में उपलब्ध है, अतः एसे पात्र को नायक बनाया जाता है। नाटक को सभी रूपकों की प्रकृति भी कहा जाता है। क्योंकि यह सभी रूपकों में प्रमुख है। इसमें रसों की प्रचुरता होती है। रुपक के सभी लक्षण वस्तु, नेता, एवं रस सम्बन्धी नाटकों मे देखे जा सकते हैं। कथानक के स्वाभाविक विकास की दृष्टि से नाटक में पाँच अर्थ प्रकृतियाँ बीज, बिन्दु, पताका, प्रकारी एवं कार्य तथा पाँच कार्यावास्थाएं आरम्भ, पर्यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, एवं फलागम होने चाहिए।

बीजबिन्दुपताकारव्यप्रकरीकार्यलक्षणः।
अर्थ प्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः।।

एक-एक अर्थ प्रकृति के क्रमशः एक-एक कार्यवस्था के साथ होने वाले संयोग से पाँच संधियाँ मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहन, हैं। पताका एवं प्रकरी का नाटक में होना अनिवार्य है। इसलिए गर्भ एवं विमर्श संधि में ये हो भी सकती हैं। नाटक में कभी भी कथा के मुख्य नायक का वध नहीं दिखाया जाना चाहिए। यह तथ्य संस्कृत नाटकों की सुखान्तता को इंगित करता है। नाटक को काव्यमात्र में श्रेष्ठ कहा गया है- **"काव्येषु नाटकं रम्यम्"** भाष, कालिदास, भवभूति, आदि के नाटक संस्कृत जगत में प्रसिद्ध हैं। आधुनिक युग में भी नाटकों की रचना है।

2.7 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों!

प्रस्तुत इकाई में आपने काव्यविद्या इत्यादि का अध्ययन किया। साथ ही आपने अन्य भारतीय विद्याओं के बारे में भी जाना। विद्या से तात्पर्य ज्ञान या शिक्षा से है। मानव जीवन कि सबसे महत्वपूर्ण सम्पत्ति विद्या (ज्ञान) को कहा जाता है। विद्या व्यक्ति के जीवन को प्रकाशमय बनाने में सहायक सिद्ध होती है। विद्या व्यक्ति के भीतर सोचने समझने कि क्षमता विकसित करती है। विद्या व्यक्ति के आचरण, विचार और व्यवहार को संवारती है। विद्या के द्वारा व्यक्ति आत्मनिर्भर और विवेकशील बनता है।

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।। (नीतिशतकम-१३)

जिन मनुष्यों के पास विद्या नही है, तप जीवन में नही है, दान देने की इच्छा नही है, न ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा है, न ही उनके जीवन में सदाचार है और न ही धर्म है, इस प्रकार के मनुष्य पृथ्वी पर भारभूत मात्र हैं और मनुष्य के रूप में वे पशु के समान व्यर्थ विचरण कर रहे हैं। अतएव मनुष्य का परम कर्तव्य है कि वह समय रहते ज्ञानार्जन अवश्य करे।

प्राचीनकाल से ही समस्त भारतीय विद्याओं का उद्देश्य अज्ञानता की निवृति एवं चरम लक्ष्य की प्राप्ति रहा है। **'सा विद्या या विमुक्तये'** अर्थात वही वास्तविक विद्या है जो मुक्ति दिलाने में सहायक हो। संस्कृत काव्य जीवन की प्रतिकूल प्रस्तिथियों में भी आनन्द की खोज में सदैव संलग्न रहा है। आनन्द को परमेश्वर का विशुद्ध पूर्णरूप कहा गया है **'रसौ वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'** अतएव संस्कृत काव्य **'रस'** है। रस का उन्मीलन श्रोता तथा पाठकों के हृदय में आनन्द का प्रकट होना ही काव्य का चरम लक्ष्य रहा है।

2.8 पारिभाषिक शब्दावली

- चरम - अन्तिम सीमा को प्राप्त
- उन्मीलन - विकसित होना, खिलना
- सुखान्तता - जिसका अन्त सुखद हो

- इंगित - संकेत, इशारा
- प्रतिकूल - जो अनुकूल न हो, विपरीत
- प्रचुर - बहुत अधिक, पूर्ण
- चम्पूकाव्य - गद्य एवं पद्य से मिश्रित काव्य को चम्पू कहा जाता है
- अक्षय - जो कभी नष्ट न हो
- विरह - अभाव
- विमर्श - विवेचन
- कान्ता - पत्नी
- सम्मित - तुल्य, समान
- विलक्षण - असामान्य, असाधारण

अभ्यास प्रश्न-

१. वेदों की संख्या कितनी है?
२. वेदों को कितने भागों में विभक्त किया गया हिया?
३. मुण्डकोपनिषद में विद्या को कितने भागों में विभक्त किया गया है?
४. याज्ञवल्क्य स्मृति में कितनी विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है?
५. वेदांगों कि संख्या कितनी है?
६. 'विद्या ददाति विनयम्' का क्या अर्थ है?
७. मनु ने जीवन में धर्म के लक्षण के रूप में कितने पदार्थों को धारण करने के लिए कहा है?
८. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' किस आचार्य का कथन है?
९. नाटक में कितनी अर्थ प्रकृतियाँ होती हैं?
१०. 'नलचम्पू' के प्रणेता कौन हैं?
११. 'ऋतुसंहार' के प्रणेता कौन हैं?
१२. 'आदिकाव्य' किसे कहा जाता है?
१३. महाकव्य में सर्गों की कितनी संख्या होनी चाहिए?
१४. 'काव्य' के कितने भेद माने गए हैं?
१५. आचार्य मम्मट ने काव्य के कितने प्रयोजन निर्दिष्ट किये हैं?

2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. चार
२. चार संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद
३. दो परा और अपरा
४. चौदह
५. छः

६. विद्या से विनम्रता आती है।
७. दस
८. विश्वनाथ
९. पाँच
१०. त्रिविक्रमभट्ट
११. कालिदास
१२. रामायण
१३. आठ से अधिक
१४. दो श्रव्य एवं दृश्य
१५. छ:

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१४. संस्कृत साहित्य का इतिहास, लेखक डॉ उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', प्रकाशक- चौखम्बा भारती अकादमी वाराणसी
१५. प्रस्थानभेद, लेखक श्री मधुसूदन सरस्वती, प्रस्तावना लेखक डॉ गजानन शास्त्री मुस्लगाँवकर, हिंदी व्याख्याकार डॉ कमलनयन शर्मा
१६. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, लेखक महामहोपाध्याय पी० वी काणे, अनुवादक डॉ इंद्रचंद्र शास्त्री, प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली ११०००७
१७. संस्कृत वांग्मय का बृहद इतिहास (तृतीय खण्ड), प्रधान सम्पादक पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, सम्पादक प्रो० भोलाशंकर व्यास, प्रकाशक- उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ
१८. संस्कृत वांग्मय का बृहद इतिहास, (चतुर्थ खण्ड) प्रधान सम्पादक पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, सम्पादक प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रकाशक- उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ
१९. संस्कृत साहित्य का इतिहास, लेखक वाचस्पति गैरोला, प्रकाशक- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
२०. संस्कृत साहित्य का इतिहास, लेखक आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक- शारदा निकेतन ५ बी, कस्तूरबा नगर, सिगरा वाराणसी-२२१०१०
२१. हिंदी रसगंगाधर, लेखक पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, सम्पादक महादेव शास्त्री, प्रकाशक- नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
२२. काव्यमीमांसा, लेखक कविराजश्रीराजशेखर, व्याख्याकार पं श्रीकृष्णमणित्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
२३. नीतिशतकम् लेखक भर्तृहरि, टीकाकार डॉ राजेश्वर शास्त्री मुसलगांवकर, सम्पादक डॉ सुरेश कुमार अवस्थी, प्रकाशक चौखम्बा प्रकाशन
२४. हितोपदेश, लेखक नारायण पण्डित, भाषाटीकाकार पण्डित रामेश्वर भट्ट

२५. संस्कृत हिंदी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे
२६. विष्णुपुराण, लेखक महर्षि व्यास, प्रकाशक- गीताप्रेस गोरखपुर
२७. अग्निपुराण, लेखक महर्षि व्यास, प्रकाशक- गीताप्रेस गोरखपुर
२८. उपनिषद-अंक, गीताप्रेस गोरखपुर
२९. छान्दोग्योपनिषद
३०. कल्याण धर्मशासत्रांक, प्रकाशक- गीताप्रेस गोरखपुर।
३१. मनुस्मृति: महर्षिमनुप्रणिता, अनुवादक एवं व्याख्याकार, शिवराज आचार्य: कौण्डिन्नयायनः, प्रकाशक- चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी।
३२. याज्ञवल्क्यस्मृति: श्रीमद्योगीश्वरमहर्षियाज्ञवल्क्यप्रणिता, हिन्दी व्याख्याकार एवं सम्पादक डॉ गङ्गासागरराय, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली।
३३. गौतमधर्मसूत्राणि हिन्दिव्यख्याविभूषित हरदत्तकृत-मिताक्षरावृत्ति-सहितानि, हिन्दी व्याख्याकार डॉ उमेशचन्द्र पाण्डेय, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी।
३४.कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, व्याक्याकार वाचस्पति गैरोला, प्रकाशक- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी २२१००१
३५. काव्यप्रकाश, लेखक आचार्य मम्मट
३६. साहित्यदर्पण, लेखक आचार्य विश्वनाथ
३७. ध्वन्यालोक, आचार्य आनन्दवर्धन
३८. वक्रोक्तिजीवितम्, आचार्य कुन्तक

2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

१. विद्या का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट कीजिये।

२. राजशेखर के मतानुसार 'काव्यविद्या' की विवेचना कीजिये।

३. विद्या की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

४. 'विद्या के रूप में काव्य' स्पष्ट कीजिये।

इकाई –3 नाट्यविद्या

इकाई की रूप रेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 नाट्यविद्या की उत्पत्ति एवं विकास

3.4 नाट्यविद्या के विविध अङ्गों का परिचय

3.5 नाट्यविद्या के भेद

3.6 सारांश

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थसूची

3.9 उपयोगी पुस्तकें

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों,

संस्कृत साहित्य अत्यंत विशाल एवं विविध रूपों से परिपूर्ण है। इसमें अनेक विधाएँ विकसित हुई हैं, जिनमें महाकाव्य, गद्यकाव्य, पद्यकाव्य, गीतिकाव्य, चम्पूकाव्य तथा नाट्यकाव्य प्रमुख मानी जाती हैं। इन सभी काव्य-विधाओं ने भारतीय साहित्य को गौरवपूर्ण परंपरा प्रदान की है। इनमें से नाट्यविद्या का विशेष स्थान है। नाट्य केवल काव्य या साहित्य मात्र नहीं, बल्कि यह साहित्य, संगीत, अभिनय, नृत्य और दृश्य-शिल्प का संगम है। इसी कारण से आचार्यों ने इसे सर्वविधा संग्राहिणी विद्या कहा है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना करते समय नाट्य को पंचम वेद की संज्ञा दी, क्योंकि इसमें वेदों तथा अन्य शास्त्रों का सार समाहित माना गया।

इस इकाई में हम नाट्यविद्या का अध्ययन करेंगे। सबसे पहले हम नाट्य की उत्पत्ति से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों को जानेंगे—जैसे कि दैवोत्पत्ति-सिद्धांत, पुत्तलिका सिद्धान्त आदि तत्पश्चात नाट्य के विविध अंगों का अध्ययन करेगें।

3.2 उद्देश्य

- नाट्यविद्या की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त कर सकेगें।
- नाट्य के स्वरूप के विषय में जानेगें।
- नाट्यविद्या के विविध अंगों का परिचय प्राप्त कर सकेगें।
- नाट्यविद्या एवं नाटक के भेद को जान सकेगें।

3.3 नाट्यविद्या की उत्पत्ति

नाट्यविद्या की उत्पत्ति के सम्बन्धित कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध है। भारतीय परम्परा में नाट्यविद्या की उत्पत्ति चारों वेदों, बाह्मण ग्रन्थों, आरण्यक, एवं उपनिषदों आदि ग्रन्थों से मानी जाती है। विद्वानों में नाट्यविद्या की उत्पत्ति से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जिसका विवेचन निम्न प्रकार से है।

3.3.1 दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्य

नाट्यविद्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन मत दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त के रूप में वर्णित है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय तथा विभिन्न आचार्यों के मतानुसार त्रेतायुग के प्रारम्भ में जब संसार सुख-दुःख, मोह और विविध जातियों के मिश्रण से व्याकुल हो उठा, तब इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि वे एक ऐसा मनोरंजनात्मक साधन प्रदान करें जो दृश्य एवं श्रव्य दोनों हो तथा जिसे सभी वर्ग देख और सुन सकें – ‘‘क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्’’। देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर ब्रह्मा ने चारों वेदों का समन्वय करते हुए पंचमवेद की रचना की। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण किया – ‘‘जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसान् आथर्वणादपि’’।

नाट्यवेद की यह शिक्षा सर्वप्रथम भगवान शिव ने ब्रह्मा को दी, तत्पश्चात ब्रह्मा ने इसे भरतमुनि को और भरतमुनि ने मानव समाज में इसका प्रचार-प्रसार किया। प्रारम्भ में इसमें तीन वृत्तियाँ – भारती,

आरभटी एवं सात्त्वती सम्मिलित थीं, बाद में बृहस्पति ने कैशिकी वृत्ति का भी समावेश कर दिया। शिव ने इसमें ताण्डव, पार्वती ने लास्य तथा विष्णु ने वृत्तियों का संयोग किया। इन्द्रध्वज महोत्सव के अवसर पर सर्वप्रथम नाट्य का अभिनय हुआ, जहाँ भरतमुनि ने अपने सौ पुत्रों सहित 'त्रिपुरदाह' नामक डिम तथा 'समुद्रमन्थन' नामक समवकार रूपकों का मंचन किया। दानवों जैसे विघ्नों से रक्षा हेतु विश्वकर्मा ने ब्रह्मा के आदेश पर प्रेक्षागृह का निर्माण किया।

इस प्रकार नाट्यविद्या की उत्पत्ति दैवीय मानी जाती है और शिव, ब्रह्मा तथा भरतमुनि इसके प्रायोजक सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि नाट्य को पंचमवेद एवं सार्ववर्णिक कला कहा गया है, जिसका उद्देश्य लोकमंगल एवं जनसामान्य के मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षाप्रद मार्गदर्शन करना है।

3.3.2 संवाद सुक्तो से उत्पत्ति का सिद्धान्त

वेदों के पश्चात् अनेक उपनिषद् एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की उत्पत्ति हुई है। जिसमें अनेक संवाद सूक्तों का वर्णन दिखाई पड़ता है । इन संवादसूक्तों को लेकर विद्वानों का यह मत है कि वे नाट्यविद्या का आभिर्भाव इन्हीं सुक्तों से हुआ है। ऋग्वेद में इद्र-मरूत संवाद सुक्त (ऋ. १/१६५,१७०), विश्वामित्र-नदी संवाद (३/३३), यम-यमी संवाद (ऋ. १०/१०), पुरूरवा-उर्वशी संवाद (ऋ. १०/९५), सरमा-पणि, अगस्त्य-लोपामुद्रा (ऋ.१/१७९), इन्द्र-इन्द्राणी (ऋ. १०/८६) आदि सुक्त प्राप्त हुए है। इन संवादों के पीछे कोई न कोई प्राचीन आख्यान अथवा कथा-प्रसंग जुड़ा हुआ है, जो उस समय की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का परिचायक है। इन संवादसूक्तों की विशेषता यह है कि इनमें दो पात्रों के बीच उक्ति-प्रत्युक्ति या सवाल-जवाब की पद्धति मिलती है, जिसमें मानवीय भावनाओं का आवेग और भिन्न-भिन्न मनोदशाएँ प्रकट होती हैं। इनकी संरचना लोककथाओं के अधिक निकट है और इनमें अनुष्ठान अथवा कर्मकाण्ड से सम्बन्धित कोई प्रत्यक्ष विधि-विधान नहीं मिलता। संभव है कि ऐसे संवाद यज्ञों के अवसर पर मनोरंजनार्थ प्रस्तुत किए जाते होंगे, और इस रूप में वहाँ उपस्थित समाज उनका श्रोता तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रेक्षक बनता होगा। इन्हें छोटे-छोटे नाटकों की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि इनमें नाटकीयता की पर्याप्त संभावना दिखाई देती है।

3.3.3 पुत्तलिका नाट्य से उत्पत्ति सिद्धान्त

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट किए हैं। प्रसिद्ध विद्वान् शंकर पांडुरंग पंडित ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि संस्कृत नाटक का उद्भव पुत्तलिका-नाट्य से हुआ था। उनके मत को जर्मन विद्वान् डॉ. पिशेल ने भी समर्थन और पुनः प्रतिपादन किया। पिशेल ने छायानाट्य से नाटक की उत्पत्ति की संभावना पर विचार किया और साथ ही पुत्तलिका-नृत्य को नाटक की मूल प्रेरणा माना। उनका कहना है कि पुत्तलिका-नृत्य सर्वप्रथम भारत में प्रचलित हुआ और यहीं से यूनान जैसे देशों में फैला।

पुत्तलिका-नृत्य का प्राचीनतम उल्लेख संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है। कथासरित्सागर में वर्णन है कि मयदानव की पुत्री सोमप्रभा ने अपनी सखी कलिंगाप्रभा को ऐसी पुतलियाँ भेंट की थीं जो बोल सकती थीं, उड़ सकती थीं और जल तथा पुष्प-माला ला सकती थीं। इसी प्रकार राजशेखर के बालरामायण में वर्णित है कि सीता के सदृश बनाई गयी पुतली से रावण तक धोखा खा गया। इन पुतलियों के संचालन हेतु कभी उनके मुख में तोते रख दिए जाते थे, जो पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते थे।

शंकर पांडुरंग पंडित के अनुसार इस प्रकार की रंगशालाएँ कर्नाटक प्रदेश आदि में प्रचलित थीं, जहाँ काठ या कागज की बनी कठपुतलियों को नचाकर संवाद प्रस्तुत किए जाते थे। ये पुतलियाँ खड़ी हो सकती थीं, लेट सकती थीं, नाच सकती थीं, यहाँ तक कि लड़ाई भी कर सकती थीं। इन पुतलियों को संचालित करने के लिए डोरी का प्रयोग होता था, जिसे हाथ में लेकर एक व्यक्ति मंच पर उनका संचालन करता था। इसी व्यक्ति को सूत्रधार कहा जाता था, क्योंकि वह सूत्र या डोरी पकड़े रहता था। डॉ. पिशेल ने इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि भारतीय नाटकों में 'सूत्रधार' नामक पात्र का अस्तित्व भी पुत्तलिका-नाट्य की परंपरा से जुड़ा हुआ है। नाटक का संचालन जिस प्रकार सूत्रधार के माध्यम से होता है, उसी तरह कठपुतली-नृत्य में भी सूत्रधार सभी क्रियाओं और संवादों का प्रवर्तक होता है। इसी से आगे चलकर सूत्रधार नाटक का अविभाज्य अंग बना और स्थापक या व्यवस्थापक शब्द भी यही भूमिका स्पष्ट करता है, क्योंकि मंच और पात्रों का नियोजन उसके ही हाथ में रहता था।

3.3.4 छाया नाट्य का सिद्धान्त

डॉ. पिशेल ने ल्यूडर्सन के विचारों से प्रभावित होकर यह प्रतिपादन किया कि नाटक की उत्पत्ति छाया-नाटकों से हुई। डॉ. स्टेनकोनो ने भी इस मत का समर्थन किया। पाश्चात्य विद्वानों में छाया-नाट्य के स्वरूप और लक्षण पर बड़ा मतभेद पाया जाता है। सामान्यतः इसका अर्थ दीपक की सहायता से छाया द्वारा कथा का प्रदर्शन करना माना गया है, जिसमें छाया पुतलियों अथवा अभिनेताओं की होती थी। यद्यपि संस्कृत के प्राचीन नाट्य-ग्रंथों में छाया-नाटक का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि कुछ नाटकों का ऐसा विवरण अवश्य है जिन्हें इस श्रेणी में रखा जा सकता है। इनमें 'दूताङ्गद' को प्राचीनतम एवं प्रमुख माना गया है, जिसकी कथा रामायण से सम्बंधित है।

कुछ विद्वान छाया-नाट्य की परंपरा का संकेत वैदिक यज्ञों, पौराणिक आख्या तथा महाभारत और वराहमिहिर में प्रयुक्त 'रूपजीवी' जैसे शब्दों से भी खोजने का प्रयास करते हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य तथा उत्तररामचरित में सीता की छाया का उल्लेख भी इस ओर संकेत करता है। रत्नावली, प्रबोधचन्द्रोदय और दशकुमारचरित जैसे ग्रंथों में ऐन्द्रजालिक क्रियाओं का वर्णन भी छाया-नाट्य की स्मृति जगाता है।

परंतु इन सब तथ्यों के आधार पर नाट्य के उद्गम को छाया-नाटकों से जोड़ना पर्याप्त रूप से सिद्ध नहीं होता। 'दूताङ्गद' भी अपेक्षाकृत परवर्ती रचना है और यदि छाया-नाटक के रूप में कोई स्वतंत्र नाट्य-प्रकार होता, तो नाट्यशास्त्र या अन्य प्रामाणिक ग्रंथों में उसका स्पष्ट विवरण अवश्य मिलता। दसवीं शताब्दी के पश्चात शारदातनय ने भावप्रकाशन के विशाल ग्रंथ में नाट्यशास्त्र की विविध सामग्री का उपयोग किया, किंतु वहाँ भी इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

अतः यह धारणा कि नाट्य का उद्गम छाया-नाट्य से हुआ, अधिकांशतः पाश्चात्य विद्वानों की कल्पना मात्र प्रतीत होती है। यह अधिक उपयुक्त है कि छाया-नाट्य को नाट्यकला की एक शाखा या प्रभाव के रूप में देखा जाए, परंतु इसे संस्कृत नाट्य का प्रत्यक्ष उद्गम मानना उचित नहीं है।

3.3.5 वीरपूजा से नाट्योत्पति

नाट्यविद्या की उत्पत्ति को लेकर विभिन्न विद्वान् अनेक मत देते हैं, जिसमें वीरपूजा का सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रोफेसर रिजवे ने किया है। प्रोफेसर रिजवे का वीरपूजा का सिद्धांत एक प्रमुख और विचारणीय दृष्टिकोण है। रिजवे ने भारत और ग्रीक देश की

प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं का अध्ययन करते हुए निष्कर्ष निकाला कि इन सभ्यताओं में पूर्व पीढ़ी के वीर पुरुषों के प्रति पूजा, सम्मान और श्रद्धा प्रकट करने की प्रथा रही है। उनकी मान्यता है कि यह सम्मान विभिन्न अनुष्ठानों, उत्सवों और नाट्याभिनय के रूप में परिलक्षित होता था। विशेषकर संस्कृत नाटकों, रामलीला, रास-लीला तथा यात्रा-उत्सवों में इसका स्पष्ट अनुभव होता है। उन्होंने दिखाया कि भारत के साथ-साथ जावा, सुमात्रा जैसे दूर-दराज के क्षेत्रों में भी राम और सीता की कथाएं अत्यंत लोकप्रिय थीं, जिन्हें दर्शकों के सामने नाट्यों के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। इसी प्रकार महाभारत की कथाएँ और श्रीकृष्ण के चरित्रों के आधार पर भी मथुरा तथा अन्य स्थानों पर नाट्य प्रस्तुतियां होती थीं।

रिजवे के अनुसार, लोक मान्यताओं में मृत वीर पुरुषों की स्मृति को जीवित रखने तथा उन्हें शांति एवं सम्मान देना प्राचीन काल से चली आ रही परंपरा थी, जिसके तहत लोक नृत्य, गायन, वादन और अभिनय आयोजित किए जाते थे। नर्तक वीणा एवं वंशी की मधुर ध्वनि पर नाचते थे, जिससे नाट्य की प्रारंभिक अवस्था विकसित हुई। वीरपुरुषों के चरित्रों, उनके साहस और पराक्रम को नाटक के माध्यम से दर्शाकर उनके प्रति आदर व्यक्त करना एक सामाजिक क्रिया थी, जो नाट्यकला की उत्पत्ति का मूल आधार मानी जा सकती है। इस प्रकार, नाट्य के उद्भव में वीरपूजा की भावना को प्रमुख प्रेरक तत्व बताया गया है। वहीं, इस दृष्टिकोण की आलोचना भी हुई है। कई यूरोपीय विद्वानों जैसे कीथ ने रिजवे के विचारों का खंडन किया है। उनका तर्क है कि वर्तमान में प्रचलित उत्सवों और समारोहों के आधार पर नाट्य के उद्भव का अनुमान लगाना व्यावहारिक नहीं है। संस्कृत नाट्यों की प्रस्तावनाओं और शास्त्रीय ग्रंथों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि नाटक किसी मृत वीर पुरुष के सम्मान में रचे गए हों। अधिकांश संस्कृत नाटक राजा, राजसभासद या उच्च वर्ग के मनोरंजन तथा मनोविनोद के लिए लिखे गए थे। अतः केवल वीरपूजा को नाट्य के उद्भव की मूल भावना मानना वैज्ञानिक दृष्टि से सही नहीं ठहरता।

फिर भी, वीरपुरुषों के चरितों को नाटक के माध्यम से प्रस्तुत करने की परंपरा ने हिन्दू नाट्य को काफी प्रभावित किया है। जैसे विभिन्न क्षेत्रों में शिवाजी, राणाप्रताप, हीर, राजपूताना के वीर, तेलुगु रामदास, पंजाब के गोपीचन्द्र आदि के लोकचरित नाटकों में जीवंत होते हैं। यह सामाजिक स्मृति और सांस्कृतिक श्रद्धा नाट्य की भावनात्मक गहराई बढ़ाती है। इसलिए, नाट्य के उद्भव के पीछे कई सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और मनोरंजक तत्व काम करते रहे हैं, जिनमें वीरपूजा एक महत्वपूर्ण, लेकिन अकेला कारण नहीं है।

3.3.6 नृत्यवाद सिद्धान्त

पाश्चात्य विद्वान् मैक्डोनल का मानना है कि 'नट्' धातु, जो संस्कृत की 'नृत्' धातु का देशी रूप है, से नट तथा नाटक शब्दों की उत्पत्ति हुई है। उनका विचार है कि भारतीय नाटकों की शुरुआत सामूहिक नृत्यों से हुई, जिससे नाटक की उत्पत्ति मानी जाती है। प्रारम्भ में ये नाटक असंस्कृत मूकाभिनय के रूप में रहे होंगे, जिनमें शरीर की नृत्यपरक भाव-भंगिमाएँ और मौन अभिनयात्मक संकेत प्रमुख होते थे। आगे चलकर हाव-भाव, अंग संचालन, गीत आदि अन्य कलाओं को भी इसमें सम्मिलित किया गया और इस प्रकार पूर्ण विकसित नाट्यरूप का विकास हुआ। वेदों तथा ऐतरेय, कौषीतकि और

गोपथ ब्राह्मण जैसे वैदिक वाङ्मय में भी नृत्य, संगीत और चित्रादि अन्य कलाओं के विकास के प्रमाण मिलते हैं, जिन्हें भारतीय नाटकों का आधार माना जा सकता है।

3.5 नाट्य विद्या के विभिन्न भेदों का परिचय

नाट्यशास्त्र को नाट्यपरम्परा का प्रस्थान ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। भरतमुनि के मतानुसार नाट्य सम्पूर्ण कला विधा है। विश्व की ऐसी कोई ज्ञेय वस्तु नहीं है जो नाट्य में समाविष्ट करके दिखाई न जा सके।

न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृश्यते ।।

'नाट्य' शब्द नट् धातु में ष्यञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- नाचना, हावभाव प्रदर्शित करना या अभिनय करना।

दशरूपककार ने 'नाट्' शब्द नट् धातु से निष्पन्न माना है। नट् का अर्थ है- कुछ-कुछ चलना। फलतः नाट्य में बाह्य अंगविक्षेप की अपेक्षा सात्विक अभिनय की प्रचुरता होती है। नृत्य शब्द 'नट् धातु से व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ है- 'गात्रविक्षेप'।

इसी प्रकार प्राचीनकाल से ही नाट्य के लिये रूप एवं रूपक शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। रूपक शब्द की व्युत्पत्ति रूप धातु में 'ण्वुल' प्रत्यय के योग से हुई है, जिसका अर्थ है- नाटक, खेल, नाट्याकृति आदि। **"अवस्थानुकृतिः नाट्यम्"** इस सिद्धान्त के अनुसार अवस्था का अनुकरण करना ही नाट्य कहलाता है तथा दृश्य होने के कारण यह नाट्य रूप भी कहलाता है।

अवस्थानुकृतिः नाट्यम्, रूपं दृश्यतोच्यते।

नाट्यशास्त्र में नाट्य को लोकानुकरण और त्रैलोक्य की भावानुकीर्तन कहा गया है।

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।।

लोकवृत्त का अनुकरण तथा भावचेष्टाओं का अनुकीर्तन करने वाला कलानिपुण व्यक्ति नट कहलाता है। मंच पर प्रस्तुत किया गया नट का कार्य ही नाट्य कहलाता है। साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक के शब्दों का यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ अनुकरण किया है-

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् ।
दृश्यं तत्राभिनेयम् तद्रूपात्तुरूपकम् ।।

रूपित किए जाने के कारण नाटक आदि को रूप अथवा रूपक की संज्ञा से अभिहित किया है-

'रूप्यन्ते अभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि ।"

इससे स्पष्ट है कि नाट्य आरम्भिक अवस्था में अभिनय रूप था, किन्तु दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रूपक शब्द नाट्य अर्थ में रूप हो गया है।

दशरूपक के अनुसार, नाट्य के तीन भेदक तत्त्व वस्तु, नेता एवं रस हैं। **'वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः'** इसमें प्रथम स्थान कथावस्तु का है।

इतिवृत्त/कथावस्तु - नाट्य में कथावस्तु का विशेष महत्त्व अङ्गीकृत है। इसे ही वृत्त अथवा इतिवृत्त भी कहा जाता है। इतिवृत्त को नाट्य का शरीर कहा गया है- **"इतिवृत्तं तु काव्यस्य शरीरं**

परिकीर्तितम्"। कथावस्तु प्रधान अथवा अप्रधान भेद से दो प्रकार की होती हैं - अधिकारिक एवं प्रासंगिक।

तत्राधिकारिक मुख्याङ्ग प्रासङ्गिक बिदुः।"

आधिकारिक कथावस्तु : अधिकार का अर्थ है फल का स्वामी होना। फल का स्वामी ही अधिकारी कहलाता है। उस अधिकार के द्वारा किया हुआ या उससे सम्बद्ध काव्य में अभिव्याप्त इतिवृत्त अधिकारिक कहलाता है अर्थात् अधिकारी की कथा को ही आधिकारिक वस्तु कहा जाता है। जैसे रामायण में राम अधिकारी है, तो उनसे समबद्ध कथावस्तु आधिकारिक कही जायेगी।

अधिकारः फलस्वाम्यमाधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निवृत्तममिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिम् ।।"

प्रासङ्गिक : जो इतिवृत्त दूसरे के प्रयोजन की सिद्धि के लिये होता है किन्तु प्रसंग में उसके अपने प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है वह प्रासंगिक इतिवृत्त कहलाता है – "**प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः"।** यथा रामायण की कथा में सुग्रीवादि की कथा का होना प्रासङ्गिक है।

प्रासंगिक इतिवृत्त भी पताका और प्रकारी के भेद से दो प्रकार का होता है- **'सानुबन्ध पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्** । अनुबन्ध सहित (दूर तक चलने वाला) प्रासंगिक वृत्त पताका तथा एक प्रदेश में रहने वाला प्रासङ्गिक इतिवृत्त प्रकरी कहलाता है।

आधिकारिक इतिवृत्त को तीन भागों में विभक्त किया गया प्रख्यातः उत्पाद्य, मिश्र ।

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादे रुत्पाद्यं कविकल्पितम् ।।
मिश्र च संकारत्तम्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः।"

इतिहास आदि से लिया गया इतिवृत्त प्रख्यात, कवि द्वारा कल्पित उत्पाद्य तथा इन दोनों का मिश्रण मिश्र कहलाता है। ये सभी इतिवृत्त दिव्य मर्त्य आदि भेद से भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

इतिवृत्त को पञ्च अर्थप्रकृतियों, पञ्च सन्धियों एवं पंच कार्यावस्थाओं में विभक्त किया गया है।

अर्थप्रकृतियाँ – अथप्रकृतियाँ नाट्य के फल को सिद्धि तक पहुँचाने वाले उपादान कारण हैं अर्थात् प्रयोजन की सिद्धि में जो कारण हो उसे ही अर्थप्रकृति कहा जाता है। ये बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं कार्य के भेद से पञ्चविध होती हैं।

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः।।

१. **बीज :** फलप्राप्ति का वह कारण जो प्रारम्भ में संक्षिप्तरूपेण निर्दिष्ट हो तथा आगे उसी का अनेक प्रकार से विस्तार हो वह बीज नामक अर्थप्रकृति है। लौकिक बीज के सदृश ही यह भी छोटे से अंश से विस्तार को प्राप्त करता हुआ अन्ततः फलरूप में परिणत हो जाता है।

    स्वल्पोदिष्टस्तु तद्हेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।

२. **बिन्दु :** अवान्तर कथा के विच्छन्न हो जाने पर जो कथावस्तु को आगे बढ़ाता है तथा मुख्य इतिवृत्त से जोड़े रखता है उसे बिन्दु कहते हैं।

    अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।

३. **पताका :** वह प्रासङ्गिक कथा जो मुख्य कथा के साथ दूर तक चलती है। जैसे रामायण में सुग्रीवादि का प्रसंग।

"सानुबन्धं पताकाख्यम्"

४. **प्रकरी :** वह प्रासङ्गिक कथा जो मुख्य कथा के साथ केवल थोड़ी दूर तक ही चलती है। यथा रामायण में रावण और जटायु का संवाद।

"प्रकरी च प्रदेशभाक्"

५. **कार्य :** वस्तु के साध्यरूप में अपेक्षित जिस फल की प्राप्ति के लिये समस्त प्रकार के यत्न किये जाते हैं उसे कार्य कहा जाता है। जैसे रामकथा में रावणवध आदि।

अपेक्षितन्तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनन्तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति सम्मतम्॥

पंचकार्यावस्थाएँ - नाट्य में फलप्राप्ति हेतु जो भी कार्य किये जाते हैं, उन्हें कार्यावस्था कहा जाता है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक ये पाँच अवस्थाएँ होती है- आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

अवस्थाः पञ्चकार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।।

१. **आरम्भ :** यह कार्य की प्रथम अवस्था है। फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता मात्र होना ही आरम्भ कहलाता है।

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललामाय भूयसे।

२. **यत्न** : फल के प्राप्ति न होने पर नायकादि द्वारा अत्यन्त वेगपूर्वक उद्योग करना ही यत्न कहलाता है।

प्रयत्नवस्तु तदप्राप्तौ व्यापरोऽतित्वारान्वितः।

३. **प्राप्त्याशा :** जहाँ फल की प्राप्ति उपाय से सम्भावित तथा अपाय की आशङ्का से अनिश्चयुक्त हो, वह प्राप्त्याशा नामक तृतीय कार्यावस्था है। अर्थात् अनुकूल परिस्थितियों के कारण जहाँ फलप्राप्ति की सम्भावना होती है तथा विघ्नों के कारण असम्भव सी दिखलायी पड़ती है, उसी अवस्था को प्राप्त्याशा कहा जाता है।

उपायापायाशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।"

४. **नियताप्ति :** विघ्नों के अभाव में फल की निश्चित रूप से प्राप्ति ही नियताप्ति कहलाती है।

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता।

५. **फलागम :** कथावस्तु के समस्त फल की प्राप्ति हि जाने पर फलागम नामक कार्यावस्था होती है।

समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः।"

पंचसन्धियाँ - पाँच अवस्थाओं और पांच अर्थप्रकृतियों के समन्वय से ही पञ्चसन्धियों का प्रादुर्भाव होता है। प्रधान प्रयोजन के साथ अवान्तर प्रयोजन का सम्बन्ध होना ही सन्धि कहलाता है। ये मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं निर्वहण के भेद से पाँच प्रकार की होती है।

अर्थप्रकृतयः पञ्चपञ्चावस्थासमन्विताः ।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः ।।

१. **मुख :** जहां अनेक प्रकार के प्रयोजन और रसों को निष्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है वह मुख सन्धि है। इसमें बीज और आरम्भ के संयुक्त होने पर ही उत्पत्ति प्रदर्शित की जाती है।

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।

२. **प्रतिमुख :** इसमें प्रधानफल कभी लक्षित तथा कभी अलक्षित सा प्रतीत होता हुआ विकास को प्राप्त होता है। बिन्दु और यत्न के मेल से प्रतिमुख सन्धि का प्रादुर्भाव होता है।

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।

३. **गर्भ :** पताका और प्राप्त्याशा के संयुक्तता से जहाँ प्रधानफल का उपाय ह्रास एवं अन्वेषण के द्वारा प्रदर्शित किया जाये वहाँ गर्भ नामक सन्धि होती है। इसमें नायक का फल निहित रहता है। विघ्नादि के पड़ने पर भी प्राप्ति की सम्भावना बनी रहती है।

गर्भरस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।

४. **अवमर्श :** जहाँ क्रोध से व्यसन से अथवा प्रलोभन से (फलप्राप्ति के विषय में) विमर्श किया जाता है तथा जिसमें गर्भ सन्धि द्वारा निर्भिन्न बीजार्थ करा सम्बन्ध दिखलाया जाता है वह अवमर्श सन्धि है।

क्रोधनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः।।

५. **निर्वहण :** जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुखादि सन्धियों में अपने-अपने स्थान पर बिखरे हुए अर्थों का एक प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है वह निर्वहण सन्धि कहलाती है। इसमें कार्य नामक अर्थप्रक्रृति तथा फलागम नामक अवस्था का मिश्रण होता है।

बीजवन्तो मुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।।

अर्थोपक्षेपक – रूपक में सूच्यकथा को सूचित करने के लिये अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् मृत्यु, युद्धादि से सम्बद्ध ऐसे दृश्य जिनके अभिनय से सामाजिकों के मन में दुष्प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो, तो ऐसे अनिवार्य दृश्यों को अभिनय के माध्यम से नहीं अपितु विष्कम्भक, प्रवेशक, अंकावतार व चूलिका नामक अर्थोपाक्षेपकों के द्वारा सूचित किया जाता है।

अर्थोपक्षेपकैर्सूच्यं पञ्चाभिः प्रतिपद्येत् ।
विष्कम्भकचूलिकांस्यांकावताप्रवेशकैः ।।

१. **विष्कम्भक :** अङ्क के प्रारम्भ में मध्यम कोटि के पात्रों द्वारा भूत अथवा भावी कथांशों की सूचना संक्षिप्त अर्थ में देने वाला सूचक विष्कम्भक कहलाता है।

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्र प्रयोजितः ।।

२. **प्रवेशक :** दो अंकों के मध्य नीच पात्रों द्वारा किसी अतीत या भविष्य के कथांशों की सूचना देने के लिये प्रवेशक का प्रयोग किया है। प्रथम अङ्क में इसका प्रयोग वर्जित है।

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।

प्रवेशोऽङ्गद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।।

३. **चूलिका :** जवनिका के भीतर स्थित पात्रों के द्वारा किसी अर्थ (कथावस्तु) की सूचना देना चूलिका कहलाता है। यह नेपथ्य से पात्रों द्वारा सूचित किया जाने वाला सूचक है।

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना।"

४. **अंकास्य :** जब अंक के अन्त में उन्हीं पात्रों द्वारा विच्छिन्न रूप से भावी कथानक की सूचना दी जाती है उसे अंकास्य कहा जाता है। अंकास्य को अंकमुख भी कहा जाता है।

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्।

५. **अंकावतार :** जहाँ (पूर्व) अंक का अन्त हो जाने पर अग्रिम अंक का अभिन्न रूप से अवतरण हो जाता है वह अंकावतार कहलाता है।

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः।

संवाद अथवा नाट्यधर्म की दृष्टि से कथावस्तु पुनः तीन प्रकार की मानी गयी है- सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य, अश्राव्य ।

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ।

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च।।

रूपक में सभी के लिये श्राव्य को सर्वश्राव्य, कुछ परिमित लोगों के लिये श्राव्य को नियतश्राव्य तथा जो अन्य पात्रों के लिये सुनने लायक न हो उसे अश्राव्य कहा जाता है।

सर्वश्राव्य वस्तु 'प्रकाश' तथा अश्राव्य वस्तु 'स्वगत' शब्द से पहचानी जाती है।

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्।

नियतश्राव्य जनान्तिक और अपवारित के भेद से दो प्रकार का होता है -

द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम्।

जनान्तिक : वार्तालाप के सन्दर्भ में जो त्रिपताकाकर अर्थात् हाथ के द्वारा अन्यों को बचाकर बहुत से जनों के मध्य में दो पात्र आपस में वार्ता करते हैं वह जनान्तिक नामक नियतश्राव्य कहलाता है।

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।।

अपवारित : जहाँ कोई पात्र मुँह फेरकर किसी दूसरे व्यक्ति की गुप्त बात (रहस्य) कहता है, वह अपवारित कहलाता है।

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ।

नेता/नायक

संस्कृत नाट्याचार्यों के मतानुसार पात्रों की योग्यता के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश आदि भाषाओं की प्रयोग होना चाहिए। नाट्य में नायक ही प्रमुख होता है। वह कथा का प्रधान पात्र ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण कथानक में व्याप्त रहकर उसे फल की ओर भी ले जाता है। दशरूपककार ने नायक के गुण इस प्रकार बताए हैं।

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मीरूढवंश स्थिरो युवा ।।
बुद्धयुत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ।।

नायक विनीत, मधुर, त्यागी चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, पवित्र, वाकपटु, कुलीन वंश में उत्पन्न, मन आदि से स्थिर, युवक, बुद्धि उत्साह. स्मृति-प्रज्ञा-कला तथा मान से युक्त वीर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञाता और धार्मिक होता है। यह नायक ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत के भेद से चार प्रकार का होता है-

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

१. **धीरललित :** कोमल स्वभाव से युक्त, सुखी, चिन्तारहित, कलाओं मे आसक्त रहने वाला नायक धीरललित कहलाता है।

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः।

२. **धीरशान्त :** नायक के विनयादि सामान्य गुणों से युक्त द्विज आदि नायक धीरप्रशान्त कहलाता है।

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।

३. **धीरोदत्त :** उत्कृष्ट अन्तःकरण वाला, अत्यन्त गम्भी,र क्षमाशील, आत्मप्रशंसा ने करने वाला, स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाला, दृढ़वती नायक धीरोदत्त कहलाता है।

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढवत्तः ।।

४. **धीरोद्धत :** जिसमें घमण्ड और ईर्ष्या से युक्त, माया और कपट से भरा हुआ, अहंकारी, चंचल, क्रोधी और आत्मश्लाघा करने वाला नायक धीरोद्धत प्रकृति का नायक होता है।

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ।।

श्रृंगारवृत्ति के अनुसार से नायक के पुनः शठ, दक्षिण, धृष्ट एवं अनुकूल भेद से चार-चार प्रकार होते हैं। अर्थात् 4×4=16 प्रकार के नायक होते हैं। ये सभी नायक पुनः उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार नायक के कुल 16×3= 48 भेद होते हैं।

नाट्य में नायिका भी नायक के साथ नाटकीय कथावस्तु का केन्द्रीय पात्र होती है। आचार्य धनंजय ने दशरूपक में तीन प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है-

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।

नाट्य वृत्तियाँ –

नाट्यशास्त्र में वृत्ति शब्द पात्रों के विशेष व्यवहार के लिये प्रयुक्त किया गया है, परन्तु आचार्य धनञ्जय ने व्यापार के प्रदर्शन को ही वृत्ति अङ्गीकार किया है। यह वृत्ति चार प्रकार ही होती है- 1. कैशिकी, 2. सात्त्वती 3. आरभटी 4. भारती।

सा च कैशिकी सात्त्वती आरभटी भारती भेदाच्चतुर्विधा ।

1. कैशिकी : गीत, नृत्य, विलास आदि श्रृंगारिक चेष्टाओं के कारण कोमल वृत्ति कैशिकी होती है। इसके चार अंग होते हैं - नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः श्रृंगारचेष्टितैः ।
नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका।।"

2. सात्त्वती : जहाँ नायका का व्यापार शोकविहीन होता है तथा यह सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और सरलता आदि भावों से युक्त होती है। इसके संलापक, उत्थापक, सांधात्य और परिवर्तक नामक चार अंग होते हैं।

विशोका सात्त्वती सत्तशौर्यत्यागदयार्जवैः।
संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः ।।

3. आरभटी : माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त आदि चेष्टाओं से युक्त वृत्ति आरभटी कहलाती है।

मायेन्द्रजालसङ्ग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।।

4. **भारती :** भारती नामक वृत्ति तो वाग्व्यापाररूपा वृत्ति है यह आमुख का अंग है।

भारती तु वृत्तिरामुखांगत्वान्तत्रैव वाच्या

चारों वृत्तियों से सम्बन्धित चेष्टाएँ ही रस का उद्बोधन करती हैं। प्राचीन आचार्य रसोपयुक्त वृत्तियों का वर्णन करते हुए श्रृंगार और हास्य रस में कैशिकी, वीर एवं रौद्र रस में सात्त्वती, वीभत्स एवं भयानक रस में आरभटी, करुण एवं अद्भुत रस में भारती वृत्ति के निबन्धन को उचित मानते हैं।

3.5 नाटक के भेद

आचार्यों ने नाट्य को रसाश्रित कहा है ‘‘दशधैवरसाश्रयम्’’ वस्तु, नेता और रस के आधार पर नाट्य द्श प्रकार बताय है –

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा ॥

नाटक –

नाटक रूपकों में सर्वप्रधान है। नाटक की कथावस्तु इतिहास पुराणादि में प्रसिद्ध तथा मुख-प्रतिमुखादि पाँचों सन्धियों तथा वृत्तियों से युक्त होना चाहिए। कम से कम पाँच तथा अधिक से अधिक दश अंक होना चाहिए। नाटक का नायक प्रख्यात वंश का राजर्षि जो कि धीरोदात्त प्रतापी, तथा उदात्त चरित्र से युक्त होता है। वीर अथवा श्रृङ्गार में से एक प्रधान रस होगा अन्य उसके सहयोगी होते हैं। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस की योजना होनी चाहिए। संक्षेप में कहे तो नाटक में सभी अर्थप्रकृतियाँ, कार्यावस्थाए, सन्धियाँ तथा वृत्तियों होती हैं यह अर्थोपक्षेपक पताकास्थानकों रसों तथा अलंकारों से युक्त होने के कारण यह नाटक सर्वलक्षण सम्पन्न होता है।

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासद्धर्द्याणवद्युक्त नानाविभूतिभिः।।
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ।।
प्रख्यातवंशों राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।

दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ।।
एक एव भवेदङ्गी श्रृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे, कार्यो निर्वहणेऽद्‌भुतः ।।
चत्वारः पञ्चवा मुख्याः कार्यव्यापृतपुरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनंतस्य कीर्तितम् ॥

प्रकरण -

प्रकरण का कथानक नाटक की तरह ऐतिहासिक न होकर कविकल्पित हुआ करता है, तथा प्रधान रस श्रृङ्गार होता है। इसमें नायक ब्राह्मण, मन्त्री अथवा वैश्य होता है और जो कि विघ्नयुक्त धर्म, अर्थ एवं काम में संलग्न रहता हुआ धीरप्रशान्त कोटि का होता है। इसमें नायिका कहीं कुलाङ्गना, कही वेश्या और कही दोनों ही हुआ करती है. इसप्रकार नायिका के भेद के आधार पर प्रकरण के तीन भेद हो जाते हैं। शेष सन्धि वृत्ति आदि नाट्यतत्त्व नाटक के समान ही प्रकरण में भी होते हैं।

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
श्रृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ।
सापायधर्म कानार्थपरो धीरप्रशान्तकः ।।
नायिका कुलजा क्वापि, वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्।
तेन भेदास्त्रयस्तस्य, तत्र भेदस्तृतीयकः ।।

भाण –

धूर्तचरित का अभिनयात्मक वर्णन ही भाण है वह चाहे किसी अन्य के द्वारा या स्वयं अनुभूत हो। निपुण, विद्वान् विट नायक रूप में धूर्तचरित का रहस्योद्घाटन करता है। सम्बोधन, उक्ति और प्रयुक्ति आकाशभाषित से प्रस्तुत किया जाता है शौर्य वर्णन द्वारा वीर रस का तथा सौभाग्य के वर्णन से श्रृङ्गार की सूचना दी जाती है। भारतीवृत्ति की अधिकता एक अंक में कल्पित कथावस्तु तथा मुख और निर्वहण सन्धियाँ अंगों सहित होती हैं और लास्य के दश अंग भी होते हैं।

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ।।
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ति कुर्यादाकाशभाषितैः।
सूचयेद्वीरश्रृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवः ।।
भूयसा भारतीवृत्तिरेकाङ्के वस्तु कल्पितम्।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च।।"

प्रहसन –

प्रहसन शुद्ध विकृत तथा सङ्कर के भेद से तीन प्रकार का होता है। **"तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धविकृतसङ्करैः"** जिसमें पाखण्डी, विप्र, चेट, चेटी, विटादि हों और जब इनका चरित्र, वेष, भाषा आदि हास्य वचनों से युक्त हो तो शुद्ध प्रहसन होता है –

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ।
चेष्टितं वेषमाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।।

कामुकादि की वेष, भाषा को धारण करने वाले कञ्चुकी, नपुंसक और तपस्वियों से जो हास्य उत्पन्न हुआ करता है यह विकृत प्रहसन होता है। वीथी से युक्त तथा धूर्तों से भरा हुआ प्रहसन संकीर्ण कहा जाता है। और इस प्रहसन में छः प्रकार के हास्य का सातिशय वर्णन होना होता है।

कामुकादिवचोवेषैः षण्ढकञ्चुकितापसैः
विकृतः सङ्कराद्वीथ्या संकीर्णं धूर्तसकुलम् ।
रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ।।"

डिम –

डिम की कथावस्तु प्रख्यात होती है। इसमें कैशिकी वृत्ति को छोड़कर अन्य तीन वृत्तियों रहती हैं। इसमें नायक देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग, भूत, प्रेत, विशाच आदि 16 अत्यन्त धीरोद्धत कथापुरूष होते है। इसमें हास्य और श्रृङ्गार को छोड़कर अन्य छः दीप्त रस होते है। माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, घबराहट आदि चेष्टाएँ सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के दृश्य भी होते हैं। अङ्गीरस न्यायोचित रौद्र होता है। चार अंक होते हैं तथा विमर्श को छोड़कर चार सन्धियाँ हुआ करती है।

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद् वृत्तयः कैशिकी विना।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ।।
भूतप्रेतपिशाचाद्या षोडशात्यन्तमुद्धताः ।
रसैरहास्यश्रृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ।।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ।।
चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः ।।

व्यायोग –

व्यायोग की कथावस्तु प्रख्यात होती है, जिराका आश्रय कोई ख्यात उद्धत पुरूष होता है। गर्भ और विमर्श रान्धि का प्रयोग नहीं होता, डिग की भौति ही रसयोजना होती है अर्थात् छः दीप्त रस होते है। इसमें ऐसा युद्ध होता है जिसका कारण रत्री नहीं होती है. जैसे जामदग्न्य जय में इसकी कथावस्तु एक दिन की घटना पर आधारित होती है जो एक अंक में वर्णित होता है और अनेक पुरुष पात्र होते हैं।

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा।
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।।

समवकार –

समवकार में नाटक के समान आमुख होना चाहिए। इसमें देव तथा असुरों की प्रख्यात कथा होती है। विमर्श को छोड़कर चार सन्धियाँ तथा कैशिकी को छोड़कर तीन वृत्तियाँ होती हैं। इतिहास प्रसिद्ध उदात्त प्रकृति के देव दानब कुल 12 नायक होते हैं तथा सभी के प्रयोजन भिन्न भिन्न होते है। वीर रस की बहुलता रहती है। इसके तीन अंको में तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के श्रृङ्गार, और तीन प्रकार के विद्रय होते है। प्रथम अंक में दो सन्धियों 24 घटी के कार्य वाली होती है शेष दो अंक में क्रमशः आठ और चार घड़ी में पूरी हुई घटना होती है। इसमें तीन प्रकार के कपट स्वभावकृत,

दैवकृत, और अरिकृत होते हैं। नगर का घेरा, युद्ध. तूफान, अग्नि आदि के कारण विद्रय (भगदड) होती है। श्रृङ्गार से रहित तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ और काम होते हैं। बिन्दु और प्रवेशक भी इसमें नहीं होते। इसमें प्रहसन की भाँति वीथ्यङ्गों का प्रयोग यथावसर होना चाहिए।

कार्य समवकारो आमुखं नाटकादिवत् ।।
ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु सन्धयः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः ।।
द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक् ।
बहुवीरा रसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्धने ।
अकैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिश्रृङ्गारस्त्रिविद्रवः ।।
द्विसन्धिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः।
चतुर्द्धिनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम्।
वस्तुस्वभावदैवारिकृता स्युः कपटास्त्रयः ।।
नगरोपरोध युद्धे वाताग्न्यादिषु विद्रवाः ।
धर्मार्थकामैः श्रृङ्कारो नात्र बिन्दूप्रवेशकौ ।।
वीध्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा ॥

वीथी –

वीथी नामक रुपक में कैशिकी वृत्ति होती है तथा सन्धि, अंग, और अड्क भाण के समान होते हैं। अर्थात् मुख और निर्वहण सन्धियाँ तथा एक अंक होता है। प्रधान रस श्रृङ्गार सूच्य होता है। वह विभाव की असमर्थता से पूर्णतया समुदित नहीं होता है। अन्य रस भी यत्र तत्र अंग रूप में आते हैं। रुपक का यह भेद प्रस्तावना के उद्घात्यकादि अंग से समन्वित होता है। इस प्रकार वीथी एक या दो पात्रों द्वारा प्रयुक्त होती है।

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्गैस्तु भाणवत् ।
रसः सुच्यस्तु श्रृङ्गारः स्पृशेदपि रसोत्तरम् ।।
युक्ता प्रस्तावना ख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः ।
एवं वीथी विधातव्या द्वयेकपात्रप्रयोजिता।।"

अंक –

अंक नामक रूपक की कथावस्तु प्रख्यात होती है जिसका कल्पना द्वारा विस्तार किया जाता है। इसमें करूण रस अंगी होता है और नायक प्राकृत भाषी होते है। सन्धि, वृत्ति और अंक भाण के समान ही रखे जाते है। इसमें स्त्रियों का विलाप वाग्युद्ध, तथा जय पराजय का वर्णन होता है।

उत्सृष्टिकाके प्रख्यातं वृत्तं बुद्धया प्रपञ्चयेत् ।
रसस्तु करूणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः।।
भाणक्तसन्धिवृत्त्यङ्गैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ।
वाचायुद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ।।

ईहामृग –

ईहामृग की मिश्रितकथावस्तु चार अंको तथा तीन सन्धियों में विभक्त होती है। इसमें नायक और प्रतिनायक वैकल्पिक रूप से प्रख्यात और धीरोद्धत होते हैं। प्रतिनायक भूल अथवा दुर्भाग्यवशात् अनुचित कार्य कर जाता है। दिव्य स्त्री की अपहरणादि द्वारा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले नायक के वर्णन से श्रृङ्गाराभास को भी कुछ कुछ दिखाया जाता है। युद्ध को चरमावस्था में पहुँचाकर किसी न किसी बहाने से उसका निवारण कर देना चाहिए। बध की अवस्था प्राप्त होने पर भी महाईमा नायक का वध नहीं करना वाहिए।

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्क त्रित्तन्धिमत् ।
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ।
ख्यातौ धीरोद्धातावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ।।
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
श्रृङ्गारामासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चितप्रदर्शयेत् ।।
संरम्भं परमानीय युद्ध व्याजान्निवारयेत्।
बधप्राप्तस्यकुर्वीत वधं नैव महात्मनः।।

इस प्रकार दशरूपकों के लक्षण का अनुपालन और निर्माण प्रसिद्ध नाटकों के इतिवृत्तों का अनुशीलन तथा कवियों की अन्य नाट्य रचनाओं का अध्ययन करके कवि अपने नाट्यप्रबन्ध की रचना करे। जिसमें अलंकारों से युक्त उदार एवं मधुर वाक्य विन्यास तथा स्पष्ट एवं सरल छन्दों के प्रयोग दर्शनीय हो।

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान् ।
कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं-
वाक्यैरूवारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः।।

इस प्रकार नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार नाट्य के स्वरूप तथा उसके भेदों का वर्णन यहाँ किया गया, सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि नाटक सभी रूपक प्रकार का प्रतिनिधित्व करता है। प्रायः सभी आचार्यो ने नाट्य के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने के लिए उदाहरण रूप में नाटक को ही अपनी दृष्टि में रखा है।

3.7 सारांश

प्रिय शिक्षार्थियों!

इस इकाई में आपने नाट्यविद्या की उत्पत्ति और उसके स्वरूप को गहराई से समझने का प्रयास किया। नाट्य के उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। इनमें दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त में यह माना गया कि नाट्य ईश्वरीय प्रेरणा से प्रकट हुआ और इसका उद्देश्य लोककल्याण एवं मनोरंजन है। छायानाटक सिद्धान्त में नाट्य को मूल जीवन के प्रतिबिम्ब के रूप में देखा गया है। पुत्तलिका नृत्य सिद्धान्त यह दर्शाता है कि प्राचीन समाज में कठपुतलियों एवं नृत्याभिनय की परम्परा से नाट्यकला का विकास हुआ। वहीं वीरपूजा सिद्धान्त के अनुसार, नाट्य का उद्गम वीरों की स्मृति, पूजा और उनके पराक्रम के प्रदर्शन से सम्बन्धित है। इन सभी सिद्धान्तों से

यह स्पष्ट होता है कि नाट्य का मूल स्रोत केवल एक नहीं, बल्कि अनेक सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रेरणाएँ रही हैं।

इसके उपरान्त आपने नाट्यविद्या के विभिन्न अंगों का भी अध्ययन किया। इसमें नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति, कथावस्तु के भेद, अर्थप्रकृतियाँ, कार्यवस्थाएँ, पंचसन्धियाँ तथा नायक के विभिन्न भेदों का विस्तारपूर्वक परिचय प्राप्त किया। इन सभी विषयों ने नाट्यशास्त्र की वैज्ञानिक संरचना और उसकी व्यापकता को स्पष्ट किया।

इसी क्रम में आपने नाट्य के भेदों का भी अध्ययन किया, जिनमें नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी और अंक—ये दस भेद प्रमुख माने जाते हैं। प्रत्येक भेद की अपनी विशिष्टता है, जैसे कि नाटक में गम्भीरता और रसात्मक पूर्णता होती है, प्रकरण में सामाजिक और लौकिक प्रसंगों का चित्रण होता है, जबकि प्रहसन हास्यप्रधान होता है। इस प्रकार आपने नाट्य के विविध रूपों और उनकी महत्ता को समझा।

3.7 बोध प्रश्न

प्रश्न -1 दूतांगग़ाद किससे सम्बन्धित माना गया है

(क) महाभारत

(ख) रत्नावली

(ग) महाभाष्य

(घ) रामायण

प्रश्न -2 नाट्यवेद की शिक्षा सर्वप्रथम भगवान शिव ने किस को दी थी

(क) विष्णु

(ख) ब्रह्मा

(ग) पार्वती

(घ) भरतमुनि

प्रश्न -3 नाट्य को कौन सा वेद माना गया है

(क) द्वितीय

(ख) तृतीय

(ग) प्रथम

(घ) पंचम

प्रश्न -4 आचार्य धनंजय ने दशरूपक में कितने प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है

(क) चार

(ख) तीन

(ग) पांच

(घ) आठ

प्रश्न -5 नाट्यशास्त्र किस कवि की रचना है

(क) पतंजलि

(ख) भरतमुनि

(ग) शंकर पांडुरंग

(घ) वराहमिहिर

प्रश्न -6 किस वेद में गायन का प्रयोग बताया है

(क) यजुर्वेद

(ख)अथर्ववेद

(ग) सामवेद

(घ) ऋग्वेद

प्रश्न -7 किस शब्ताब्दी के पश्चात् शारदातनय ने नाट्यशास्त्र की विविध सामग्री का उपयोग किया

(क) आठवीं

(ख)दसवीं

(ग) बारहवीं

(घ) ग्यारहवीं

प्रश्न -8 दशरूपक के अनुसार नाट्य के कितने भेदक तत्व है

(क) चार

(ख)दो

(ग) तीन

(घ) पांच

प्रश्न -9 संवाद अथवा नाट्यधर्म की दृष्टि से कथावस्तु कितने प्रकार की मानी गई है

(क) तीन

(ख)दो

(ग) पांच

(घ) आठ

प्रश्न -10 घमंड और ईर्ष्या से युक्त प्रकृति का नायक कौन होता है

(क) धीरोद्धत

(ख)धीरललित

(ग) धीरशांत

(घ) धीरोदत्त

उत्तर – प्रश्न-1 रामायण, प्रश्न-2 ब्रह्मा, प्रश्न-3 पंचम, प्रश्न-4 तीन, प्रश्न-5 भरतमुनि, प्रश्न-6 सामवेद, प्रश्न-7 - दसवीं,

प्रश्न-8 तीन, प्रश्न-9 तीन, प्रश्न-10 धीरोद्धत

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नाट्यशास्त्रम्, भरतमुनि, बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी,
2. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

3. संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी
4. नाट्यशास्त्र, बाबूलाल शुक्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
5. नाट्यशास्त्रम्, भरमुनिप्रणीतं (हिन्दी व्याख्या सहित) , प्रो. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली

3.7 उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बल्देव उपाध्याय, शारदा निकेतन वाराणसी
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ. उमाशंकर शर्मा, चौखम्भा, साहित्य एकेडमी, वाराणसी
3. नाट्यशास्त्रम्, भरतमुनि, बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी,
4. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
5. संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी
6. नाट्यशास्त्र, बाबूलाल शुक्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
7. नाट्यशास्त्रम्, भरमुनिप्रणीतं (हिन्दी व्याख्या सहित) , प्रो. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली

3.7 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1- नाट्यविद्या के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए

प्रश्न 2 – पंचसन्धियों का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।

प्रश्न 3 – नाट्क के भेदों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4 – नाट्यविद्या के विभिन्न अंगों का वर्णम कीजिए।

प्रश्न 5 – नायक के भेदों का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।

खण्ड- दो (Section-B)
योग एवं आयुर्वेद विद्या

इकाई. 1 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा

1.4 आयुर्वेद का प्रयोजन

1.5 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास

1.5.1 आयुर्वेद का उद्भव

1.5.2 आयुर्वेद का विकास

1.6 सारांश

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास से सम्बन्धित है। वेद विश्व-संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं। वेदों में ज्ञान विज्ञान का अनन्त भण्डार है। अतः मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है अर्थात वेदों में सभी प्रकार का ज्ञान और विज्ञान निहित है। आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से वेदों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि चारों वेदों में आयुर्वेद के विभिन्न अंगों और उपांगों का यथास्थान विशद् वर्णन हुआ है। वैदिक वाङ्मय वट वृक्ष के समान विशाल है और समस्त ज्ञान और विज्ञान को अन्तर्भूत किए है। चिकित्साशास्त्र का मुख्य उपजीव्य अथर्ववेद है। इसका कारण यह है कि इसमें रोगों की चिकित्सा का अन्य संहिताओं की अपेक्षा विस्तृत वर्णन है।आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है।आयुर्वेद रूपी सूर्य आकाश मण्डल में अपनी शाश्वत किरणों का लोककल्याण रूपी प्रकाश अनादिकाल से फैला रहा है। इस इकाई में आप आयुर्वेद का अर्थ, परिभाषा और आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास का भली-भाँति अध्ययन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- आयुर्वेद को जान सकेंगे।
- आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा को जानेंगे।
- आयुर्वेद के उद्भव एवं विकास के बारे में जान सकेंगे।
- आयुर्वेद के ज्ञान की अविरल धारा को जान सकेंगे।

1.3 आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा

विश्व में उपलब्ध साहित्यों में 'वेद' सबसे प्राचीनतम् ग्रंथ है। 'वेद' शब्द का अर्थ है- '**विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः**'अर्थात जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाए वही वेद है। वेदों की संख्या चार है– जिनके नाम क्रमशः हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है।आयुर्वेद नित्य, शाश्वत एवं अनादि है।'आयुर्वेद'शब्द आयुः+वेद इन दो शब्दों के संयोग से बना है। इसकी निरुक्ति से इसका अर्थ होता है **'आयुषो वेदः'** अर्थात आयु का वेद है। जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु की प्राप्ति हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि- जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है। आयुर्वेद एक विज्ञान है तथा विज्ञान सार्वभौम होता है। प्राचीन आचार्यों ने 'आयु' को इस प्रकार परिभाषितकिया है –

शरीरेन्द्रिय सत्त्वामसंयसोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुचयते।। च.सू 1/42

अर्थात शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ और कार्मेन्द्रियाँ, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। पंचमहाभूत विकारात्मक एवं आत्मा के योगायतन को शरीर कहा जाता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ –श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण हैं।

कार्मेन्द्रियाँ –वाणी, हाथ, पैर, मलद्वार और मूत्रमार्ग हैं।

मन उभयात्मक इन्द्रिय है। आत्मा ज्ञान का अधिकरण है।

'चैतन्यानुवर्तनमायु:' अर्थात चैतन्य की स्थिति को आयु कहा जाता है। और अमरकोष में जीवितकाल को आयु कहा है- **'आयुर्जीवितकाल:'।**

आचार्यों ने आयु को चार भागों में विभक्त किया है। हितायु, अहितायु, सुखायु और दु:खायु चारों आयुओं का वर्णन जिस शास्त्र में हो उस शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं। आयुर्वेद सभी आयुवर्धक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी उपचारों की तथा प्रयोगों की जानकारी देने मे सक्षम है। आयुर्वेद न केवल शरीर-रचना व औषध-संरचना की जानकारी देता है, अपितु भोज्यों के सेवन, पथ्य सेवन, अपथ्य परिहार, जड़ी बूटियाँ, रस, धातुरस इत्यादि के समानता पूर्वक प्रयोग के द्वारा अनेकों असाधारण और असाध्य रोगों के उपचार का ज्ञान भी प्रदान करता है। आयुर्वेद हमे आयु संवर्धन, दीर्घायु, संरक्षण तथा भौतिक शरीर के पुनर्नवीकरण के लिए प्रभावशाली उपकरण भी बताता है।

चार आयुओं का वर्णन-

1. हितायु- जो सबका हित करणे वाला हो, उसकी आयु को हितायु कहा जाता है। जो किसी दूसरे के धन का लोभी न हो, सत्यवादी और शान्तप्रकृति का हो, प्रत्येक कार्य को सोच समझकर करने वाला हो, सावधान रहने वाला, धर्म, अर्थ और काम का बिना किसी विरोध के प्रयोग करता हो, पूज्य जनों की पूजा करता हो, ज्ञानवान् हो, शांति प्रधान हो, वृद्ध जनों की सेवा करने वाला हो और स्मृति शाली हो।

2. अहितायु- हितायु के गुणों से रहित अर्थात विषम गुणों वाला अहितायु है।

3. सुखायु- जो शरीरिक और मानसिक रोगों से रहित हो, उसकी आयु सुखायु कहलाती है। यौवन सम्पन्न हो, बाल-वीर्य-यश-पराक्रम युक्त हो, शास्त्रों का ज्ञाता और व्यवहारज्ञ हो, प्रसन्न और सन्तुष्ट इन्द्रियों से युक्त, समृद्ध और विभन्न प्रकार के उपभोगों से युक्त, जो प्रत्येक सफलता को प्राप्त करने वाला हो और अपनी इच्छानुसार विचार करने वाला हो।

4. दु:खायु-सुखायु के गुणों से रहित अर्थात विपरीत गुणों वाला दु:खायु है।

आयुर्वेद शास्त्र के माध्यम से आयु के स्वरूप और उसकी रक्षा का ज्ञान होता है। हितकर आहार-विहार और आचरण करने से आयु में स्थिरता आ जाती है, अन्यथा अज्ञानतावश असावधानी करने और स्वास्थ्य के नियमों का पालन न करने से आयु का ह्रास होता है अर्थात आयु के रक्षणीय साधनों का उपदेश भी आयुर्वेद द्वारा ही होता है।

1.4 आयुर्वेद का प्रयोजन

आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सापद्धति तथा भारत की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है। वेदों से आयुर्वेद का अवतरण हुआ है। और इसे अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है। प्राचीनकाल से ही सभी आचार्यों ने आयुर्वेद के दो प्रयोजनों को माना है- **"प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकार-प्रश्नं च।"**एक तो स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना

और दूसरा रोगियों के रोगों का निवारण करना ।प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या सद् वृत्त तथा त्रिविध उपस्तंभों का पालन आयुर्वेद के अनुसार करना चाहिए। आचार्यों का मत है कि इन उपायों के द्वारा मानव शरीर को क्षेत्ररूपी और बीजरूपी व्याधि उत्पन्न करणे वाले जीवाणुओं से सुरक्षा की जा सकती है। रोग से ग्रसित हो जाने पर रोगी के रोग का निवारण करना आयुर्वेद के दूसरे प्रयोजन के अंतर्गत आता है। प्राचीन कालीन भारत में मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानी जाती थी। **'शतायुर्वै पुरुष:' ।** कुछ मनुष्य इससे कम और कुछ अधिक भी जीवित रहते हैं, परन्तु कालान्तर में जब शरीरिक और मानसिक रोगों के कारण जब मानव की आयु का मान घटने लगा तो अल्पायु के भयवश रोगों के निवारण व आयु के मान की रक्षा के लिए जिन उपायों को बताया गया उन संग्रहीत उपायों ने आयुर्वेद का रूप ले लिया।

वाग्भट जी ने आयुर्वेद के प्रयोजन के विषय में लिखा है कि-

आयुकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ।।अष्टाङ्ग हृदयम् 1.2

अर्थात् मानव जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष आदि का साधन आयु है। इसलिए आयु चतुष्टय की इच्छा करने वाले को आयुवेद के उपदेशों का आदर करना चाहिए। आयुर्वेद एक ऐसा शास्त्र है जो पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त करता है। वह आरोग्य जीवन प्रदान करता है। क्योंकि रोगी व्यक्ति न तो धार्मिक क्रियाएँ कर सकता है, न धनार्जन कर सकता है, न जीवन की सुख सुविधाओं का आनन्द ले सकता है, न मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है, उसका स्वयं का जीवन जीना भी कठिन हो जाता है। लेकिन आयुर्वेद ऐसा शास्त्र है, जो इन पुरुषार्थों को प्राप्त करा सकता है। आयुर्वेद मानव को आरोग्य जीवन प्रदान कराता है और जीवन दान से बढ़कर कोई दान नहीं होता- **'नहि जीवितदानाद्धि विशिष्यते'** (चरकसूत्र)। अतः आयुर्वेद एक पुण्यतम वेद है। ऋग्वेद आदि परलोकहित साधक होने के कारण पुण्य वेद माने जाते हैं, परन्तु आयुर्वेद लोकहित साधक के साथ-साथ परलोकहित साधक तथा आरोग्य को प्रदान करने के कारण महान और धर्मसाधन के कारण पुण्यतम वेद माना गया है।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः ।

वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।। च.सू. 1/43

वेद-वेदांगों का अध्ययन-अध्यापन या यज्ञादि का अनुष्ठान करने वाले विद्वान जब अस्वस्थता को प्राप्त हो जाते हैं तो उनके आर्य अवरुद्ध हो जाते हैं तो उन्हें आरोग्य लाभ के लिए किसी चिकित्सक की शरण में जाना पड़ता था, चिकित्सक के पास जाकर ही पुनः वे अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए समर्थ हो पाते हैं।

1.5 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास

आचार्य चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत कहा है। क्योंकि जब से 'आयु' (जीवन) का प्रारम्भ हुआ और जब से जीव को ज्ञान हुआ तभी से आयुर्वेद की सत्ता प्रारम्भ होती है। आचार्य सुश्रुत ने यहाँ तक कहा है कि- ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की जिससे प्रजा उत्पन्न होने पर इसका उपयोग कर सके। इससे भी आयुर्वेद का शाश्वतत्व सिध्द होता है। सभी संहिताकारों ने ब्रह्मा से ही आयुर्वेद का प्रादुर्भाव बताया है। आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद

रोग को समूल नष्ट करता है ।आयुर्वेद रूपी सूर्य आकाश मण्डल में अपनी शाश्वत किरणों का लोककल्याण रूपी प्रकाश अनादिकाल से फैला रहा है।

1.5.1 आयुर्वेद का उद्भव

आयुर्वेद अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है। वेद केवल हमारे धर्मग्रन्थ ही नहीं हैं, अपितु वे मानव की सभी समस्याओं का समाधान करने वाले ग्रन्थ हैं। इनकी उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषयों का बाहुल्य होने के कारण इसे अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। अतः आयुर्वेद का वेदों से घनिष्ट सम्बन्ध है। संसार के सभी प्राणियों की इच्छा होती है कि वह सुखमय दीर्घ जीवन जियें। सभी शास्त्र मनुष्य को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकार के दु:खों से निवृत्ति का मार्ग बतलाते हैं, परन्तु उनमें बताए गए नियमों का पालन करने के लिए उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्य आवश्यक है। आयुर्वेद शास्त्र के उपदेशों को दो भागों में विभाजित किया गया है-

1. दैवीय उपदेश (ज्ञान)
2. लौकिक उपदेश (ज्ञान)

दैवीय उपदेश- सर्वप्रथम ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया। दक्ष प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने और उनसे इन्द्र ने प्राप्त किया। ब्रह्मा से आयुर्वेद के प्रादुर्भाव आख्यान इस बात का संकेत करता है कि आयुर्वेद अनादि काल से है ।दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार तथा इन्द्र ऐतिहासिक व्यक्ति थे या मिथ्या इस विषय में अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। परंतु यह ज्ञात होता है कि की परम्परा तक वह देवलोक तक ही सीमित था । उसका रूप प्रागैतिहासिक था । भारतीय परम्परा में विद्याओं का स्रोत ब्रह्मा से प्रारम्भ होकर इन्द्र तक माना जाता है। ब्रह्मा से लेकर इन्द्र तक की परम्परा दैवीय परम्परा कही जाती है।

लौकिक उपदेश- सतयुग में सभी मानवों का आचार-व्यवहार पवित्र था और पृथ्वी, जल, वायु, देश, काल, औषध और धान्य आदि सभी अपने गुणों से सम्पन्न और समृद्ध थे । सभी प्राणी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह की प्रवृति से युक्त थे। धर्म परायण और सात्विक मनोवृत्ति होने के कारण उनका स्वास्थ्य भी उत्तम था। उनका शरीर निरोग तथा मन, सभी इन्द्रियाँ और अन्तरात्मा प्रसन्न थे। वे बलवान और ओजवान थे। जब प्राणी आलसी होते जा रहे थे। उनमें उत्साह और क्रियाशीलता कम हो रही थी। जीवन की सामग्रियों को संञ्चय करने की प्रवृति जागने लगी और संचय ने लोभ को स्थान दिया। लोगों ने धर्म और सदाचार के मार्ग को छोड़कर एक दूसरे पर आक्रमण कर एक दूसरे को हानि पहुँचाने लगे। इस अधर्म और अनाचार का प्रभाव प्रकृति के उपादानों पर भी पड़ने लगा। पृथ्वी, जल, देश, काल, औषध और खाद्य पदार्थों के गुणों में कमी हो गई। आहार-विहार के दोष से शरीर में अग्नि विषमता, धातुओं में कमी और शारीरिक क्रियाओं में व्यतिक्रम के कारण रोगों ने शरीर पर आक्रमण कर दिया। मानव रोगों से आक्रान्त हो गया। उसकी दिनचर्या अव्यवस्थित हो गई। वह अशान्त और बेचैन हो गया। उसके सभी कार्यों में रोगों ने एक रुकावट ला दी। विविध रोगों से आक्रान्त सभी वर्गों के प्राणियों के कष्टमय जीवन से दुखी होकर दयालु ऋषियों ने हिमालय के समीप एक गोष्ठी का आयोजन किया। इसमें समस्त ऋषि गण पधारे जिसमें अंगिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, आत्रेय, अगस्त्य, विश्वामित्र, मार्कण्डेय, आश्वलायन,

परीक्षित, गार्ग्य, कात्यायन, काकायन, हिरण्याक्ष, मैत्रेय आदि अनेक महर्षि उपस्थित हुए। महर्षि ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी, यम-नियम-दम युक्त थे। गोष्ठी में वे इस प्रकार विचार विमर्श करने लगे कि आरोग्य धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान साधन है, परन्तु वर्तमान में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होकर आरोग्य को नष्ट कर रही है। इसलिए इन रोगों की शान्ति के लिए इनसे बचने का उपाय खोजा जाए। यह वृतान्त चरकसंहिता में प्राप्त है-

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ।।
प्रादुर्भूत मनुष्याणामन्तरायो महानयम्।
कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः ।। (च.सू.1/15-16)

रोगों की समस्या के लिए सभी ने विचार विमर्श किया और सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि देवराज इन्द्र ही रोगों से बचा सकते हैं, उन्हीं के पास रोगों की शान्ति का उपाय है, परन्तु सभी के सामने यह समस्या थी कि देवराज इन्द्र के पास कौन जाए। इस बात को सुनकर महर्षि भरद्वाज ने कहा कि इस कार्य के लिए मेरी नियुक्ति की जाए- **अहमर्थे नियुज्येऽयमत्रेति प्रथमं वचः । भरद्वाजोऽब्रवीतस्माद् ऋषिभिः स नियोजितः।** च.सू.1/191

सभी ने एकमत होकर इस बात को स्वीकार कर लिया।

इन्द्र के द्वारा भरद्वाज ऋषि को आयुर्वेद का उपदेश-

भरद्वाज ऋषि इन्द्र के पास गए और तब उन्होंनेमहर्षियों के विचार-विमर्श का सार इन्द्र को सुनाया कि मृत्युलोक में अनेक रोग उत्पन्न हो गए हैं। आप उन रोगों की शान्ति का उपाय बताने की कृपा करें। इसके पश्चात भरद्वाज को पुण्य तथा शाश्वत आयुर्वेद का उपदेश दिया, जिसके प्रथम ज्ञाता ब्रह्मा थे।

भरद्वाज ऋषि द्वारा उपदेश- भरद्वाज ने जो आयुर्वेद का ज्ञान इन्द्र से प्राप्त किया उसका ज्ञान उन्होंने ऋषियों को दिया। आत्रेय उनमें प्रमुख ऋषि थे।

आत्रेय के शिष्य- भरद्वाज ऋषि से प्राप्त ज्ञान को आत्रेय ने अपने छः शिष्यों को दिया। उनके छः शिष्यों के नाम इस प्रकार है- अग्निवेश, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि। उस ज्ञान को ग्रहण करके उन्होंने अपनी-अपनी संहिताएं रची। अग्निवेश संहिता प्रथम थी, इसी संहिता का आगे चलकर चरक और दृढ़बल ने प्रतिसंस्कार किया ऑउए वह **'चरकसंहिता'** के नाम से लोक में सबसे अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। आज भी वह प्रधान संहिता मानी जाती हैं।

संहिताओं की रचना –आत्रेय के समय का जीवन रोगग्रस्त था और उसके उपचार की भी कोई व्यवस्था नहीं थी। इसी काल से आयुर्वेद का लौकिक ज्ञान प्रारम्भ होता है। त्रिस्कन्ध का विस्तार होकर संहिता ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ होने लगी।आयुर्वेद शास्त्र को पृथ्वी पर लाने का श्रेय महर्षि भरद्वाज को जाता है। भरद्वाज ऋषि ने सभी प्राणियों के हित के लिए आयुर्वेद का प्रचार-प्रसार इस पृथ्वी पर किया और स्वयं भी आरोग्य सम्पन्न दीर्घायु हुए- **'तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितम्।'** (च.सू. 1/24)

आत्रेय के दूसरे शिष्यों में भेल हैं, जिनकी भेलसंहिता है, परन्तु यह खण्डित अवस्था में प्राप्त होती है। इसके मुख्य अंश लुप्त और नष्ट हो गये हैं। जूतकर्ण, पराशर और क्षारपाणि रचित संहिताएं भी आज

उपलब्ध नहीं हैं । केवल उनके उद्धरण यहाँ-वहाँ प्राप्त होते हैं । हारीत द्वारा रचित हारीतसंहिता भी उपलब्ध नहीं है । जो हारीतसंहिता वर्तमान में प्राप्त होती है, वह किसी परवर्ती विद्वान द्वारा रचित प्रतीत होती है । क्योंकि इसकी भाषा शैली में वास्तविकता का अभाव है । आत्रेय के शिष्यों ने आयुर्वेद के ग्रंथों का निर्माण कर उसको विस्तार प्रदान किया है ।

आचार्य चरक के अनुसार आयुर्वेदावतरण

चरक संहिता में भरद्वाज का नाम नहीं आया है । आत्रेयआदि ऋषियोंनेसाक्षात इन्द्र से आयुर्वेद के ज्ञान की प्राप्ति की थी- **"हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्य पुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः"** इस अंश को कतिपय विद्वान अधिक प्रमाणिक मानते हैं, क्योंकि भरद्वाज का इसमें उल्लेख नहीं है और न इनकी शिष्य परम्परा का । ऋषि गण के ग्राम्यवास और ग्राम्य अन्न गोधूम आदि के कारण उनके शरीर स्थूल और मेदस्वी हो गए । उनकी शरीरिक क्रियाएँ भी मन्द पड़ गई और उनका स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वे अपना दैनिक जीवन का निर्वाह ठीक प्रकार से करने में असमर्थ हो गए । फिर सभी ऋषि गणों ने विचार किया की ग्राम को छोड़कर हिमालय पर जाया जाए । क्योंकि वह अमराधिपति इन्द्र द्वारा सुरक्षित है । यह निश्चय करके भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि महर्षि हिमालय पर चले गये । इन्द्र ने सभी महर्षियों का स्वागत किया और ग्राम वास को दोषों का मूल कारण बताया । इन्द्र ने कहा कि आपने अपने शरीर की रक्षा करके प्रजा को अनुग्रहीत किया है और आयुर्वेद के ज्ञान का उपयुक्त समय बताया और इसके कारण दो लाभों की प्राप्ति होगी । पहला स्वयं की रक्षा, दूसरा प्रजा की भलाई । यह आयुर्वेद का उपदेश मैंने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दक्ष प्रजापति से और दक्षप्रजापति ने ब्रह्मा से प्राप्त किया है । प्रजा की आयु अल्प है और उसमें जरा एवं अनेक व्याधियाँ हैं इसी कारण तप, दम, नियम, दान, अध्ययन तथा सम्पत्ति का लाभ प्राप्त नहीं कर पाते । परन्तु आयुर्वेद आयुवर्द्धक, जरा-व्याधि-नाशक, ओजस्, उत्साहवर्धक तथा अमृत के समान है । यह पवित्र ज्ञान है । यह कल्याण एवं रक्षक है । यह उच्चकोटी का ज्ञान है । इसलिए आप इसे पढिए, सुनिए, समझिए और इसका प्रचार-प्रसार करके प्रजा को अनुग्रहीत कीजिए । यह महान वेद है और महर्षियों का ज्ञान है । इन्द्र के इन मधुर वचनों को सुनकर वहाँ उपस्थित महर्षियोंने इन्द्र की वेद की ऋचाओं द्वारा स्तुति की और प्रसन्नतापूर्वक उनका अभिनन्दन किया । इसके बाद इन्द्र ने उन महर्षियों को आयुर्वेद रूपी अमृत का ज्ञान दिया और औषधि निर्माण की भी शिक्षा प्रदान की । दिव्य औषधियों से उन्हें परिचित कराया ।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार आयुर्वेदावतरण

सुश्रुतसंहिता में सृष्टि के पूर्व ही ब्रह्मा के द्वारा आयुर्वेद के प्रादुर्भाव का उल्लेख है । आयुर्वेदावतरण का आचार्य चरक के समान ही वर्णित क्रम है केवल आत्रेय के स्थान पर धन्वन्तारि का नाम आया है । इन्द्र से धन्वन्तारि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर अपने शिष्यों सुश्रुत प्रभृति को इसमें शिक्षित किया ।

धन्वन्तरि का आयुर्वेद उपदेश- ब्रह्मा जी ने ब्रह्मसंहिता की रचना की थी । जो कि एक हजार अध्यायों में एक लाख श्लोकों में निबद्ध है । इसके बाद मनुष्यों की आयु कम होने के कारण आयुर्वेद को आठ अंगों में विभाजित कर दिया । आयुर्वेद के आठ अंग इस प्रकार से हैं-

1. **शल्यतन्त्र 2. शालाक्यतन्त्र 3. कायचिकित्सातन्त्र 4. भूतविद्यातन्त्र**

5. कौमारभृत्यतन्त्र 6. अगदतन्त्र 7. रसायनतन्त्र 8. वाजीकरणतन्त्र

आयुर्वेद को इस प्रकार से आठ अंगों में विभक्त किया गया है। धन्वन्तरि जी ने अपने शिष्यों से यह पूछा कि तुम्हें किस तंत्र का ज्ञान प्राप्त करना है ? तब शिष्यों ने उन्हें **शल्यतन्त्र**प्रधान आयुर्वेद का उपदेश देने को कहा। धन्वन्तरि ने **'एवमस्तु'** कहा और उपदेश प्रारम्भ किया।

धन्वन्तरि ने आयुर्वेद के दो प्रयोजन कहे- रोगी के रोग की मुक्ति और स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण।

कश्यपसंहिता-कश्यप मत में भी प्रायः इसी प्रकार का आख्यान है । इसके अनुसार स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की उनसे क्रमशः यह ज्ञान दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार और इन्द्र को प्राप्त हुआ । कश्यप, वशिष्ट, अत्रि और भृगु इन चार ऋषियों ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया और पुनः अपने पुत्रों और शिष्यों को दिया।

दक्ष प्रजापति से **अष्टांगसंग्रह** में आयुर्वेद के ज्ञान के बारे में इस प्रकार उद्धृत किया है- आत्रेय, धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप आदि महर्षियों ने इन्द्र से ज्ञान प्राप्त किया । **अष्टांगहृदय** और **भावप्रकाश** में आत्रेय को इन्द्र से ज्ञान प्राप्ति की बात उद्धृत है। आत्रेय ने अपने शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश देकर इस शास्त्र को विस्तार प्रदान किया।

आयुर्वेद के तीन सम्प्रदाय माने जाते हैं पहला आत्रेय-सम्प्रदाय यह चरक की परम्परा में है । दूसरा धान्वन्तर-सम्प्रदाय यह सुश्रुत परम्परा में है और तीसरा काश्यप सम्प्रदाय यह कश्यप की परम्परा है। लेकिन इनके साथ ही एक पौराणिक परम्परा भी प्राप्त होती है जिसे **'भास्करसम्प्रदाय'** कहा जाता है। चारों वेदों को देखकर प्रजापति ने चिन्तन किया और अन्य आयुर्वेद नामक पंचम वेद का निर्माण किया इसी वेद को भास्कर नाम दिया। भास्कर ने इसी के आधार पर एक स्वतन्त्र संहिता का निर्माण किया जो **'भास्करसंहिता'** कहलाई। अपने 16 शिष्यों को भास्कर ने आयुर्वेद का ज्ञान दिया और उन्होंने भी अपनी-अपनी संहिताएँ रची। इनका विवेचन पुराणों में प्राप्त होता है। भास्कर के शिष्य और उनके ग्रन्थ निम्नलिखित है-

1. धन्वन्तरि - चिकित्सातत्त्वविज्ञान।
2. दिवोदास - चिकित्सादर्पण।
3. काशिराज - चिकित्साकौमदी।
4. अश्विनीकुमार - चिकित्सासारतन्त्र।
5. नकुल - वैद्यकसर्वस्व।
6. सहदेव - व्याधिसिन्धुविमर्दन।
7. यम - ज्ञानार्णव।
8. च्यवन - जीवदान।
9. जनक - वैद्यसन्देहभंजन।
10. बुध - सर्वसार।
11. जाबाल - तन्त्रसार।
12. जाजलि - वेदाङ्गसार।
13. पैल - निदान।

14. कवथ - सर्वधर।

15. अगस्त्य - द्वैधनिर्णयतन्त्र।

आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है। इसका ज्ञान सर्वदा रहा है। ब्रह्मा को आयुर्वेद का ज्ञान था और क्रमशः यह देवलोक से मृत्युलोक पर इसका प्रचार हुआ। ऋषियों की स्वाध्याय परम्परा में अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण ये चार अवस्थाएँ मानी थी। ज्ञान इन चार स्तरों के द्वारा परिपक्वता को प्राप्त करता है। आयुर्वेद रूपी ज्ञान गङ्गा हमेशा प्रवाहित रही है और अनेक स्रोतों से इसमें ज्ञानवारि की धारा का मिश्रण हुआ है। मानव को जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जब वह स्वस्थ और निरोग हो और उसका ज्ञान हमें आयुर्वेद से ही प्राप्त हो सकता है।

1.5.2 आयुर्वेद का विकास

आयुर्वेद आनादि और शाश्वत है। उसका ज्ञान हमेशा रहा है। ब्रह्मा के मुख से निर्गत आयुर्वेद सृष्टि के साथ-साथ चला आ रहा है। भारतीय वाङ्मय में ब्रह्मा को सर्वज्ञानमय माना है। ब्रह्मा को ही सभी संहिताओं और संग्रह ग्रन्थों में आयुर्वेद का प्रथम उपदेश देने वाला बताया गया है। सर्वप्रथम आयुर्वेद का उपदेश ब्रह्मा ने दिया ऐसा बताया गया है और उनका प्रथम ग्रन्थ ब्रह्मसंहिता था। ब्रह्मा ने दक्ष प्रजापति और सूर्य अर्थात भास्कर को आयुर्वेद का उपदेश दिया। जिसके कारण दो परम्परायें विकसित हुई। एक दक्ष परम्परा और दूसरी भास्कर परम्परा। दक्ष परम्परा को सिद्धान्त पक्ष की प्रधान थी और भास्कर परम्परा में चिकित्सा की प्रधानता थी। ब्रह्मा जी से अश्विनीकुमारों ने भी आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की। यह वर्णन गदनिग्रह ग्रन्थ में प्राप्त होता है-

'अश्विनोर्वचनं श्रुत्वा ब्रह्म वचनमब्रवीत्'

पश्चात् अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया, ऐसा चरकसंहिता और आयुर्वेद के दूसरे ग्रन्थों में वर्णित है-**अश्विनीभ्यां भगवान् शक्रः प्रतिपेदे हि केवलम्** (च.सू.1)

चरकसंहिता में कहा गया है कि इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन भरद्वाज तथा भृगु, अंगिरा आदि दस ऋषियों ने किया था। काश्यपसंहिता के अनुसार इन्द्र ने कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु इन ऋषियों को उपदेश दिया। सुश्रुतसंहिता में वर्णन आता है कि इन्द्र से धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया-**इन्द्रादहम्।**

भरद्वाज नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। बार्हस्पत्य भरद्वाज दीर्घायु से सम्पन्न थे। उनकी आयु अमित थी। उनको अमितायु भी कहा जाता था- **'तेनायुरमितं लेभे भरद्वाज सुखान्वितः'** (च.सू. 1/26) भरद्वाज से आत्रेय ने और आत्रेय से अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि इन छः शिष्यों ने आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की। इसके पश्चात इन आचार्यो ने अपनी-अपनी अलग संहिताओं की रचना की। अग्निवेशसंहिता ही चरकसंहिता है और यही आयुर्वेद का प्रमुख और प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य चरक द्वारा अग्निवेशसंहिता का प्रतिसंस्कार किया गया है और इसमें कुछ नए अंशों को समाहित किया गया। चरक के नाम पर ही आगे चलकर इसका नाम चरकसंहिता प्रसिद्ध हुआ।अन्य आचार्यों की संहिता प्राप्त नहीं होती है। एक भेल संहिता है, वह भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है और जो हारीतसंहिता है वह अन्य किसी की रचना है। क्योंकि उसकी भाषा, विषय और शैली संहिता ग्रन्थों से भिन्न है। आयुर्वेद की परम्परा का थोड़ा बहुत अन्तर तो सभी आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। परन्तु सभी ने आयुर्वेद का आदि आचार्य और प्रवर्तक ब्रह्मा को ही माना

है। आयुर्वेद का उदय वैदिक काल से ही प्रकट होता है। इस प्रकार यह आयुर्वेद गङ्गा वैदिक काल से ही विशाल और गम्भीर प्रवाह में बहती है तथा परवर्ती आचार्यों के विचारों की गङ्गा को अपने अंदर समाहित करके सम्पूर्ण विश्व में लम्बे समय से जन-जन के जीवन में व्याप्त है। आयुर्वेद का प्रभाव चिकित्सा जगत में सार्वभौम था और विश्व की सम्पूर्ण चिकित्सा पद्धतियों ने बहुत आयुर्वैदिक विषयों को ग्रहण किया है।प्राचीन आचार्यों ने अनेक संहिता ग्रन्थों की रचना की। उनमें से सभी वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। आयुर्वेद के मूल आचार्य अश्विनीकुमार, इन्द्र तथा भरद्वाज थे। इन्हीं की परम्परा में धन्वन्तरी, आत्रेय, कश्यप और भेड आदि ऋषियों ने आयुर्वेद का उपदेश दिया और चिकित्साशास्त्र में पूर्व के आचार्यों के मतों को निर्देशित किया गया है। सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण ने निबंधसार-संग्रह की रचना की है। इन्होंने सुश्रुत के सहपाठी कांकायन का उल्लेख किया है। आत्रेय के द्वारा वाह्लीक देश के श्रेष्ठ वैद्या के रूप में काकायन का नाम निर्देशित किया है- **'वाह्लीकभिषकया वाह्लीभिषजों वरः'** इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि कांकायन दूसरे देश के होते हुए भी भारतीय वैद्यों के साहचर्य में थे। ये वाह्लीक देश के मुख्य वैद्य और दिवोदास के शिष्य थे। इससे यह सिद्ध होता है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचलन भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में भी था। अतः दूसरे देशों के विद्यार्थी आयुर्वेद की शिक्षा हेतु यहाँ आया करते थे। संभवतः हिरण्याक्ष, पैङ्गल्य आदि आचार्य विदेशी होते हुए भी उनका संपर्क भारतीय चिकित्सकों के साथ था। इसलिए उनके मतों का सम्मान करते संहिताकारों ने अपने ग्रन्थों में निर्देशित किया है। धन्वन्तरि के शिष्यों के नामों से भी यह ज्ञात होता है कि अन्य देशों से अध्ययन हेतु यहाँ आए थे। उनके शिष्य औपधेनेव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य और गोपुरक्षित हैं। भारतीय आयुर्वेद अति प्राचीनकाल से प्रचलित चिकित्सा की पद्धति है। जो अपनी शाखा-प्रशाखाओं में भारत में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में फैला हुआ है। आयुर्वेद की अमृत धारा अनादि काल से प्रवाहित होकर सभी प्राणियों को रोगों से मुक्ति दिलाने का कार्य कर रही है। आयुर्वेद मानवके लिए एक वरदान है।

1.6 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई में आपने आयुर्वेद का अर्थ, परिभाषा और उद्भव एवं विकास का भली-भाँति अध्ययन किया। आपने जाना कि आयुर्वेद अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है। आयुर्वेद विद्वानों द्वारा सम्मानित पुण्यतम वेद है। आयुर्वेद तीनों लोकों के लिए हितकारी है। अतः आयुर्वेद को 'पुण्यतम वेद' की संज्ञा दी गई है।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्॥ च.सू. 1/43

सुश्रुत, चरक, वाग्भट्ट आदि आचार्यों ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है। **'आयुषः पालनं वेदमुपवेदमथर्वणः'**। वेदाङ्ग का अध्ययन करने वाला जब किसी रोग से ग्रस्त होता है, तो वह आयुर्वेद की शरण में जाता है। क्योंकि स्वस्थ पुरुष ही धार्मिक या लौकिक क्रियाओं का सम्पादन कर सकता है। इसलिए आयुर्वेद धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष का मूल कारण है। सृष्टि के प्रारम्भ में जो नियम प्रयोग किये जाते थे। वे आज भी मान्य हैं, आयुर्वेद की चिकित्सा इन्हीं के

आधार पर विश्व चिकित्सा पद्धति में अपना स्थान बनाए हुए है। आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है।आयुर्वेद रूपी सूर्य आकाश मण्डल में अपनी शाश्वत किरणों का लोक कल्याण रूपी प्रकाश अनादिकाल से फैला रहा है।

1.7पारिभाषिक शब्दावली

- सिद्धान्त - निश्चित मत
- चिकित्सा - उपचार, इलाज़
- नष्ट - चौपट, नाश
- संहिता - संयोग, संग्रह, संकलन
- समाहित - व्यवस्थित रूप में एकत्र किया हुआ।
- शाश्वत - सदा रहने वाला, जो कभी नष्ट न हो

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिये।

1. आयुर्वेद किस वेद का उपवेद है ?

(क) ऋग्वेद
(ख) यजुर्वेद
(ग) सामवेद
(घ) अथर्ववेद

2. चिकित्सातत्त्वविज्ञान ग्रन्थ के आचार्य हैं।

(क) धन्वन्तरि
(ख) भरद्वाज
(ग) आत्रेय
(घ) चरक

3. 'पुण्यतम वेद' कहा जाता है।

(क) ऋग्वेद
(ख) आयुर्वेद
(ग) सामवेद
(घ) अथर्ववेद

4. हितायु के गुणों से रहित अर्थात विषम गुणों वाला है।

(क) दुखायु
(ख) सुखायु
(ग) अहितायु
(घ) हितायु

5. आयुर्वेद का आदि आचार्य और प्रवर्तक माना जाता है।

(क) ब्रह्मा

(ख) चरक

(ग) इन्द्र

(घ) अश्वनीकुमार

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिये।

1. सुश्रुतसंहिता के टीकाकार ------------ ने निबंधसार-संग्रह की रचना की है।
2. आयुर्वेद शास्त्र के उपदेशों को ---------- भागों में विभाजित किया गया है।
3. ब्रह्मा जी ने ----------- की रचना की थी। जो कि एक हजार अध्यायों में एक लाख श्लोकों में निबद्ध है।
4. सुखायु के गुणों से रहित अर्थात विपरीत गुणों वाला ----------- है।
5. प्राचीनकाल से ही सभी आचार्यों ने आयुर्वेद के -------- प्रयोजनों को माना है

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. 1 घ, 2 क, 3 ख, 4 ग, 5 क
2. 1 डल्हण, 2 दो, 3 ब्रह्मसंहिता, 4 दुखायु, 5 दो

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आयुर्वेद-परिचय एवं आधारभूत सिद्धान्त।
2. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास।
3. चरक संहिता।
4. सुश्रुतसंहिता।

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
2. आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालिए।

इकाई-2 आयुर्वेद के अनुसार स्वास्थ्य एवं रोगों की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 स्वास्थ्य की परिभाषा एवं स्वस्थ जीवन हेतु आयुर्वेदीय निर्देश

2.3.1 स्वास्थ्य की परिभाषा

2.3.2 स्वस्थ्य जीवन हेतु आयुर्वेदीय निर्देश

2.3.3 आयुर्वेद के प्रमुख उद्देश्य

2.4 रोगों का अर्थ एवं स्वरूप

2.4.1 रोग के भेद

2.5 रोगों का वर्गीकरण एवं रोगोत्पत्ति प्रक्रिया

2.6 सारांश

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.10 निबन्धागत्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

शाब्दिक दृष्टि से देखा जाये तो 'स्वास्थ्य' शब्द संस्कृत के 'स्व' एवं 'स्थ' दो शब्दों से मिलकर बना है। जिनमें 'स्व' से अभिप्राय है स्वयं में अथवा अपने प्राकृत मूल स्वरूप में एवं 'स्थ' से अभिप्राय है स्थित होना। इस प्रकार शरीर का प्राकृत अवस्था अर्थात् रोग एवं पीड़ा रहित प्रसन्न एवं ऊर्जावान स्थिति में होना ही स्वास्थ्य की परिभाषित करता है। शरीर मन इन्द्रियां और आत्मा इन चारों का पूर्ण स्वस्थ होना ही स्वास्थ्य कहलाता है। अतः स्वयं में स्थित होना ही स्वास्थ्य कहलाता है। स्व में शरीर, मन, अंतकरण तथा आत्मा आते है। इन सभी का अपनी जगह में स्थित होना ही स्वास्थ्य है। स्वास्थ्य का अर्थ है - निरोग। जब हम निरोग रहे तथा अपने आप में, सुखस्वरूप आत्मा में स्थित रहे, तभी स्वस्थ कहलाते है।

स्वस्थ की महत्ता सर्वोपरि होने के कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी विवेचन सर्वत्र प्राप्त होता है। प्रत्येक विमर्श में स्वस्थ को विभिन्न रीतियों से परिभाषित करते हुए स्वस्थ रहने के लिए आदर्श जीवन शैली, पौष्टिक आहार एवं सकारात्मक दृष्टिकोण आवश्यक माना गया है। संक्षेप में कहें तो संतुलित आहार, पर्याप्त श्रम (व्यायाम) एवं विश्राम (निद्रा) और सकारात्मक जीवन शैली स्वस्थ जीवन के सोपान है।

मानव जीवन का परम लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष (**'धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमूत्तमम्' (च. सू. 1)** इन चारों माना गया है। इन चतुर्विध पुरुषार्थों की प्राप्ति स्वस्थ शरीर के बिना असम्भव है। अतः आरोग्य को ही आचार्यों ने पुरुषार्थ चतुष्टय का मूल स्वीकार किया है। सम्भवतः इसीलिए एषणा त्रय (प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकेषणा) में भी प्राणैषणा पुरा काल से ही बलवती रही है। ऋग्वेद में उद्धृत **'जीवेमः शरदं शतम्'** अर्थात् सौ वर्ष तक पूर्ण स्वस्थ जीवन की अवधारणा भी इसी मन्तव्य को स्पष्ट करती है।सामान्य विमर्श में भी उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने के लिए अच्छा स्वास्थ्य अति आवश्यक माना गया है। स्वस्थ मनुष्य ही एक व्यक्ति के रूप में, समाज के रूप में तथा राष्ट्र के रूप में अपनी क्षमता का सर्वोत्तम उपयोग कर सकता है।

जैसा आप भलीभाँति जानते हैं कि भारतीय जीवन पद्धति में मोक्ष की अभिलाषा पुराकाल से ही बलवती रही है। इस हेतु शरीर का पूर्ण स्वस्थ होना प्रथम आवश्यकता मानी गई है। रूग्ण शरीर लौकिक एवं पारलौकिक सर्वविध उन्नयन में बाधक है। प्रिय विद्यार्थियों जब हम किसी व्याधि से ग्रस्त रहते है, तो व्याधिग्रस्त या रोगग्रस्त कहलाते है। उस समय हम स्वस्थ नहीं रहते है। तब व्याधिग्रस्त या रोगग्रस्त कहलाते है। किसी भी राष्ट्र की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में शारीरिक-मानसिक रूप से स्वस्थ एवं दृढ़ लोगों की अहम् भूमिका होती है। इस सार्वभौमिक सत्य को स्वीकार करते हुए सभी देश राष्ट्रीय 'रूग्णदर' को कम करने एवं खुश सूचकांक को बढ़ाने पर बल दे रहे हैं। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सभी सरकारों की प्राथमिकता में है। प्रस्तुत इकाई में आप स्वास्थ्य का विभिन्न परिभाषाओं सहित अध्ययन करेंगे। स्वास्थ्य को स्वस्थ बनाये रखने के लिए किन पालनीय नियमों का पालन करता है। इन पालनीय नियमों को ही दिनचर्या के अन्तर्गत बताया गया है।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्याय करने के पश्चात् आप—

- स्वास्थ्य की उपादेयता के विषय में जान सकेंगे।
- विभिन्न आचार्यों के अनुसार स्वास्थ्य की परिभाषाओं से अवगत हो सकेंगे।
- स्वास्थ्य के विभिन्न सोपान - शरीर, मन, आत्मा एवं इन्द्रियाँ
- स्वस्थ जीवन हेतु आयुर्वेद में वर्णित दिशा निर्देश को जान सकेंगे।
- शारीरिक एवं मानसिक रोग क्या है ?इस अवधारणा से अवगत होंगे।
- रोग क्या है ? आयुर्वेद में रोगों को किस रूप में परिभाषित किया गया है।
- रोगोत्पत्ति प्रक्रिया एवं रोगों के प्रकारों को जानने में समर्थ हो सकेंगे।

2.3 स्वास्थ्य की परिभाषा एवं स्वस्थ जीवन हेतु आयुर्वेदीय निर्देश

2.3.1 स्वास्थ्य की परिभाषा—

'आयुषो वेदम्' अर्थात् आयुर्वेद आयु (जीवन) का विज्ञान है। इसे पञ्चम वेद एवं अथर्व वेद का उपवेद भी कहा गया है। यहाँ आयु को व्यापक रूप में परिभाषित किया गया है। आचार्यों ने शरीर, इन्द्रिय, सत्व (मन) एवं आत्मा के संयोग को ही आयु कहा है। यहाँ यह समझना प्रासंगिक है कि उक्त शरीरादि चारों जीवन के अंग है तथा अन्योन्याश्रित है। इन सभी के संयोग से ही जीवन सम्भव है। यद्यपि प्रकृति (स्वास्थ्य) एवं विकृति (रोग), ये दोनों ही आयुर्वेद के विवेच्य विषय हैं। तथापि **'स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणं आतुरस्य विकार प्रशमनम्'** स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा एवं उसके शारीरिक, मानसिक, ऐन्द्रिक एवं आत्मिक गुणों में अभिवृद्धि ही आयुर्वेद का प्रथम उद्देश्य है। स्वस्थ जीवन की प्रतिष्ठापना ही आयुर्वेद का ध्येय है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने स्वास्थ्य की परिभाषा इस प्रकार की है- ''Health is a state of complete physical mental & social well being and not merely an absence of disease or infirmity.'' अर्थात् ''स्वास्थ्य केवल रोग एवं शारीरिक दौर्बल्य से रहित होना मात्र नहीं है, वरन् शारीरिक, मानसिक व सामाजिक साम्य की स्थिति है। यह परिभाषा अति व्यापक है। यदि यह कहा जाये कि आयुर्वेद के महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय इसमें समाहित हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। अतः उक्त त्रिदोषादि सभी विषयों का पृथकशः निम्न प्रकार से विवेचन किया जा रहा है। ''विश्व स्वास्थ्य संगठन की उपरोक्त परिभाषा से हजारों वर्ष पूर्व आचार्य सुश्रुत ने स्वास्थ्य की एक अद्वितीय परिभाषा प्रदान की है। वे कहते हैं कि -

''सम दोषः समानाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।'' (सु० सू० १५/४५)

अर्थात् जिस पुरुष के दोष (शारीरिक एवं मानसिक), धातु (सप्त धातुएं- रस, रक्त, मांस,मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र), मल (मूत्र, पुरीष, स्वेद) तथा अग्नि व्यापार सम हों अर्थात् विकार रहित हो तथा जिसकी इंद्रियाँ, मन व आत्मा प्रसन्न हों, वही स्वस्थ है।

समदोष—

जब शारीरिक, मानसिक रचना एवं क्रिया की दृष्टि से वात, पित्त, कफ़ दोष साम्यावस्था में हो । अर्थात्- शारीरिक दोष शरीर में वात, पित्त, कफ सभी शारीरिक क्रिया कलापों का सम्पादन करते हैं। शरीर को धारण करने से इन्हें धातु भी कहा गया है। परन्तु मिथ्या आहार एवं विहार के कारण ये दूषित होकर विभिन्न रोगों को उत्पन्न करने लगते हैं, ऐसी अवस्था में इन्हें शारीरिक दोष संज्ञा से जाना जाता है। मानसिक दोष सत्व, रज, ओर तम, ये मन के तीन गुण हैं। इनमें से सत्व सम अवस्था की स्थिति है। रज और तम को दूषित करने के स्वभाव के कारण मानस दोष कहे जाते हैं इन मानस दोषों की समावस्था मानसिक स्वास्थ्य का आधार है और इन्हीं की विषमता मानसिक रूग्णता तथा मानस रोगों का कारण होती है।

समानाग्नि—

जब सभी 13 अग्नियां (5 भूताग्नि, 7 धात्वाग्नि, 1 जठराग्नि) अर्थात् सम्पूर्ण पाचन - पोषण की प्रक्रिया साम्यावस्था में हो। अर्थात् आयुर्वेद मतानुसार शरीर में कुल 13 अग्नियाँ होती हैं। आकाश आदि पाँच महाभूतों की पाँच भूताग्नियाँ एवं रस आदि सात धातुओं की सात धात्वग्नियाँ होती है, एक पाचकाग्नि होती हैं। जिसे जाठराग्नि भी कहा जाता है। इसी से सभी अग्नियों का पोषण होता है। इन तेंरह अग्नियों के संयुक्त रूप से कार्यकारी होने पर शरीर की समस्त चयाचय क्रियाएँ सम्पादित होती है।

समधातुमलक्रिया—

जब धातु (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) व मल (स्वेद, मूत्र, पुरीष) अर्थात् सम्पूर्ण शारीरिक क्रिया सम्यक् हो। अर्थत् धातु-रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र, ये सात धातु माने गये हैं। त्रिदोषों के सम अवस्था में होने पर ये ही शरीर का धारण करते हैं। अतः धातु कहलाते हैं। मल (स्वेद, मूत्र एवं पुरीष) ये तीन मल माने गये हैं। इनका यथा समय शरीर से निष्कासन आवश्यक है। अन्यथा इनकी शरीर में अधिक समय तक उपस्थिति रोगोत्पादक हो जाती है।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमना—

उपरोक्त शारीरिक एवं मानसिक रचना क्रिया के बाद भी यदि मन, इन्द्रियाँ एवं आत्मा प्रसन्न नहीं है, तो वह व्यक्ति स्वस्थ नहीं होता। अर्थात् इन्द्रियाँ चक्षु, (आँख), घ्राण (नाक) कर्ण (कान), रसना (जीभ) एवं त्वचा। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गई है। हस्तद्वय (दो हाथ) पाद द्वय (दो पैर) एवं एक जननेन्द्रिय (शिश्न अथवा योनि), ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ मानी गई है। ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दोनों में इसकी गणना होने से इसे उभयेन्द्रिय भी माना जाता है। अणुत्व एवं एकत्व मन के दो गुण बताये गये हैं। इन्द्रियों एवं इन्द्रियार्थ (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध) का संयोग मन की उपस्थिति में होने पर ही ज्ञान की प्रक्रिया सम्पादित होती है। अतः समस्त प्रकार के ज्ञान प्रक्रिया में मन की महति भूमिका होती है। आत्मा ही शरीर में चेतना का कारण है। आचार्य सुश्रुत ने हृदय को चेतना का स्थान बताया है। आचार्य कश्यप के अनुसार स्वस्थ (आरोग्य) की परिभाषा—

अन्नाभिलाषों भुक्तस्य परिपाकः सुखेन च।
सृष्ट विण्मूत्र वातत्वं शरीरस्य च लाघवम्।।
सुप्रसन्नेन्द्रियत्वं च सुख स्वप्न प्रबोधनम्।
बल वर्णायुषां लाभः सौमनस्य समाग्निता।

विद्यादारोग्य लिंगानि......।। (का.सं. खिलस्थान 5/6-8)

काश्यप संहिता के अनुसार स्वस्थ (आरोग्य) के लक्षण निम्न प्रकार हैं-

1. अन्नाभिलाषो— आहार ग्रहण करने की इच्छा अर्थात् जिसकी भूख अच्छी हो।
2. भुक्तस्य परिपाक सुखेन — ग्रहित अन्न का पाचन सुखपूर्वक होता हो
3. सृष्ट विण्मूत्र वातत्व — पुरीष-मूत्र एवं अपान वायु का उचित निष्कासन होता हो।
4. शरीरस्य च लाघवम् — शरीर में हल्कापन अनुभव होता हो।
5. सुप्रसन्न इन्द्रियत्वंम् — ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ मलरहित हों एवं स्वकार्य सम्पादन में पूर्णतः सक्षम हो।
6. सुख स्वप्न प्रबोधनम् — सुखपूर्वक शयन एवं जागरण की प्रवृत्ति हो
7. बलवर्णायुषां लाभ — बल, वर्ण एवं आयु की यथोचित वृद्धि हो
8. सौमनस्यं— मन प्रसन्न हो
9. समाग्निता— जठराग्नि (पाचन) सम्यक हो

उक्त दोनों ही परिभाषाओं में व्यक्तिपरक एवं वस्तुपरक मानकों के आधार पर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को बहुत सुन्दर रीति से प्रतिपादित किया है।

2.3.2 स्वस्थ्य जीवन हेतु आयुर्वेदीय निर्देश

आयुर्वेद में आयु को परिभाषित करते हुये कहा गया है—**''शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।''** (च. सू. १/४२) शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। और इसके विज्ञान को आयुर्वेद कहते हैं। इन चारों के संयोग से जीव की सुखकर स्थिति को ही आरोग्य कहा गया है। अर्थात् आयु को शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक दृष्टि से स्वस्थ रखना ही स्वास्थ्य है। आयुर्वेद में चार प्रकार की आयु का वर्णन आता है—

1. हितायु
2. अहितायु
3. सुखायु
4. दुःखायु

आचार्य चरक द्वारा बताई गई इन चार आयुओं में से 'हितायु-अहितायु' का सम्बन्ध सामाजिक पक्ष से तथा 'सुखायु-दुःखायु' का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के गुण-दोष से है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के दो पक्ष होते हैं, एक व्यक्तिगत और दूसरा सामाजिक। जिस प्रकार व्यक्ति का सामाजिक जीवन महत्वपूर्ण होता है, उसी प्रकार उसका व्यक्तिगत जीवन भी महत्वपूर्ण होता है। व्यक्ति को आरोग्यपूर्ण या स्वस्थ बने रहने के लिये दोनों पक्षों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। इस प्रकार पूर्ण रूप से स्वस्थ व्यक्ति उसे कहा जा सकता है, जिसका शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक पक्ष दृढ़ होता है।

शरीर और मन ये दोनों रोग के स्थान हैं, तथा सुख का आश्रय भी ये, मन और शरीर ही है। जबकि आत्मा रोग का आश्रय नहीं होता है। आत्मा नित्य है एवं निराकार है, सभी चराचर जगत् का दर्शक है। अतः व्याधि का आश्रय नहीं है किन्तु शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के साथ ही आत्मा की प्रसन्नता भी प्राप्त होती है और तभी जीवात्मा को सुख दुःख का आधार कहा जा सकता है।

''विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।।'' (च०सू० ९/४)

धातुओं की साम्यावस्था प्रकृति या आरोग्य है। आरोग्य को सुख और विकार को दुःख कहा जाता है। आरोग्य एवं स्वास्थ्य दोनों ही एक दूसरे के पर्याय हैं। दोष, धातु, मल का समावस्था में होना (अर्थात् सभी का अपने-अपने कार्यों का सुचारु रूप से करना) प्रकृति कहलाता है। यह प्रकृति ही आरोग्य या स्वास्थ्य कहलाती है, और इसके विपरीत स्थिति विकृति कहलाती है। यह विकृति ही रोग या दुःख का कारण है। अतः अपने स्वास्थ्य की रक्षा करना हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य होना चाहिये।

जैसा कि आप सभी भली भाँति जानते हैं, आयुर्वेद का प्रथम उद्देश्य स्वस्थ मानव के स्वास्थ्य की रक्षा है। अहितकर आहार-विहार के सेवन से व्यक्ति रोगग्रस्त होने पर औषध द्वारा यथोचित चिकित्सा उपलब्ध कराना, द्वितीय उद्देश्य है।

'त्रयउपस्तम्भ'—

स्वस्थ जीवन के लिए आचार्यों ने आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य को महत्त्वपूर्ण माना है। इन्हें आयुर्वेद में 'त्रय उपस्तम्भ' संज्ञा दी गई है। वात, पित्त एवं कफ हमारे जीवन के आधार है, जिन्हें 'त्रिस्तम्भ' कहा गया है। इन वातादि दोषों की साम्यावस्था बनाये रखने में आहार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आहार ही हमारी ऊर्जा, वर्ण पाचन प्रणाली एवं रोग प्रतिरोध क्षमता का आधार हैं। यथा **'आहारं पुनर्मूलं बल वर्ण अग्नि ओजसाम्'।** आहार के विषय में विस्तार भय से संक्षेप में कहा जाय तो **'हितभुक-मित भुक-ऋत भुक'** का पालन करना चाहिए।

'हित भुक'—

'हित भुक' से आशय है कि शारीरिक मानसिक बल बनाये रखने के लिए सदैव 'हितकर आहार' का ही ग्रहण करना चाहिए।

मित्भुक—

मित्भुक अर्थात् शरीर की पाचन शक्ति को दृष्टिगत रखते हुये मात्रावत् अर्थात् भूख से कुछ कम भोजन ग्रहण करने का निर्देश आचार्यों ने दिया है। भोजन की अधिक मात्रा एवं अल्प मात्रा दोनों ही कुपोषण का कारण होती है।

हितकर आहार- धान्य में जौ, गेहू, चावल, सब्जियों में घीया, परवल, आँवला, हरड़, पालक, शाक (हरी सब्जियाँ) में बथुआ, मैथी, फलों में द्राक्षा, अनार खजूर, द्रवपदार्थों में दूध, घी हितकर आहार माने गये हैं। जो शारीरिक पोषण के साथ-साथ हमारे मन को भी ऊर्जा प्रदान करते हैं अतः इन्हें नित्य सेवन का निर्देश किया गया है।

'ऋत भुक' —

'ऋत भुक' से अभिप्राय है, आहार का चयन ऋतु के अनुसार होना चाहिए क्योंकि ऋतु के अनुसार दोषों की स्थिति एवं प्राथमिकताएँ परिवर्तित होती है। यथा शीत ऋतु (हेमन्त शिशिर) में हमारी पाचन शक्ति प्रबल होने से अधिक पौष्टिक आहार जैसे पदार्थ बादाम, अखरोट, हलुआ, विभिन्न प्रकार के लड्डू एवं पाक तथा शरीर को उष्णता प्रदान करने हेतु केशर एवं विविध प्रकार के सूप आदि उपेक्षित है जबकि ग्रीष्म ऋतु में पाचनशक्ति अल्प होने के कारण फल एवं फलों का रस,

शीतलजल, चिकनाई रहित भूने हुये खाद्य पदार्थ जैसे— चना-जौ आदि के सत्तू अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद हैं। विस्तार से सम्बन्धित अध्याय में वर्णन किया जायेगा।

निद्रा- शरीर-मन एवं इन्द्रियों के स्वाभाविक विश्राम की सम्यक अवस्था है जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। निद्रा को आचार्य चरक ने सुख, पुष्टि, बल, वृषता, ज्ञान एवं जीवन देने वाला जबकि इसके विपरीत असम्यक (अनिद्रा, अल्पनिद्रा, अति निद्रा) निद्रा को दुख, कार्श्य, दौर्बल्य (ऊर्जा का अभाव), नपुंसकता, अज्ञान (स्मृतिनाश) एवं अनेकानेक रोगों का कारण बताया है। दिवाशयन कफ प्रकोप एवं रात्री जागरण वात प्रकोप कारक होने से रोगोत्पादक मानी गई है। अतः इनका त्याग करके रात्री में पर्याप्त निद्रा लेनी चाहिए। सुखद निद्रा के लिए आचार्य योगरत्नाकर का परामर्श है कि सायंकाल भोजन के बाद सोने से पूर्व 100 कदम चलने के बाद सुखद शय्या पर नियम पूर्वक विश्राम करें। आचार्य चरक के अनुसार गहरी निद्रा के लिए तलुवे में तेल की मालिश अतीव लाभप्रद है।

आचार्य चरक ने ब्रह्मचर्य को स्वस्थ जीवन हेतु तृतीय उपस्तम्भ माना है। आचार्य वाग्भट ने इसके स्थान पर अब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ आचार्यों का अभिप्राय अनुशासित वैवाहिक जीवन से ही है। दिनचर्या-स्वस्थ रहने के लिए उपर्युक्त उपस्तम्भ के अतिरिक्त स्वस्थवृत्त के अनेकानेक सोपान निर्देशित है, जो स्वास्थ्य के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्ममुहूर्त में निद्रा त्याग, प्रातः जलपान, व्यायाम, अभ्यंग उद्वर्तन (उबटन) अञ्जन एवं स्नान आदि दिनचर्या के महत्वपूर्ण अंग है।

रसायन सेवन— आँवला, हरड, गिलोय, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, मुलेठी, च्यवनप्राश एवं ब्रह्म रसायन आदि रसायन औषधियों का नियमित सेवन भी स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है। ये शरीर एवं मन को पोषण देने के साथ साथ विषाक्त तत्वों को शरीर से निष्कासित करते हुए जीवन को रोग रहित एवं ऊर्जावान बनाते हैं।

ऋतु के अनुसार शोधन— शरद, बसन्त एवं वर्षा ऋतु में क्रमशः पित्त, कफ एवं वात का स्वाभाविक प्रकोप एवं तदजन्य रोग उत्पन्न होते हैं। अतः ऋतु जन्य व्याधियों से बचाव हेतु इन ऋतुओं के प्रारम्भ में क्रमशः विरेचन, वमन एवं बस्ति का प्रयोग आचार्यों ने निर्दिष्ट किया है। जिसे ऋतु संशोधन भी कहा जाता है।

ऋतु हरीतकी— आचार्य भावप्रकाश निर्दिष्ट ऋतु हरीतकी भी शारीरिक संशोधन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। आचार्य के अनुसार हरीतकी (हरड़) का प्रयोग शरद ऋतु में शर्करा, बसन्त ऋतु में मधु, ग्रीष्म ऋतु में गुड़, वर्षा ऋतु में सैंधानमक, हेमन्त ऋतु में सौंठ एवं शिशिर ऋतु में पिप्पली के साथ गरम पानी से करना चाहिए। यह रसायन प्रयोग आंत्र शोधन के साथ-साथ जठराग्नि की सम अवस्था को व्यवस्थित करती है। जो स्वस्थ जीवन के लिए महती आवश्यक है। आचार्य चरक ने निरोगी जीवन के सूत्रों की अभिव्यक्ति च. शा. स्थान में निम्न प्रकार से की है—

नरो हिताहार विहार सेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वशक्तः।
दाता समः सत्यपरो क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवति अरोगः।। (च.शा. 2/46)

जो व्यक्ति हितकर आहार एवं विहार का सेवन करता है, जो जीवन के क्रियाकलापों एवं घटनाओं की समीक्षा करने में प्रवीण हो अर्थात् सकारात्मक दृष्टिकोण वाला हो, भौतिक सुखों की

आकांक्षा से रहित हो, जो त्याग प्रवृत्ति वाला हो, सुख-दुख सभी परिस्थितियों में सम रहता हो, सत्यवादी हो, क्षमाशील हो एवं आप्तपुरुषों (श्रेष्ठ लोगों) की सेवा में निरन्तर क्रियाशील रहता हो, वह रोगों से मुक्त रहता है।

2.3.3 आयुर्वेद के प्रमुख उद्देश्य—

1. स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना।
2. रोगी के रोगों को दूर करना मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए स्वस्थवृत्त का पालन।

अतः प्रथम प्रयोजन की पूर्ति हेतु स्वस्थवृत्त का अध्ययन आवश्यक है। अन्य प्राणियों के समान मनुष्य भी शरीर के बाहर व शरीर के अंदर की परिस्थितियों से प्रभावित रहता है। यदि बाह्य व आभ्यन्तर परिस्थितियाँ अपरिवर्त नशील होतीं, तो स्वास्थ्य के नियम भी अति सरल होते। परन्तु इस गतिमान व परिवर्तनशील संसार में ऐसा होना असंभव है। अतः हमें अपनी जीवनचर्या को इन परिवर्तनों में इस प्रकार ढालना अनिवार्य हो जाता है, जिससे हम स्वस्थ रहते हुए जीवन-यात्रा सुचारु रूप से पूरी कर सकें व अपने अन्तिम लक्ष्य ''मोक्ष'' की ओर अग्रसर हो सकें।

हमारे स्वास्थ्य को बाहर से प्रभावित करने वाले कारणों में मौसम का परिवर्तन, तापमान का परिवर्त न भौगोलिक परिवर्त न व अन्य भौतिक व रसायनिक परिवर्तन ही नहीं हैं, वरन् सामाजिक परिस्थितियाँ भी उसे प्रभावित करती हैं। इस प्रकार हमें अपनी शारीरिक व मानसिक वृत्तियों तथा सामाजिक परिस्थितियों के मध्य सामांजस्य रखना पड़ता है। शरीर के भीतर भी जैव-भौतिक एवं जैव-रासायनिक क्रियाएं निरन्तर क्रियाशील रहती हैं। इन क्रियाओं में परस्पर समन्वय रखना स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। अनेक हानिकारक जीवाणु व विजातीय तत्व शरीर में प्रवेश पाकर हमारे स्वास्थ्य को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। अनेक अनिष्ट प्रभावों से रक्षा के लिए हमें अपनी रोग क्षमत्व शक्ति को भी बनाए रखना होता है। इन समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से निकलने के लिए हमें किस प्रकार के आहार-विहार, आचार-विचार की आवश्यकता है, इसका विवेचन आवश्यक है। अतः इन सबके लिए स्वस्थवृत्त का ज्ञान अपेक्षित है।

2.4 रोगों का अर्थ एवं स्वरूप

रोग शब्द की व्युत्पत्ति रूज् धातु में धञ् प्रत्यय लगाने से हुई है। यह धातु पीड़ा कारक अर्थ को इंगित करता है। अतः शरीर या मन को किसी भी रूप में पीड़ा पहुँचाने वाले लक्षण या लक्षण समूह को रोग संज्ञा से संबोधित किया जाता है। **'विविधं दुःखमादधाति शरीरे मनसि चेति व्याधिः'** अर्थात् अनेक प्रकार के दुःख जो शरीर एवं मन को कष्ट देते हैं, उसे व्याधि शब्द की संज्ञा दी गई है—

विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरूच्यते।
सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।। (च.स्. 9/4)

धातुओं में विषमता विकार या रोग हैं तथा धातुओं में साम्य होना प्रकृति या आरोग्य है। आरोग्य से सुख प्राप्त होता है जबकि विकार (रोगावस्था) सभी दुःखों का मूल कारण है। यहाँ ज्ञातव्य है कि जो भाव शरीर का धारण करते हें, वे सभी धातु कहे जाते हैं। अतः यहाँ धातु शब्द से वात, पित्त, कफ त्रिदोष, रस रक्तादि सप्तधातु तथा मल-मूत्र-स्वेदादि मलों का ग्रहण करना चाहिए। इनके निश्चित अनुपात में कमी एवं वृद्धि होना ही धातु वैषम्य है, जो रोगों को उत्पन्न करता है—

'अस्मिन् शास्त्रे पंचमहाभूत शरीरि समवायः पुरुषः इत्युच्यते। तद् दुःख संयोगा व्याधयः इत्युच्यन्ते।' (सु.सू. 1) आचार्य सुश्रुत के अनुसार प्राणियों की उत्पत्ति पंचमहाभूतो के साथ आत्मा के संयोग होने पर होती है। प्राणियों में किसी भी प्रकार से दुःख से संयोग होने को ही रोग कहा गया है। यह दुःख शारीरिक एवं मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है।

2.4.1 रोग के भेद—

आचार्य चरक (च.नि. 1/5) ने रोग को निम्न संज्ञाओं से संबोधित किया है—

1. रोग— 'रुजतीति रोग'- शरीर में रूजा (पीड़ा, दुःख) उत्पन्न करने वाले कारकों को रोग कहा गया है।

2. आमय— प्रायः रोगोत्पत्ति का मूल कारण आहार पाचन की स्वाभाविक प्रक्रिया के दौरान अग्निमादि। के कारण उत्पन्न आम होता है। अतः आमजन्य होने से रोग को आमय भी कहा गया है।

3. दुःख— व्याधि से शरीर एवं मन में अनेक प्रकार के कष्ट उत्पन्न होते हैं। इसलिए इसको दुःख शब्द से भी सम्बोधित किया गया है।

4. आतंक— रोग ग्रस्त होने पर शारीरिक क्रिया कलापों में असामान्य रूप से हलचल पैदा हो जाने से, रोग के लिए आतंक शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

5. पाप्मा— अयुक्तियुक्त आहार एवं जीवन शैली पाप सदृश एवं अनेकानेक रोगों का कारण होती है। अतः पाप से उत्पन्न होने से व्याधि को पाप्मा शब्द से भी संबोधित किया गया है।

6. विकार— दोषों का समभाव प्रकृति कहा गया है जबकि विषम अवस्था विकृति कही गयी है। वात, पित्त, कफ आदि तीनों दोषों में विषमता होने पर रोगों की उत्पत्ति होती है अतः इन्हें विकार भी कहा गया है।

2.5 रोगों का वर्गीकरण एवं रोगोत्पत्ति प्रक्रिया

जैसा कि आप जान चुके हैं, दोष वैषम्य ही रोग है। वात-पित्त कफ की साम्य अवस्था संतुलित आहार एवं व्यवस्थित जीवन शैली पर निर्भर है। जब आहार एवं दैनिक क्रिया कलापों में विसंगति होती है तो दोषों की वृद्धि या क्षय होने लगता है जिसे दोष प्रकोप के नाम से भी जाना जाता है। प्रकुपित दोष विभिन्न स्रोतों में गतिमान होते हुए रसादि धातुओं को दूषित करते हैं, जब रोगों की उत्पत्ति होती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को रोग सम्प्राप्ति के नाम से जाना जाता है।

आचार्य विजय रक्षित जी ने व्याधि को परिभाषित करते हुए रोगोत्पत्ति प्रक्रिया को बहुत सुन्दर रीति से संक्षेप में निम्न प्रकार से समझाया है- **'तथा विध दोष दूष्य सम्मूर्च्छना विशेषों ज्वरादि रूपों व्याधिः।'** अर्थात् दोष तथा रसादि दूष्यों का विशेष प्रकार का संयोग होने पर ज्वर आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

2.5.1 रोगों का वर्गीकरण— विभिन्न दृष्टिकोण से रोगों के निम्न भेद किये गये हैं- प्रभाव भेद से रोग दो प्रकार के माने जाते हैं। (च.सू. 10/12-16)

1. साध्य रोग— जो रोग चिकित्सा से ठीक हो जाते हैं। उन्हें साध्य रोग कहते हैं। इन्हें पुनः दो भागों में विभाजित किया है।

क. सुख साध्य— जो रोग औषध एवं आहार के प्रयोग से सुगमता से ठीक हो जाते हैं। उन्हें सुखसाध्य कहा गया है।

ख. कृच्छ्र साध्य—जो रोग उचित उपचार करने पर भी लम्बी अवधि में कठिनाई से ठीक होते हैं। उन्हें कृच्छ्रसाध्य रोग कहते हैं।

असाध्य— जो चिकित्सा करने पर भी ठीक नहीं होते हैं। इन्हें असाध्य रोग कहा जाता है। इन्हें पुनः दो प्रकार से विभाजित किया है— क. प्रत्याख्येय, ख. याप्य

2. बलभेद से—

क. मृदु रोग— जिन रोगों की उत्पत्ति अल्प कारणों से होती है तथा जिनके पूर्व रूप तथा लक्षण अल्प मात्रा में प्रकट होते हैं। ये रोगी के लिए अधिक कष्टकारक नहीं होते तथा शीघ्र ठीक हो जाते हैं।

ख. दारूण रोग— जिन रोगों की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है। जिनमें पूर्व रूप तथा लक्षण अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं और जो सुगमता से चिकित्सा करने पर साध्य नहीं होते।

3. अधिष्ठान भेद से—

क. शारीरिक रोग— शरीर मेंत्रिदोष प्रकोप से ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं। इन्हें शारीरिक रोग कहते हैं।

ख. मानसिक रोग— रज एवं तमगुण की अधिकता से काम-क्रोध, उन्माद-अपस्मार आदि रोग होते हैं, जो मन को प्रभावित करते हैं। ये मानसिक रोग कहलाते हैं।

4. निमित्त भेद से—

क. निज रोग— जो रोग मिथ्या आहार-विहार के कारण शरीर में वि।मान त्रिदोष के प्रकोप से होते हैं। उन्हें निज रोग कहा जाता है। इन्हें धातु वैषम्य निमित्त रोग भी कहते हैं।

ख. आगन्तुज— जिन रोगों की उत्पत्ति शारीरिक दोष प्रकोप के अतिरिक्त किन्ही बाह्य कारणों जैसे शस्त्र से कटने, सर्प वृश्चिक आदि के दंश से एवं जगम एवं स्थावर विष सेवन अथवा विषाणु या जीवाणु के संक्रमण से होते हैं। इन्हें आगन्तुज रोग कहा जाता है।

5. आशय भेद से—

क. आमाशय समुत्थ— जिन रोगों की उत्पत्ति आम रस से युक्त दोषों से होती है। उन्हें आमाशय समुत्थ रोग कहा जाता है- जैसे ज्वर, रक्तपित्त आदि। प्रायः पित्तज एवं कफज रोग आमाशय समुत्थ होते हैं।

ख. पक्वाशय समुत्थ— इन रोगों में दोष आमयुक्त नहीं होते अपितु निराम अवस्था में रोगों की उत्पत्ति होती हैं। प्रायः वात से उत्पन्न सभी रोग पक्वाशय समुत्थ होते हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार रोगों का वर्गीकरण - आचार्य सुश्रुत ने रोगों के निम्न तीन भेद किये हैं-

1. आध्यात्मिक रोग— शरीर-इन्द्रियाँ-मन एवं आत्मा के संयोग को आयु या जीवन माना गया है। आत्मा शरीर में चेतना का कारण है तथा यह शरीर में निवास करती है। मन एवं इन्द्रियों के तादात्म्य से ही आत्मा समस्त ज्ञान परम्परा का वहन करती है अतः आत्म शब्द से शरीर सहित मन का ग्रहण अपेक्षित है। अतः इनमें होने वाले शारीरिक एवं मानसिक रोगों को आध्यात्मिक रोग कहा जाता है।

2. आधिभौतिक— धूप-वर्षा-तूफान-आँधी-भूकम्प आदि से तथा दूषित वातावरण;चवससनजपवदद्ध से होने वाले रोगों को आधिभौतिक कहते हैं।

3. आधि दैविक— मनुष्येतर योनियों में होने वाले तथा सूक्ष्म जीवाणुओं से होने वाले रोगों की गणना इस वर्ग में की जा सकती है। पूर्व जन्म कृत कर्मों के परिणाम स्वरूप होने वाले रोगों को भी इस श्रेणी में रखा गया है।

आचार्य सुश्रुत ने रोगों को पुनः निम्न सात वर्गों में विभाजित किया है—

1. आदिबल प्रवृत्त— इस श्रेणी में वंश परम्परा अर्थात् वंशानुगत होने वाले रोगों की गणना की गई है। वातादि दोषों से दूषित स्त्री बीज अथवा पुरुषबीज के द्वारा भावी संतान में रोगों का होना आदि बल प्रवृत्त माना जाता है। जैसे मधुमेह। आचार्य चरक ने इन रोगों को कुलज रोग कहा है तथा आचार्य वाग्भट ने इन्हें सहज रोग की श्रेणी में रखा है। आदिबल प्रवृत्त रोगों को दो भागों में विभाजित किया गया है।

क. मातृज रोग— दूषित स्त्रीबीज से होने वाले रोग मातृज रोग कहलाते हैं।

ख. पितृज रोग— दूषित पुरुषबीज से होने वाले रोग पितृज रोग कहलाते हैं।

2. जन्मबल प्रवृत्त— गर्भावस्था में माता द्वारा किये गये मिथ्या आहार-विहार यथा-धूम्रपान, मद्य का सेवन, चिन्ता, शोकादि के कारण गर्भस्थ शिशु को अनेकानेक, रोग जैसे- पंगु, आन्ध्य, बधिर, मूक आदि हो जाते हैं। इन्हें जन्म बल प्रवृत्त रोग कहते हैं। निदान की दृष्टि से इन्हें दो प्रकार से विभाजित किया गया है-

क. रस कृत— माता के आहार रस से सम्बन्धित रोग कार्श्य, स्थौल्य आदि।

ख. दौहृदोपचारकृत— गर्भावस्था में माता की आहार सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति नहीं होने पर सन्तान में होने वाले विभिन्न रोग इसे श्रेणी में माने जाते हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हें गर्भज रोग कहा है।

3. दोषबल प्रवृत्त रोग— मिथ्या आहार-विहार से दोष प्रकोप के कारण होने वाले रोग इस श्रेणी में परिगणित किये गये हैं। इन्हें शारीरिक एवं मानसिक दो प्रकार से विभाजित किया गया है। शारीरिक रोगों को पुनः आमाशय समुत्थ एवं पक्वाशय समुत्थ द्विधा विभाजित किया है। आचार्य वाग्भट ने इन्हें जातज रोग कहा है।

4. संघातबल प्रवृत्त रोग— शारीरिक दोषों के प्रकोप से इतर बाह्य कारणों जैसे बलवान व्यक्ति से युद्ध करने से, शस्त्र आदि के आघात से या विषेले प्राणी के काटने आदि से होने वाले सभी आगन्तुक रोग इस वर्ग में समाविष्ट किये गये हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हें पीड़ाज रोग कहा है।

5. कालबल प्रवृत्त— ऋतुजन्य रोग इस श्रेणी में परिगणित हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हें कालज रोग कहा है।

6. दैव बलप्रवृत्त— मनुष्य से इतर योनियों के शरीर में प्रविष्ट होकर होने वाले अनेक प्रकार के उत्पन्न विकार तथा देवों गुरुओं के अभिशाप के कारण होने वाले रोग दैव बल प्रवृत्त रोग कहलाते हैं। इन्हें दो प्रकार से विभाजित किया गया है-

क. विद्युत दशनिकृता— भूकम्प, विद्युतपात आदि से होने वाले रोग।

ख. पैशाचकृत— इनमें मनुष्येतर योनियाँ भूत, प्रेत, पिशाचादि के शरीर में प्रविष्ट होने से जिन रोगों की उत्पत्ति होती है।उन्हें इस वर्ग में समावेशित किया गया है। दैव बल प्रवृत्त रोगों को पुनः निम्न दो भागों में विभाजित किया है-

क. संसर्गज रोग— संक्रामक रोगों से ग्रस्त व्यक्ति के संसर्ग में 'रहने के कारण होने वाले रोग इस श्रेणी में रखे गये हैं, जैसे- फिरंग, पूयमेह आदि रोग।

ख. आकस्मिक रोग— जो रोग बिना संसर्ग के पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप अचानक हो जाते हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हीं प्रभावज रोग कहा है।

7. स्वभाव बल प्रवृत्त— क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु एवं निद्रा आदि स्वाभाविक रूप से होने वाले रोगों का समावेश स्वभाव बल प्रवृत्त रोगों में होता है। आचार्य वाग्भट ने इन्हें स्वभावज रोग कहा है।

अभ्यास प्रश्न—

1. बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. आयुर्वेद में त्रिदोष हैं ?
    A. वात-पित्त-कफ
    B. सत-रज-तम
    C. जठराग्नि-धात्वग्नि-भूताग्नि
    D. स्वेद-मूत्र-पुरीष
2. अग्नियां हैं।
    A. 3
    B. 4
    C. 5
    D. 1
3. धातुएॅ है।
    A. 6
    B. 7
    C. 5
    D. 4
4. मल कितने प्रकार के है।
    A. 4
    B. 3
    C. 2
    D. 6
5.

2. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए –

1. त्रिदोष वात, पित्त एवं .... है।
2. सप्त धातुओं का नाम रस, रक्त, ..., मेद, अस्थि, मज्जा एवं .... हैं।
3. पंचमहाभूत ....-जल-तेज-वायु-आकाश हैं।
4. आचार्य चरक के अनुसार आमय, दुःख, आतंक, पाप्मा एवं ....रोग के पर्याय है।
5. आयुर्वेद के अनुसार चारों पुरूषार्थ के मूल में ....है।

3. सही एवं गलत का चयन करें।

1. जिन रोगों का औषध एवं आहार से उपचार सम्भव हो, वे रोग साध्य रोग कहते हैं।
2. जिन रोगों का औषध-आहार द्वारा उपचार सम्भव नहीं हो, वे असाध्य रोग कहे जाते हैं।
3. अधिष्ठान के आधार पर रोगों के दो भेद हैं।
4. स्वयं में स्थित होना स्वास्थ्य कहलाता है।
5. 'समदोष समाग्निश्चि' परिभाषा चरक संहिता में वर्णित है।
6. आयुर्वेद के अनुसार 13 प्रकार की अग्नि होती है।

2.6 सारांश

स्वस्थ जीवन की अभिलाषा मानव की प्रारम्भिक काल से ही रही है। उसी के परिणाम स्वरूप स्वास्थ्य एवं चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियाँ विकसित हुई है। रोगों से मुक्त होना ही नहीं अपितु शारीर, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से सुखद स्थिति ही स्वास्थ्य का परिचायक है। सामान्यतः संतुलित आहार, नियमित दिनचर्या, पर्याप्त निद्रा, व्यायाम, सकारात्मक सोच एवं आर्थिक दृष्टि से समृद्धि स्वस्थ जीवन के लिए महत्वपूर्ण उपादान है।

आयुर्वेद एक प्राचीन चिकित्सा विज्ञान है। यहाँ स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा पर विशेष बल दिया गया है। यहाँ शरीर, मन, इन्द्रियाँ एवं आत्मा के संयोग को आयु अर्थात् जीवन माना गया है। भौतिक शरीर के साथ-साथ आत्मा एवं मन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वस्थ जीवन शैली, हितकर आहार एवं संयमित जीवन स्वास्थ्य के सोपान बताये हैं। ब्रह्म मुहुर्त में जागरण, 'उषापान (प्रातः जलसेवन), व्यायाम, अभ्यंग, उबटन, स्नान, ध्यान एवं रात्रि में गहरी निद्रा उत्तम स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। चयापचय क्रिया के दौरान उत्पन्न विषाक्त द्रव्यों का नियमित निष्कासन एवं रसायन सेवन जीवन शैली जन्य रोगों से बचाव के लिए अत्यावश्यक है। हरड़, आँवला, गिलोय, ब्राह्मी आदि रसायन द्रव्यों का नियमित सेवन हमें निरोगी एवं ऊर्जावान रखने में महत्वपूर्ण भूमिका रखते है।

शरीर या मन को किसी भी रूप में पीड़ा पहुँचाने वाले लक्षण या लक्षण समूह को रोगों के रूप में जाना जाता है। दोष, धातु एवं मलों के सम्यक स्थिति में होने से 'समस्त शारीरिक एवं मानसिक क्रिया कलाप अबाध रूप से क्रियान्वित रहते हैं। ऐसी स्थिति को प्रकृति (स्वस्थवस्था) के रूप में कहा गया है। इसके विपरीत उक्त धातुओं में विषमता होने पर समस्त शारीरिक-मानसिक क्रियाओं में बाधा उत्पन्न होने लगती है। उस स्थिति को विकृति (रोगावस्था) के नाम से संबोधित किया गया है। इस धातु वैषम्य का मूल कारण मिथ्या आहार एवं विहार माना गया है। जिन्हें निदान भी कहा जाता है। आचार्य चरक ने आमय, दुःख, आतंक, पाप्मा एवं विकार रोगों के पर्याय बताये हैं। यापि रोगों के विविध दृष्ट्या अनेक भेद किये गये हैं तथापि मुख्य रूप से शरीर को प्रभावित करने वाले रोग शारीरिक एवं मन को प्रभावित करने वाले रोग मानसिक रोग कहे गये हैं।

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

त्रिदोष	-	वात, पित्त, कफ
मल	-	स्वेद-मल पुरीष

रसायन	-	जो द्रव्यसेवन करने पर धातुओं की वृद्धि करे
सत्व	-	मन
आत्मा	-	चेतना
इन्द्रियाँ	-	ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ
अग्नि	-	आहार पाचन में सहायक
प्रकृति	-	निरोग
विकृति	-	रोग युक्त
विकृति	-	वात-पित्त-कफ तीनों दोषों का विषम होना।
साम्य	-	प्राकृत अवस्था।
पंचमहाभूत	-	पृथ्वी-जल-तेज-वायु एवं आकाश।
असाध्य रोग	-	जो रोग औषध या आहार से भी ठीक नहीं होते हैं।
मृदु	-	अल्प प्रभाव वाले।
दारूण	-	अधिक घातक, कठिनाई से ठीक होने वाले रोग।
अधिष्ठान	-	स्थान।
शारीरिक दोष	-	वात-पित्त-कफ।
मानसिक दोष	-	रज-तम।
आध्यात्मिक	-	शरीर, मन एवं आत्मा से संबंधित।
आधि भौतिक	-	बाह्य जगत या पर्यावरण दूषित होने से होने वाले रोग।
आधि दैविक	-	सूक्ष्म जीवाणुओं से होने वाले रोग
सृष्ट	-	निष्कासन
लाघव	-	हल्कापन
स्वप्न	-	निद्रा
भुक	-	भक्षण करना
मित	-	अल्प
स्तम्भ	-	आधार
उपस्तम्भ	-	सहायक आधार
समीक्ष्यकारी	-	समीक्षा
विषय	-	भौतिक सुख
सम	-	समस्थिति में रहने वाला (स्थित प्रज्ञ)
सत्यपरो	-	सत्यवादी
आप्त	-	निर्लिप्त सुधी जन
अरोग	-	निरोगी
प्रकृति	-	वात-पित्त-कफ तीनों दोषों सम प्रमाण में होना।

2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1.क 2.क 3.ख 4.ख

2. 1. कफ 2. मांस, शुक 3. पृथ्वी 4. विकार 5. आरोग्य

3. 1.सही 2.सही 3.सही 4.सही 4. सही 5. गलत 6. सही

2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1- चरक संहिता पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध

2- सुश्रुत संहिता पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध

3- अष्टांग, संग्रह सूत्रस्थान

4- योगरत्नाकर

5- भावप्रकाश

2.10 निबन्धागत्मक प्रश्न

1. स्वास्थ्य को परिभाषित करते हुए रोगों के भेद बताइये।

2. आचर्य सुश्रुत द्वारा दी गई स्वास्थ्य की परिभाषा का विस्तृत वर्णन करें।

3. शरीर एवं मन को ऊर्जावान बनाने वाले आहार द्रव्यों का उल्लेख कीजिए।

4. सप्त धातुओं का नामतः उल्लेख कीजिए।

इकाई-3 योग दर्शन एवं चिकित्सा

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 योग दर्शन में चिकित्सा के सिद्धान्त
3.3.1 चित्त विकारों का निवारण
3.3.2 योग का चिकित्सा विज्ञान
3.3.3 अष्टांग योग और उसके चिकित्सीय लाभ
3.3.4 योग का वैज्ञानिक प्रभाव
3.4 आाधुनिक चिकित्सा विधि के रूप में योग
3.5 योग द्वारा विभिन्न रोगों की चिकित्सा
3.6 सारांश
3.7 पारिभाषिक शब्दावली
3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
3.10 निबन्धागत्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों

पूर्व इकाईयों में आपने आयुर्वेद के विकास क्रम के विषय में जाना प्रस्तुत इकाई में योग दर्शन एवं चिकित्सा कि प्रासंगिकता को जानेंगे।

योग दर्शन एवं चिकित्सा नामक इस इकाई में आप योग के अनुसार चिकित्सा के सिद्धान्तों के बारे में जानने वाले हैं। भारतीय विचार धाराओं के मूलस्रोत के रूप में स्थित वेदों तथा उपनिषदों से उत्पन्न हुए योगदर्शन में अष्टाङ्गयोग का वर्णन है। जिसके अभ्यास से आध्यात्मिक क्षेत्र के साथ ही स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी प्रभूत योगदान है।

योग दर्शन में चिकित्सा शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक स्तरों पर संतुलन स्थापित करने का प्रयास करती हैं। पंचकोश सिद्धांत, जो कि शरीर को पांच आवरणों (अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, और आनंदमय कोष) में विभाजित करता है, पर आधारित है। प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धांत, जो मानता है कि शरीर पंचमहाभूतों से बना है, भी योग दर्शन में महत्वपूर्ण है।

योग चिकित्सा के रूप में योग का उपयोग व्यायाम के रूप में किया जाता है। जिसमें मुख्य रूप से आसन नामक मुद्राएँ शामिल होती हैं। व्यायाम और विश्राम का एक सौम्य रूप जिसे विशेष रूप से स्वास्थ्य में सुधार के उद्देश्य से लागू किया जाता है। योग चिकित्सा एक प्रकार की चिकित्सा है जिसमें योग आसन श्वास व्यायाम ध्यान और निर्देशित कल्पना का उपयोग मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को बेहतर बनाने के लिए किया जाता है। योग चिकित्सा का समग्र ध्यान मन, शरीर और आत्मा के एकीकरण को प्रोत्साहित करता है। योग आधुनिक चिकित्सा में पूरक चिकित्सा के रूप में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप—

- योग दर्शन में चिकित्सा के सिद्धान्तों को जान सकेंगे।
- भारतीय विचार धारा के मूलस्रोतों को जान सकेंगे।
- आाधुनिक चिकित्सा विधि के रूप में योग के महत्व को जान सकेंगे।
- योग द्वारा विभिन्न रोगों की चिकित्सा करने में समर्थ हो सकेंगे।

3.3 योग दर्शन में चिकित्सा सिद्धान्त

योग सम्यक् जीवन का विज्ञान है। यह हमारे व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक व आध्यात्मिक सभी पहलुओं को प्रभावित करता है। आज के समय में आधुनिक चिकित्सा के रूप में योग को अपनाया जा रहा है। योग द्वारा न केवल शारीरिक स्वास्थ्य को बेहतर बनाया जा रहा है अपितु मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। आधुनिक चिकित्सा एवं योग से कई रोगों के उपचार एवं प्रबंधन में मदद मिलती है। योग विज्ञान का प्रभाव सर्वप्रथम व्यक्तित्व के वाह्य पक्ष अर्थात् शरीर से प्रारम्भ होता है। स्थूल शरीर से प्रारम्भ कर योग मानसिक स्तर

की ओर अग्रसर होता है। शारीरिक स्तर पर असंतुलनल होने से अंगों और पेशियों और तंत्रिकाओं के क्रियाकलापों में संतुलन नही रह जाता है। और उनमें एक-दूसरे में प्रतिकूलता देखने को मिलती है। जैसे- अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के अनियममित होने पर तंत्रिका तंत्र से संबधित रोग होने लगते है। मानसिक स्तर, भावनात्मक स्तर पर दबी भावनाओं और आपसी व्यवहार से उत्पन्न मानसिक रोग, भय आदि से ग्रस्त व्यक्तियों को योग द्वारा बाहर निकालने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। मानसिक उद्वेगों से बाहन निकलने की अनेकों विधियां योग में है।

योग की शाखाओं के अंतर्गत कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग आदि है। योगदर्शन के अन्तर्गत महर्षि पतंजलि ने अभ्यास, वैराग्य, क्रियायोग, अष्टांग योग आदि चिकित्सा पद्धतियों का अनूठा प्रयोग साधक के जीवन में अपनाने का निर्देश दिया है। योग चिकित्सा के विभिन्न सिद्धान्तों को अपनाकर मानव जीवन की उत्कृष्टता को प्राप्त किया जा सकता है।

योग चिकित्सा का लक्ष्य—

इक्कीसवीं सदी के इस युग में हमें ऋषि - मुनियों की आध्यात्मिक विरासत की बहुमूल्य पद्धति योग विधा के रूप में प्राप्त हुई है। यद्यपि योग विधा का मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है, परन्तु यौगित अभ्यासों से आध्यात्मिक लक्ष्य तो प्राप्त होता है। उसके साथ-साथ प्रत्यक्ष लाभ होता है। योग के अभ्यासों से शारीरिक एवं मानसिक लाभ प्राप्त होते है।

योग चिकित्सा में योग दर्शन के अन्तर्गत योगागों (अष्टांग योग) का अनुष्ठान करके मनुष्य जीवन के मानसिक विक्षेपों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। महर्षि पतंजलि ने योगांगों के साथ चित्त को प्रसन्न रखने के लिए चित्त प्रसादन के उपाय द्वारा चित्त को उत्कृष्टता प्रदान की जा सकती है।

शारीरिक एवं मानसिक चिकित्सा योग की सबसे महत्वपूर्ण चिकित्सा उपलब्धियों में से एक है। यह विधा सामंजस्य एवं एकीकरण के सिद्धान्त पर आधारित होन के कारण ही यह इतनी सशक्त एवं प्रभावकारी विद्या है।

योग दर्शन में चिकित्सा के सिद्धान्त—

योग दर्शन केवल आध्यात्मिक उन्नति तक सीमित नहीं है बल्कि इसके शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिये चिकित्सा संबधी सिद्धान्त भी नीहित हैं । महर्षि पतंजलि के योगसूत्र और अन्य योग के ग्रन्थों में ऐसे सिद्धान्त मिलते है। जो समग्र स्वास्थ्य को उन्नत बनाते है। जो चिकित्सा के रूप में कार्य करते है।

3.3.1 चित्त विकारों का निवारण

महर्षि पतंजलि के योगसूत्र के अनुसार योग का मुख्य उद्देश्य चित्त की वृत्तियों का निरोध करना है। जैसा कि योगसूत्र में वर्णन है— **''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'' (पा0यो0सूत्र 1/2)** अर्थात् चित्त की वृत्तियों को नियंत्रित करना ही योग है। चित्त को नियंत्रित करने के उपायों का वर्णन पातंजल योगसूत्र में किया गया है। जिसके अन्तर्गत यम नियमों का वर्णन किया गया है। अष्टांग योग के अन्तर्गत सर्वप्रथम यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) के माध्यम से चित्त को परिष्कृत किया जा सकता है। नियम के अन्तर्गत आंतरकि अनुशासन के रूप में (शौच, सन्तोष, तप,

स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान) का वर्णन किया गया है। जिनके द्वारा चित्त के विकारों का वर्णन किया जा सकता है।

1.3.2 योग का चिकित्सा विज्ञान

योग केवल आध्यात्मिक उन्नति का साधन ही नहीं बल्कि समग्र चिकित्सा पद्धति भी है। योग की चिकित्सा प्रणाली चार प्रमुख स्तम्भों पर आधारित है-

शुद्धि (Purification) - शरीर, प्राण, मन और बुद्धि की शुद्धि।

योग साधना के अन्तर्गत शरीर, मन, एवं प्राण की शुद्धि पर बल दिया जाता है। इसमें हठयोग में सप्त साधनों का वर्णन शारीरिक शुद्धि के लिए किया गया है। योग दर्शन में चित्त की शुद्धि के लिए साधकों की श्रेणी के अनुसार क्रमशः अष्टांग क्रिया योग एवं अभ्यास वैराग्य का वर्णन किया गया है।

योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए वर्णन किया है— **''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'' (पा0यो0सूत्र 1/2)** अर्थात् चित्त की वृत्तियों को नियंत्रण ही योग है। अर्थात् योग मन की चंचलता को रोककर उसे स्थिर करने की प्रक्रिया है। महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग चिकित्सा का प्रमुख आधार है।

3.3.3 अष्टांग योग और उसके चिकित्सीय लाभ

1- यम— (नैतिक अनुशासन) - मानसिक और सामाजिक स्वास्थ्य यम के पालन से प्राप्त किया जा सकता है। यम 5 है, जो निम्न है -

1.अहिंसा —मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्राणी को कभी भी किसी प्रकार से दुःख न देना अहिंसा है।

अहिंसा के पालन से हिंसक से हिंसका प्राणी भी बैर त्याग कर देता है। इसके अभ्यास से मन, वचन, कर्म से द्वेष, बैर भाव समाप्त होता है। तथा व्यापक प्रेम एवं भाईचारे की भावना का विकास होता है। मात्र अहिंसा के पालन से ही चित्त की शुद्धि की जा सकती है, और भावनाओं को परिष्कृत किया जा सकता है। मानसिक विकारों से मुक्त होते है।

2.सत्य—सत्य के द्वारा हम अपनी वाणी संयमित व पवित्र बना सकते है। सत्य की पवित्रता से व्यक्ति की वाणी में तेज और अमोध शक्ति प्राप्त होती है।

3.अस्तेय— अस्तेय का तात्पर्य है दूसरे के धन, वस्तु या विचारों को अपने हित में प्रयोग ना करने की पृवृत्ति का होतना, अस्तेय की प्रतिष्ठा होने पर ईर्ष्या, लोभ, द्वेष आदि भाव नहीं आते है। जिससे मानसिक विकारों से मुक्ति मिलती है।

4.ब्रहमचर्य— ब्रहमचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक के मन व शरीर की शुद्धि होती है। साथ ही साथ उसे सामाजिक तथा शारीकिर दृष्टि से सामर्थ्य लाभ प्राप्त होता है। कलुषित वासनामय चित्त शुद्ध होता है, तथा मानसिक पवित्रता, शुद्धता, शान्ति प्राप्त होती है।

5.अपरिग्रह— अपने स्वार्थ के लिए आवश्यकता से अधिक धन का संपत्ति संचय करना परिग्रह है। इसका अभाव अपरिग्रह है। अतः अपरिग्रह के पालन से आवश्यकता से अधिक धन, या भौतिक

सम्पत्ति या वैचारिक कूड़ा जो हम एकत्र किए रहतें है। वह समाप्त हो जाता है। चित्त शुद्ध होने लगता है।

इस प्रकार पॉचों यमों के पालन से हम अपने कर्तव्य कर्मो का पालन करने लगते है। जिसके पालन से हम सामाजिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति करते है। शुद्ध व्यवहार व पवित्र बुद्धि से निरन्तर उन्नति पथ पर अग्रसर होते हैं।

2- नियम— आत्म अनुशासन, मानसिक शुद्धि, नियम पॉच हैं, जिनका वर्णन निम्न है -

1.शौच— शौच से तात्पर्य शुचिता या पवित्रता है। वाह्य और आंतरिक शुचित (स्वच्छता) शरीर और मन शुद्ध होता है।

2.संतोष— संतोष से मानसिक संतुलन बनता है। पूर्ण पुरूषार्थ के बाद जितना मिला उसी से संतुष्ट रहना संतोष है। जिसके फल के रूप में उत्तमोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

3.तप— 'तपो द्वन्द सहनम्' अर्थात् द्वन्दों को सहन करना ही तप है। तप से आत्म संयम और सहनशक्ति की प्राप्ति होती है।

4.स्वाध्याय— स्वाध्याय से तात्पर्य स्व का अध्ययन करना और सद्ग्रथों का अध्ययन करना है। स्वाध्याय से आत्म-चिन्तन होता है। जिससे मानसिक शक्ति मिलती है।

5.प्रणिधान— ईश्वर प्रणिधान से व्यक्ति चिंता मुक्त रहता है। आत्मबल प्रबल होता है।

3-आसन— शारीरिक एवं मानसिक संतुलन, हठयोगब के विभिन्न आसन शरीर का लचीला एवं रोगमुक्त रखते है। हठयोग के ग्रन्थों में तीन तरह के आसनों का वर्णन मिलता है —

1.शरीर संवर्द्धनात्मक आसन

2.ध्यानात्मक आसन

3.विश्रान्तिकारक आसन

इन आसनों से शरीर स्वस्थ रहता है, एवं सुदृढ़ होता है।

4- प्राणायाम— श्वास प्रश्वास पर नियंत्रण, मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक उपचार महर्षि पतंजलि ने चार प्रकार के प्राणायाम बताए है—

1. वाह्यवृत्ति प्राणायाम

2. आभ्यान्तर वृत्ति प्राणायाम

3. स्तंम्भ वृत्ति प्राणायाम

4. वाह्य स्तंम्भ आभ्यान्तर वृत्ति प्राणायाम (विषयाक्षेपी)

प्राणायाम के अभ्यास नाड़ी तंत्र को संतुलित करते है। श्वसन तंत्र मजबूत होता है। मस्तिष्क सक्रिय होता है, और शरीर से विषाक्त पदार्थ बाहर निकलते है। प्राणायाम से अन्तःस्रावी ग्रन्थियॉं तथा चयापचयात्मक क्रियाओं का विकास होता है। हृदय तथा फेफड़ों की क्रियाओं में सुधार होता है। प्राणायाम एक विशिष्ट प्रकार की विधि है जिससे शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता का अनुभव होता है।

5- प्रत्याहार— (इन्द्रिय निग्रह) मानसिक नियंत्रण, पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार अन्तरंग तथा बहिरंग अवस्थाओं में सेतु रूप है। प्रत्याहार से तात्पर्य है इन्दियों को उनके विषयों से पृथक रखना।

व्यावहारिक रूप से प्रत्याहार जीवन के अवांछनीय प्रवाह से स्वयं को समेटने व आत्मोन्मुख करने का अभ्यास है। इससे साधक अपनी इन्द्रियों, विचारों एवं भावनाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है।

6- धारणा— महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग के छठे अंग के रूप में धारणा का वर्णन किया गया है। धारणा अर्थात् किसी एक देश (स्थान) पर चित्त को ठहराना। धारणा एक प्रकार का मानसिक व्यायाम एकाग्रता, धारणा के अभ्यास से एकाग्रता व स्थिरता में वृद्धि होती है। जो कि व्यक्तित्व विकास में सहायक है। ध्यान केन्द्रित होने लगता है। मनोवैज्ञानिक समस्याएं कम होने लगती है।

7- ध्यान— जहॉ चित्त को लगाया जाए उसी में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है। ध्यान के अभ्यास से चेतन मन जाग्रत होता है। ध्यान से मन र्निविषय हो जाता है। मन सशक्त और संगठित होता है। अवसाद, चिंता, अनिद्रा, मानसिक विकारों को ठीक करती है।

8- समाधि— अष्टांग योग का अंतिम लक्ष्य समाधि है। यह मन की समस्त वृत्तियों के निरूध की अवस्था है।

जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है तब वहीं ध्यान समाधि हो जाता है। इस स्थिति में किसी तरह का तनाव नहीं रहता, द्वन्द नहीं रहता, यह मानसिक स्वास्थ्य, संतुलन एवं कार्य - क्षमता की चरण अवस्था है। भारतीय चिंतन में जीवन का परम लक्ष्य एवं पर ध्येय भी यहीं है। योग दर्शन में मानसिक, आध्यात्मिक उपचार- क्रिया योग से महर्षि पतंजलि ने मानसिक विकार के रूप में पॉच प्रकार के क्लेश बताए है -

- अविद्या (अज्ञान)
- अस्मिता (अहंकार)
- राग (आसक्ति)
- द्वेष (घृणा)
- अभिनिवेश (मृत्युभय)

ये क्लेश मन और शरीर दोनों विकारों का कारण बनते है। महर्षि पतंजलि ने क्रिया योग (तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान) एवं ध्यान द्वारा इन क्लेशों का नाश होता है और व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ होता है। योग दर्शन में वर्णित अभ्यास—वैराग्य दो प्रमुख उपचार साधन महर्षि पतंजलि ने अभ्यास का वर्णन इस प्रकार किया है—**अभ्यास वैराग्याभ्यं तन्निरोधः।।**

अभ्यास –

'तत्र स्थितायत्नोभ्यास' अर्थात् चित्त की स्थिरता के लिए यत्नपूर्वक प्रयत्न अभ्यास है। अभ्यास व्यक्ति को उसके लक्ष्य तक पहुचाता है। व्यक्ति शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त कर अवांछनीय कार्यो से मुक्त होता है। और अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। जैसा कि कहा गया है—

''करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान। रस्सी आवत जात है। सिर पर पड़त निशान ।।

वैराग्य—

वैराग्य द्वारा इन्द्रिय योगों और मानसिक विर्कषणों से मुक्ति मिलती है, और तनाव और चिंता से छुटकारा मिलता है।

विवेक ख्याति— आत्म ज्ञान से उपचार - विवके ज्ञान की निरन्तर जागरूकता क्लेशों की निवृत्ति का उपाय है। जब व्यक्ति में आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान होता है। तब वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर आत्मिक शक्ति प्राप्त कर लेता है।

3.3.4 योग का वैज्ञानिक प्रभाव

- योग से नर्वस सिस्टम, संडोकाइन सिस्टम और इम्यून सिस्टम का संतुलन सुधरता है।
- योग से आहार एवं व्यवहार और विचार शुद्ध होते है। जिससे तनाव, अनिद्रा, ब्लड प्रेशर, मधुमेह, डिप्रेशन आदि से मुक्ति मिलती है।
- अनेकों शोध द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि योग से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य बेहतर होता है।

3.4 आाधुनिक चिकित्सा विधि के रूप में योग

योग एक जीवनशैली है, अनुशासन है। महर्षि पतंजलि के अनुसार अथ योगानुशासनम् द्वारा इसकी पुष्टि होती है। योग वास्तव में जीवन के लक्ष्य अर्थात् ईश्वर को प्राप्त करने का एक विज्ञान है परंतु जैसे-जैसे मनुष्य आधुनिक होता गया वैसे-वैसे वह यौगिक दिनचर्या से विमुख हो गया और योग वास्तव में जीवन शैली ही है परंतु इस जीवन शैली को हटाने के पश्चात् मनुष्य में रोग, शोक आदि समस्याएं उत्पन्न हो गई। जब व्यक्ति कई प्रकार की समस्याओं से जूझ रहा है और उसके पास इसका कोई परमानेंट समाधान नहीं है तो व्यक्ति पुनः योग को अपना रहा है। योग को वह जीवनशैली के साथ -साथ चिकित्सा पद्धति के रूप में भी ग्रहण कर रहा है। सर्वप्रथम एनसी0 पॉल ने 1851 में शरीर क्रिया विज्ञान संबधी एक अध्ययन में योग के चिकित्सीय पहलुओं का वर्णन किया, जिसकी व्याख्या उन्होंने अपनी पुस्तक **'ट्रीटीज ऑन योग फिलासफी'** में की।

इसके पश्चात् सन् 1918 में हठयोगी विशेषज्ञ योगेद्र ने द योग इंस्टीटयूट की स्थापना की जिसमें हठयोगी के अभ्यास विशेषकरी आसन और प्राणायाम की वैज्ञानिकता को सिद्ध किया जाने लगा। योगेद्र ने योग आसान सरलीकृत और योग पर्सनल हाइजीन में इसका वर्णन किया। वहीं 1924 में कैवल्यधाम स्वास्थ्य और योग अनुसंधान केन्द्र की स्थापना स्वामी कुवल्यानन्द जी द्वारा की गई।

फिजियोलॉजिस्ट केटी बेहनन की पुस्तक योग ए साइंटिफिक इवैल्यूएशन (1937) ने योग चिकित्सा की ओर पुनः प्रकाश डाला। 1970 में क्रिस्टोफर हिल्स द्वारा नई दिल्ली में वैज्ञानिक योग पर विश्व सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें कुल 850 प्रतिभागी उपस्थित रहे। इसके पश्चात् योग को चिकित्सा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। मनोरोग विशेषज्ञ में माइकेला पास्को ने तनाव और अवसाद पर योग के प्रभाव पर प्रकाश डाला। 1998 में अमेरिका राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान में योग अनुसंधान पर कार्य की शुरूआत की।

योग चिकित्सा के दृष्टिकोण से देखें तो हमारा शरीर योग की प्रयोगशाला है। मानव जीवन के लिए देवता भी तरसते हैं। मन, बुद्धि, अहंकार यह प्रयोगशाला शोध के उपकरण है। अभ्यास वैराग्य और एकाग्रता शोध कार्य के शोध सहायताकता है। आधुनिक चिकित्सा के साथ-साथ योग एक चिकित्सा पद्धति के रूप में मुख्य धारा में आ गई है। आधुनिक चिकित्सा और योग चिकित्सा का विवेकपूर्ण मिश्रण करने से हम किसी भी बीमारी का नाश कर सकते हैं। कुछ समस्याओं में

एलोपैथी को पूर्ण रूप से प्रयोग में लाने के पश्चात् ही योग जिनकी साख उपयोग में लाना चाहिए वहीं कुछ समस्याएं भी हैं। जिनमें योग पूर्ण रूप से कारीगर है। जैसे न्यूरो संबधी रोग और मनोरोगों में योग आश्चर्यजनक रूप से प्रभाव डालता है। योग की अग्निसार क्रिया योग निद्रा, त्राटक, भ्रामरी प्राणायाम कलारंध्र धोती और ध्यान के अभ्यास मस्तिष्क की संरचनाओं को भी बदलने की क्षमता रखते है। नेशनल इस्टिट्यूट ऑफ हेल्थ के अनुसार योग को रोग के उपचार के साथ-साथ रोकथाम का उपाय बताती है। वैसे भी इलाज से बेहतर बचाव है।

योग GABA सेरोटोनिन, डोपामिन (अवसाद चिंता में कमी) मेलाटोनिन (अनिद्रा की समाप्ति) ऑक्सीटोसिन लेप्टिन, एडीपोनेक्टिन (सूजन कम करना) के स्तर में वृद्धि करता है। वही योगाभ्यास टेलोमेरेस को भी स्थिर करता है, जिससे हृदय रोग, स्ट्रोक, कैंसर, मनोभ्रंश, अल्जाइमर आदि समस्याएं समाप्त होती है।

3.5 योग द्वारा विभिन्न रोगों की चिकित्सा

योग चिकित्सा में विभिन्न रोगों की चिकित्सा निम्न रूप से की जाती है—

1. सिरदर्द— मनुष्य सामान्य सिरदर्द से लेकर तीव्र सिरदर्द से ग्रसित है। जिसके कई कारण है। पाचन तंत्र से संबधित समस्या, तीव्र बुखार, ऑखों से संबधित समस्या माइग्रेन ट्यूमर आदि भी रखता है। रोगी को चाहिए कि वह सर्वप्रथम सिरदर्द के प्रकार को पहचाने तत्पश्चात् सिरदर्द के प्रकार के अनुरूप ही योग विधियों का चयन करें। सिरदर्द के रोगी को प्रतिदिन जल नेति और कुंजल का अभ्यास करना चाहिए। यदि सिरदर्द का कारण पाचन तंत्र से संबधित समस्या है तो रोगी को सप्ताह में एक दिन विवेकपूर्ण उपवास करना चाहिए। लघुशंख प्रक्षालन का अभ्यास भी विशेष लाभ प्रदान करता है। आसन में सरल आसनों से कठिन आसनों की ओर बढ़ना चाहिए। सूक्ष्म व्यायाम से लेकर सूर्यनमस्कार तक का अभ्यास मध्यम गति से करना चाहिए। प्राणायाम में भ्रामरी प्राणायाम और नाड़ीशोधन का अभ्यास अच्छा प्रभाव दे। सिरदर्द का कारण कई बार दमित इच्छाएँ भी होती है।

यदि ऐसा है तो रोगी को योगनिद्रा का अभ्यास करवाना चाहिए। योग चिकित्सा में सिरदर्द हेतु दर्द निवारक और दर्द के रोकथाम की प्रक्रिया अपनायी जाती हे। योग के अभ्यास चिंता, तनाव, अवसाउद को दूर कर जीवन की गुणवत्ता को बढ़ाता हैं, जिससे स्वायत्त तंत्रिका तंत्र संतुलित होता है जो दर्द निवारण एवं दर्द के रोकथाम के लिए महत्वपूर्ण है।

सेरोटोनिन स्राव के असंतुलन, नोसिसेप्टिव दर्द तंतुओं की संवेदनशीलता में वृद्धि और ट्राइजेमिनल-ऑटोनोमिक रिफलेक्स के ट्रिगर को योग के नियमित अभ्यास से संतुलित किया जाता है। जिससे सिरदर्द में राहत मिलती है।

2. कब्ज— कब्ज एक ऐसी स्थिति है, जिसमें व्यक्ति के मल का निष्कासन या तो शीघ्रता से नहीं होता या कई-कई दिनों तक होता ही नहीं है। देर तक बैठकर कार्य करने अर्थात् शारीरिक रूप से कम क्रियाशील रहने के कारण व्यक्ति कब्ज से ग्रसित हो जाता है। कब्ज रोग अधिकतर उन लोगों को होता है जो मानसिक सोच-विचार में अधिक फंसे रहते है। कब्ज के रोगियों को रोग की अवस्था के आधार पर शंख प्रक्षालन करना चाहिए। यदि रोगी को तीव्र कब्ज है, तो कुछ दिनों तक लगातार लघु शंखपक्षालन का अभ्यास करना चाहिए।

रोगी की स्थिति के अनुसार 15 दिन में बार पूर्ण शंखप्रक्षालन का अभ्यास करना चाहिए। कब्ज रोगियों की जठराग्नि भी मंद होती है। जठराग्नि को तीव्र करने वाले अभ्यास जैसे- अनिसार धौति, नौलि क्रिया, उड्डियान बंध और विपरितीकरण मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। ऑतों की मांसपेशियों को सबल बनाने हेतु वस्ति, मूलबंध, अश्विनी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। वस्ति प्रदेश वात का स्थान है। अतः सूर्यभेदी और भस्त्रिका अभ्यास द्वारा भी कब्ज में लाभ होता है। सूर्यनमस्कार अक्रियाशीलता के कारण कमजोर पड़ी मांसपेशियों को पुनर्जीवित करता है। वही उदरस्थ अंगों को मजबूती देने के लिए चक्की चालासन, नौका संचालन, पश्चिमात्तान आसन, उत्तनपादासन, सुप्त पवनमुक्तासन, नौकासन, मण्डुकासन, मत्स्येन्द्रासन का अभ्यास करना चाहिए।
वारिसार धौति के अभ्यास में किये जाने वाले पांच आसनों **ताड़ासन, तिर्यक ताड़ासन, कटि चक्रासन, भुजंगासन और उदराकर्षण** अभ्यास प्रतिदिन सुबह कुनकुनार पानी पीकर करना चाहिए। पानी पीकर किया गया मत्स्यासन का अभ्यास भी विशेष लाभकारी है।

3. सर्वाइकल स्पाण्डिलाइटिस— सर्वाइकल स्पाण्डिलाइटिस में रीढ़ हड्डी के ऊपरी हिस्से अर्थात् गर्दन में दर्द, खिंचवा, कड़ापन, सूजन आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। कई बार यह दर्द कंधे ऑखों, हाथ औरा सिर की ओर भी जाता है। यौगिक चिकित्सा में सर्वप्रथम गर्दन की मांसपेशियों की क्रियाशीलता को पुनः लौटाने का कार्य किया जाता है। इसके लिए गर्दन के सूक्ष्म व्यायामों के अभ्यास कराये जाने चाहिए। भुजंगासन, सर्पासन, मकरासन, धनुरासन, मार्जारी, मत्स्येद्रासन आदि का अभ्यास सावधानीपूर्वक करने से लाभ प्रदान करता है। नाड़ीशोधन के अभ्यास में पूरक के साथ प्राण ऊर्जा को दर्द के स्थान पर पहुंचाये और रेचक के साथ उस दर्द का शरीर से बाहर जाने का भाव करें। योगाभ्यासों के लगातार अभ्यास से लेप्टिन तथा एडीपोनेक्टिन रसायन के स्तर में वृद्धि होती है। जिससे सूजन समाप्त होती है। योगासनों के नियमित अभ्यास से आस्टियोफाइटस नामक स्पर्स की अनियमित हड्डी की वृद्धि में रोकथाम होती हे। योगाभ्यासों द्वारा इंटरबर्टेबजल डिस्क में खिचांव उत्पन्न होता है। जिससे उस स्थान पर रक्त संचार सुचारू होता है। जिससे सर्वाइकल स्थान की तंत्रिकाओं में प्राण ऊर्जा का संचार होता है। योगाभ्यास के अभ्यास द्वारा गर्दन, कंधे की हड्यिों बॉहों और हाथों की मांसपेशियों में असंतुलन दूर होता है। जिससे दर्द में राहत मिलती है।

4. दमा— दमा श्वसनतंत्र से संबधित रोग है। दमा रोग में श्वसन मार्ग में संकुचन, जकड़न और कफ का जमाव होता है। यह अत्यन्त पीड़ादायक स्थिति है क्योंकि दमा रा रोगी सही तरीके से श्वसन नहीं कर पाता है। ऑक्सीजन की पर्याप्त पूर्ति ना हो पाने के कारण रोगी सदैव थका-थका रहता है। दमा का कारण कई बार अनुवांशिक होता है और कई बार अस्त-व्यस्त जीवनशैली के कारण भी होता है। दमा से मुक्ति हेतु शरीर पर गर्म प्रभाव डालने वाले और फेफड़ों की क्रियाशीलता को बढ़ाने वाले अभ्यास करने चाहिए। योगाभ्यास द्वारा फेफड़ों की मांसपेशियों को मजबूती मिलती है। जिससे फेफड़ों की कार्यक्षमता बढ़ती है। जिससे सांस लेने में तकलीफ नहीं होती है।

दमा का मुख्य कारण भावनात्मक रूप से अति संवेदनशील होना है तथा ठंड के मौसम में सही आहार-विहार न रखने के कारण भी दमा रोग हो जाता है। कई व्यक्ति वातावरण में ठंड, नमी, प्रदूषण अदि के प्रति संवेदनशील होते हैं, उन्हें भी दमा रोग हो जाता है अर्थात् जो व्यक्ति संवेदशील

है, चाहे शारीरिक रूप से हो या भावनात्मक रूप से उन्हें दमा होने की संभावना ज्यादा होती है। सामान्यतः ऐसे व्यक्ति, चिंता, अवसाद, घबराहट, असुरक्षा का भाव, तनाव, ईर्ष्या, द्वेष, कुंठा, घृणा आदि भावनाओं से घिरे रहते है। अस्थमा रोग की योग चिकित्सा में सर्वप्रथम श्वसन नालियों में प्राण ऊर्जा का संचार किया जाता है। योग के नियमिल अभ्यास जैसे भस्त्रिका प्राणायाम द्वारा वायु मार्ग की पेशियां को बल मिलता है। जिससे वायु मार्ग का घर्षण तनाव कम होता है तथा भस्त्रिका प्राणायाम कफ का भी कम करता है तथा फेफड़ों को पुनर्जीवित करने का कार्य करता है।

दमा रोग में जल नेति क्रिया, कुंजल क्रिया और शंखप्रक्षालन के अभ्यासों द्वारा एलर्जी तथा श्लेष्मा का नाश होता है तथा पाचन तंन्त्र को बल मिलता है। दमा के रोगियों को क्षमतानुसार सूर्य नमस्कार का अभ्यास करवाना चाहिए क्योंकि यह शरीर को शारीरिक और मानसिक बल प्रदान करता है। सूर्य नमस्कार जहां हमारी मांसपेशियों पर प्रभाव डालता है। वहीं वह अंतस्रावी ग्रन्थियां के माध्यम से हमारे सम्पूर्ण शरीर की क्रियाप्रणाली पर डालता है। वही छाती कंधे और श्वसन मार्ग को प्रभावित करने वाले अभ्यास नौका संचालन, हस्तोतानासन, सर्पासन, भुजंगासन, धनुरासन, मत्स्यासन, गोमुखासन, लोलासन, मकरासन आदि का नियमित अभ्यास करना चाहिए। भस्त्रिका प्राणायाम के नियमित अभ्यास के पश्चात् जब फेफड़े क्रियाशील होने लगे तो नाड़ी शोधन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। यह व्यक्ति के मानसिक अवरोधों को समाप्त करता है। दमा रोगी को योगनिद्रा का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए क्योंकि योग निद्रा के अभ्यास से वह अचेतन में पड़े हुए विचारों से अवगत हो पाता है और उसको चेतन जगत में लाकर समस्या का समाधान कर पाता है।

5. तनाव— तनाव एक ऐैसी स्थिति है, जिसमें व्यक्ति की आतंरिक स्थिति नकारात्तक हो जाती है। ऐसी दिशाएं जिनसे व्यक्ति समायोजन नहीं कर पाता, वह तनाव का कारण बनती है। तनाव की स्थिति में लंबे समय तक बने रहने के कारण चयापचय क्रिया प्रभावित होती है, जिससे व्यक्ति में प्राण ऊर्जा की कमी बनी रहती हे। असफलता का भय, अनिश्चितता, समयाभाव, पारिवारिक कलह, आकस्मिक आघात, हीनभावना एवं अहंभाव के कारण तनाव उत्पन्न हो जाता है। जब व्यक्ति की महत्वकाक्षां की पूर्ति नहीं हो पाती है या ज बवह प्रतिकूल परिस्थितियों से समायोजन ना कर पाये तो इससे वह वास्तविक दुनिया और वांछित दुनिया के बीच का अंतर नहीं कर पाता है।

तनाव के रोगियों में एलर्जी, थकान, उत्तेजना, अशांति, शारीरिक दर्द, पाचन संबधी रोग जैसे अल्सर, ऐंठन, कब्ज, डायरिकया, थायराइड संतुलन, अनियमित धड़कन, उच्च रक्तचाप, हार्टअटैक, संक्रमण आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती है अर्थात् तनाव की स्थिति में व्यक्ति के शरीर में सुखद हार्मोन के स्राव में कमी हो जाती है। जैसे सेरोटोनिन और एड्रीनलीन और डोपामाइन, दूसरा व्यक्ति कीपाचन प्रक्रिया असंतुलित हो जाती है। तीसरा रक्त धमनियों के संकुचित होने के कारण मस्तिष्क में पर्याप्त आक्सीजन भी नहीं पहुंच पाता है। योग चिकित्सा के अभ्यास द्वारा सेराटोनिन के स्राव में बढ़ोत्तरी होती है । जिससे कोर्टिकोसोल हार्मोन का उत्पादन बढ़ता है। जो भूख, क्रोध, चोट, अनिद्रा आदि से मुक्ति प्रदान करता है वहीं योग की क्रियाएँ शरीर में नौरैडेनलिन के उत्पादन में वृद्धि होती है। जिससे आलस्य प्रमाद, उदासीनता आदि समस्याएँ समाप्त हो जाती है। योग की कई क्रियाएँ डोपामाइन के उत्पादन में बढ़ोत्तरी करती है। जिससे एडार्फिन के उत्पादन में बल मिलता है।

आसनों में सूर्य नमस्कार, शक्तिबंध के अभ्यास 1,2 वीरासन, सिंहगर्जन आसन जैसे आसनों का अभ्यास करना चाहिए। सिंहगर्जन जैसे आसन व्यक्ति को अपने भीतर क्रोध, कुंठा, विद्वेष को बाहरन निकालने में मदद करते हैं। व्यक्ति हीन भावना असफलता के भय और असुरक्षा की भावना, दमन जैसी समस्याओं से मुक्त हो जाता है। एकाग्रता बढ़ाने वाले आसन जैसे वृक्षासन, ताड़ासन, नटराजासन, बीरासन आदि आसन का अभ्यास करने से व्यक्ति के विचारों को एक निश्चित दिशा प्रदान होती है। जिससे वह तनाव से मुक्त हो सकता है। अग्निसार, कपालभॉति जैसे षट्कर्मो के अभ्यास भी रोगी के तनाव को बढ़ाने से रोकते हैं। प्राणायाम में शीतली प्राणायाम, शीतकारी प्राणायाम और भ्रामरी प्राणायाम भी तनाव के लिए उपयोगी अभ्यास है। भ्रामरी प्राणायाम, नाड़ीशोधयन प्राणायाम , ध्यान और योगनिद्रा जैसे अभ्यास व्यक्ति को तनाव मुक्त करने के लिए रामबाण उपाय है।

अभ्यास प्रश्न-

1.रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये -

1. योग की शाखाओं के अंतर्गत कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, ..., मंत्रयोग आदि है।
2. योगश्चित्त..................निरोधः।
3. मानसिक विकार के रूप में .... के क्लेश बताए है।
4. हठयोग के ग्रन्थों में .... आसनों का वर्णन मिलता है।

2.सत्य/असत्य बताइये -

1. चित्त की वृत्तियों को नियंत्रित करना ही योग है।
2.मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्राणी को कभी भी किसी प्रकार से दुःख न देना अहिंसा है।
3.नियम दश हैं,
4.महर्षि पतंजलि ने चार प्रकार के प्राणायाम बताए है

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. योग की कितनी सिद्वियाँ है ?

क. 8
ख. 6
ग. 5
घ. 4

2. अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस कब मनाया जाता है।

क. 11 दिसंबर
ख. 21 जून
ग. 12 दिसंबर
घ. 22 जून

3.यम हैं

क. 4
ख. 6

ग. 5

घ. 7

4.महर्षि पतंजलि ने चार प्रकार के प्राणायाम बताए है।

क. वाह्यवृत्ति एवं आभ्यान्तर वृत्ति प्राणायाम

ख. स्तंम्भ वृत्ति प्राणायाम

ग. वाह्य स्तंम्भ आभ्यान्तर वृत्ति प्राणायाम (विषयाक्षेपी)

घ. उपरोक्त सभी

3.6 सारांश

योग आध्यात्मिक उन्नति का पथ है। यह कोई रोग निवारण चिकित्सा पद्धति नहीं है। योग वास्तव में मनुष्य की अंतर्निहित अंतःशक्तियों एवं आंतरिक प्रतिभाओं को दृष्टिगोचर करता है। योग चिकित्सा पद्धति नहीं है। परन्तु योग की विभिन्न प्रक्रियाएं मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक बल प्रदान करती है। जिससे स्वतः ही स्वास्थ्य लाभ प्राप्त हो जाता है। योग चिकित्सा हेतु यह जानना आवश्यक है कि रोग किस अवस्था का है। यदि रोग अत्यंत अवस्था में है तो सर्वप्रथम योग चिकित्सक को अपनी वस्तुनिष्ठता का परियच देते हुए यह निर्धारित करना चाहिए कि क्या रोगी को एलोपैथी दवाइयां की आवश्यकता है। यदि दवाइयों की आवश्यकता हो तो एलोपैथिक चिकित्सा शुरू करवा देनी चाहिए। ध्यान रखें किसी भी चिकित्सक का प्रथम कर्तव्य रोगी को आराम पहुॅचाना है ना कि अपनी चिकित्सा पद्धति को सर्वश्रेष्ठ साबित करना। रोगी की दवाइयों के साथ-साथ योग चिकित्सा भी शुरू करनी चाहिए और धीरे-धीरे रोगी की दवाइयों में निर्भरता दूर करनी चाहिए। आधुनिक समय में कई तरह की समस्याएं उत्पन्न हो गई है। किसी योग्य चिकित्सा के निरीक्षण में पूर्ण चिकित्सीय परीक्षण करवाना आवश्यक है। यह देखना आवश्यक है कि कौन सा रोग है, क्या केवल एक रोग है या उससे ज्यादा रोग है। रोग कई बार एक-दूसरे से संबधित होते है। जैसे - मोटाप, मोटापा कई अन्य समस्याएं जैसे - मधुमेह, उच्च रक्तचाप, घुटनों में दर्द, कब्ज आदि समस्याओं से संबधित रहता है।

योग दर्शन केवल एक दार्शनिक प्रणाली नहीं, बल्कि एक सम्पूर्ण चिकित्सा विज्ञान है। इसके अनुसार रोगों का कारण केवल बाहरी नहीं है। अन्तर्मन की अशुद्धियों और विकार माने गये है। योग साधना शरीर, मन, आत्मा को संतुलित कर रोगों को जड़ से समाप्त करती है। योग चिकित्सा न केवल उपचार का मार्ग है। बल्कि एक रोग निवारक और जीवन की उन्नति का मार्ग है।

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

चतुर्विध पुरूषार्थ	-	धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष
दाता	-	अपनी आय से दान करने वाला व्यक्ति
अनिष्ट	-	बुरे प्रभाव
साम्यावस्था	-	समान अवस्था
अवयव	-	अंग
ब्रहममुहूर्त	-	देवताओं के जागने का समय (प्रातः काल चार से छः बजे के बीच)

प्रक्षालन	-	धोना (अंगों को स्वच्छ करना)
उष्णता	-	गर्मी
उबटन	-	शरीर पर लगाने वाला द्रव्य

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.रिक्त स्थान

1. हठयोग, राजयोग

2.वृत्ति

3.पॉच प्रकार

4.तीन

2- सत्य/असत्य

1.सत्य

2.सत्य

3.असत्य

4.सत्य

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.क 2.ख 3.ग 4.घ

3.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आयुर्वेदचिकित्साविज्ञान - वैद्य बनवारी लाल गौड़

2. चरक संहिता ''पिद्योतनी'' - पं. काशीनाथ शास्त्री

3. आयुर्वेद दीपिका - टीका चक्रपाणिकृत

4. चरक संहिता - डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

5. पांतञ्जल योग दर्शन - डॉ. नित्यानन्द शमा

6. चरक संहिता - पूर्वार्ध

7. सुश्रुत संहिता - भाग १

8. अष्टांग संग्रह

9. अष्टांग हृदय

10. भाव प्रकाश निघण्टु

11. माधव निदान

3.10 निबन्धागतमक प्रश्न

1.योगचिकित्सा का इतिहास एवं सिद्वान्तों का वर्णन कीजिये ?

2.अष्टांयोग एवं मोक्ष का विस्तार से वर्णन किजिये ?

3.योगियों के भाव, योग के सिद्वान्त, प्राणायाम एवं योगासन के लाभ लिखिये ?

4.योग चिकित्सा से क्या अभिप्राय है, विस्तार से वर्णन करें।

5.योग चिकित्सा के द्वारा रोग निवारण का वर्णन कीजिये ?

6. आाधुनिक चिकित्सा विधि के रूप में योग के महत्व पर प्रकाश डालें।

7. योग द्वारा विभिन्न रोगों की चिकित्सा पर विस्तृत वर्णन करें।

खण्ड- तीन (Section-C)
सृष्टि विद्या

इकाई.1 सृष्टि की वैदिक परिकल्पना एवं अवधारणा

इकाई की रुपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 सृष्टि की वैदिक परिकल्पना एवं अवधारणा

1.3.1वैदिक सृष्टि की विवेचना

1.3.2 वैदिकवाङ्मय में सृष्टि की परिकल्पना

1.4 सारांश

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों !

संस्कृत साहित्य में वेदों का स्थान सर्वोपरि है । भारत मे धर्म व्यवस्था वेदों से ही है । और वेद धर्म निरूपण मैं स्वतंत्र प्रमाण हैं, स्मृति इत्यादि उसीका अनुसरण करते है। वेद शब्द 'विद्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बनता है। इस धातु के बहुत-से अर्थ हैं जैसे 'विद ज्ञाने', 'विद सत्तायाम्', 'विद विचारणे', 'विद्लृ लाभे, 'विद चेतनाख्याननिवासेषु' जिनसे सत्यासत्य, पापपुण्य, धर्माधर्म, तथा विधिनिषेध का विवेक समुद्भूत हो, जिनके द्वारा सब सुखों का लाभ होता है और जिनमें सकलविद्याएँ बीजरुप में विद्यमान रहती हैं- वे ग्रन्थ वेद कहलाते हैं। महर्षि मनु कहते कहते हैं-" **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"** वेद धर्म का मूल है । **"सर्वज्ञानमयो हि सः"** अर्थात् वेद सकलज्ञान से भरपूर है। **" विद्यन्ते धर्मादयः पुरुषार्था यैस्ते वेदाः"** अर्थात् धर्म, अर्थ, काम , मोक्ष इन पुरुषार्थ जिससे है वह वेद है । एक अन्य प्रचलित व्याख्या है के - **"अपौरुषेयं वाक्यं वेद"** अर्थात् जो वाक्य किसी पुरुष से नही कहा है यानी अपौरुषेय है वैसा वाक्य वेद है। वैदिक विज्ञान, राष्ट्रधर्म, समाज-व्यवस्था, पारिवारिक-जीवन, वर्णाश्रम-धर्म, सत्य, प्रेम, अहिंसा, त्याग आदि को दर्पण की भाँति दिखाता है। वेद संसाररूपी सागर से पार उतरने के लिए नौकारूप हैं। वेद में मनुष्यजीवन की सभी प्रमुख समस्याओं का समाधान है। अज्ञानान्धकार में पड़े हुए मनुष्यों के लिए वे प्रकाशस्तम्भ हैं, भूले भटके लोगों को वे सन्मार्ग दिखाते हैं। आचार्य सायण के अनुसार **“इष्टप्राप्त्यनिष्ट-परिहारयोरलौकिकम् उपायं यो ग्रन्थो वेदयति, स वेदः”** अर्थात् इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के निवारण का उपाय जो बतलाएं वे ग्रन्थराशि वेद कहलाते हैं।

वैदिक वाङ्मय में सृष्टि के विषय पर कई स्थानों पर विचार किया गया है। उपनिषदों में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है। पुराण, महाभारत, मनुस्मृति, दर्शन, ज्योतिषादि ग्रन्थों में भी सृष्टि की अवधारणा का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विज्ञान का मानना यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति Bing-bang (भयंकर विस्फोट) के साथ ही प्रारमभ हुई और परिवर्तन के कई चरणों से गुजरती हुई वर्तमान स्थिति में पहुँची है। ठपह ठंदह के साथ ही आकाश और समय का कार्य प्रारमभ हुआ। सृष्टि उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार रहा- आकाश, ज्वलनशील वायु, अग्नि, जल और निहारिका का मण्डल। निहारिका मण्डल में ही सौर मण्डलों ने स्थान पाया। पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य से छिटक कर अलग होने के बाद धीरे-धीरे परिवर्तित होकर वर्तमान रूप में हुई। श्वास लेने योग्य वायु के बनने, पानी के पीने योग्य होने पर पानी के अन्दर सर्वप्रथम जलचरों को जीवन मिला। फिर क्रमशः जल-स्थलचर, स्थलचर और आकाशचर प्राणियों की उत्पत्ति हुई। सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व क्या था? इस विषय में विज्ञान का कहना है कि Bing-bang के बाद ही सृष्टि नियम विकसित हुए हैं। सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? इससे पूर्व यह भी जानना आवश्यक है कि सृष्टि की उत्पत्ति का कार्य कब प्रारम्भ हुआ तथा सृष्टि का प्रारम्भ कब हुआ यह एक अत्यन्त महत्पूर्ण विषय है। वेद सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान के आदि स्रोत हैं। सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन ऋग्वेद के अदिति सूक्त विश्वकर्मा सूक्त, पुरुष सूक्त, प्रजापति सूक्त, नासदीय सूक्त, ऋत् सूक्त तथा अथर्ववेद के कालसूक्त आदि सूक्तों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी सृष्टि विषयक अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते है।

इस इकाई में आप वेदों में सृष्टि विषयक परिकल्पना एवं वैदिक अवधारणाओं के विषय में विस्तार से पढेंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- ➢ वेद के अर्थ को बताने में समर्थ होंगे।
- ➢ विभिन्न सूक्तों में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे।
- ➢ शास्त्रपरम्परा के अनुसार सृष्टि की परिल्पना का विवेचन करने में समर्थ होंगे।
- ➢ सृष्टि की वैदिक परिकल्पना की व्याख्या कर सकेंगे।
- ➢ पुराणों में सृष्टि की परिकल्पना का वर्णन कर सकेंगे
- ➢ सृष्टि के अर्थ को बताने में समर्थ होंगे।
- ➢ सृष्टि की उत्पत्ति का समय बता सकेंगे।

1.3 सृष्टि की वैदिक परिकल्पना एवं अवधारणा

सृष्टि का शाब्दिक अर्थ है निर्माण रचना अथवा उत्पत्ति। अर्थात् किसी वस्तु की उत्पत्ति अथवा निर्माण सृष्टि कहलाती है। जगत् की सृष्टि एक महत्वपूर्ण विषय है। सृष्टि की अवधारणा के विषय में ज्ञान प्राप्त करने पूर्व यह भी जानना आवश्यक है कि इस चराचर जगत् का निर्माण कार्य कब प्रारम्भ हुआ। इस विषय में सूचना का सन्दर्भ वेदों का नेत्र स्वरूप ज्योतिषशास्त्र है। ज्योतिषशास्त्र सृष्ट्यादि से लेकर प्रलय पर्यन्त काल की गणना की गई है। ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्त ग्रन्थों में कालमानाध्याय में कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा का दिन प्रारम्भ होने पर हुई। अर्थात् ब्रह्मा का कल्प तुल्य दिन पूर्ण होने पर प्रलय होती है। तदनन्तर एक कल्प तुल्य रात्रि में वह विश्राम करते है। द्वितीय अहोरात्र प्रारम्भ होने पर वह संसार का निर्माण कार्य प्रारम्भ करते है।

इस प्रकार दो कल्प तुल्य ब्रह्मा का एक अहोरात्र होता है। एक कल्प में सन्धि सहित 14 मनु होते है। प्रत्येक मनु में 71 महायुग होते हैं। एक महायुग का मान 12000 दिव्य वर्ष होता है। (दिव्य वर्ष देवताओं से सम्बन्धित वर्ष होता है जिसमें 360 देवताओं के दिन होते है। देवताओं के एक दिन में 360 सौरदिन होते हैं। सूर्य का एक अंश तुल्य भोगकाल एक सौर दिन कहलाता है तथा 360 सौर दिन का एक सौरवर्ष जो देवताओं का एक दिन दिन अथवा दिव्यदिन है।)

एक महायुग में कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग नामक चारयुग सन्धि सहित होते है। चार हजार दिव्य वर्ष का एक कृगयुग कहा है। इस युग की जितने दिव्य वर्ष की अर्थात् 400 वर्ष की सन्ध्या होती है और उतने ही वर्षों की अर्थात् 400 वर्षों का सन्ध्यांश का समय होता है अर्थात कृतयुग का कुल मान 4800 दिव्यवर्ष है। त्रेता युग का मान 3000 दिव्यवर्ष तथा 300 वर्ष की संध्या 300 वर्ष संध्यांश कुल मान 3600 दिव्यवर्ष है। द्वापर युग का मान 2000 दिव्यवर्ष, 200 दिव्यवर्ष सन्धि एवं 200 दिव्यवर्ष संध्याश कुल मान 2400 दिव्य वर्ष तथा कलयुग का मान 1000 दिव्यवर्ष, सन्धि-संध्यांश 200 वर्ष कुल मान 1200 वर्ष है। इस प्रकार कुल मान 4800+3600+2400+1200=12000 दिव्यवर्ष एक महायुग का मान होता है। अर्थात -

सूर्य का एक अंश तुल्य भोगकाल	=	एक सौर दिन
360 सौर दिन	=	देवताओं का एक दिन (दिव्यदिन)
360 दिव्यदिन	=	1 दिव्य वर्ष ।
12000 दिव्य वर्ष	=	1 महायुग
71 महायुग	=	1 मनु
ससन्धि 14 मनु	=	1 कल्प = ब्रह्मा का दिन
2 कल्प	=	ब्रह्मा का एक अहोरात्र।

देव युगों को 1000 से गुण करने पर जो काल परिणाम निकलता है, वह ब्रह्म का एक दिन और उतने ही वर्षों की एक रात समझना चाहिए। यह ध्यान रहे कि एक देव वर्ष 360 मानव वर्षों के बराबर होता है। जो लोग उस एक हजार दिव्य युगों के परमात्मा के पवित्र दिन को और उतने की युगों की परमात्मा की रात्रि समझते हैं, वे ही वास्तव में दिन-रात = सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय काल के विज्ञान के वेत्ता लोग हैं। इस आधार की सृष्टि की आयु = 12000 × 1000 देव वर्ष = 12000000 देव वर्ष 12000000×360 = 4320000000 मानव सौरवर्ष। अतः 12000000 देव वर्ष = 4320000000 मानव वर्ष पहले जो बारह हजार दिव्य वर्षों का एक दैव युग कहा है, इससे 71 (इकहत्तर) गुणित अर्थात् 12000×71 = 852000 दिव्य वर्षों का अथवा 852000×360= 306720000 वर्षों का एक मन्वन्तर का काल परिणाम गिना गया है। इस प्रकार वह महान् परमात्मा असंख्य मन्वन्तरों को, सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय को बार-बार करता रहता है, अर्थात् सृष्टी प्रवाह से अनादि है। उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 4320000000 सौरवर्ष पूर्व ब्रह्मा का दिन प्रारम्भ हुआ तथा सृष्टि की रचना का कार्य प्रारम्भ हुआ।

सृष्टि की रचना का प्रारम्भ कब हुआ ? इस विषय पर विचार करने के पश्चात इस विषय पर विचार करना आवश्यक है कि सृष्टि में मानव की उत्पत्ति कब हुई, क्योंकि मानव के उत्पन्न होने पर ही तो वेद का ज्ञान उसे प्राप्त हुआ है। इससे पूर्व की स्थिति अर्थात् सृष्टि उत्पन्न होने के प्रारम्भ से मानव के उत्पन्न होने तक के समय पर भी विचार करना परमावश्यक है। वास्तव में मनुष्य ने तो अपने उत्पन्न होने के बाद ही समय की गणना प्रारमभ की है। सृष्टि के उस समय की गणना वह कैसे करता, जब बन ही रही थी? वह कैसे जानता कि सृष्टि उत्पन्न होने की क्रिया के प्रारमभ होने से उसके पूर्ण होने तक सृष्टि निर्माण में कितना समय व्यतीत हुआ है? सूर्यसिद्धान्त में इस विषय पर विचार किया गया है। समस्त वैदिक वांड्मय के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि के रचयिता परब्रह्म हैं। वैदिक वांड्मय में परब्रह्म को ही प्रजापति, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, विराट पुरूष आदि के नाम से सम्बोधित किया गया है। ज्योतिषशास्त्र के आर्ष ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त के कालमानाध्याय में वर्णन सृष्टि काल के विषय इस प्रकार से वर्णन आया है -

ग्रहक्ष-देव-दैत्यादि सृजतोक्षस्य चराचरस्य।
कृताद्रिवेदा दिव्याब्दाः शघ्ना वेधसो गताः।

अर्थात् ग्रह, नक्षत्र, देव, दैत्य आदि चर (जधैर्म जीव-जन्तु) अचर (स्थावर वृक्ष पर्वतादि) की रचना करने में ब्रह्मा को कल्पारम्भ से शत गुणित 474 दिव्य वर्ष अर्थात् 474×100 = 47400 दिव्य वर्ष बीत गए। एक दिव्यवर्ष होते है अर्थात 47400 × 360 = 17064000 सौर वर्ष। तथा

4320000000-17064000 = 4302936000 सौरवर्ष। उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि सूर्यसिद्धान्त के काल से 4320000000 सौर वर्ष पूर्व सृष्टि की रचना प्रारम्भ हुई तथा 4302936000 सौरवर्ष पूर्व सृष्टि की सम्पूर्ण गतिविधियों का प्रारम्भ हुआ। अर्थात् ग्रह, नक्षत्र ने चलना प्रारम्भ किया तथा पृथ्वी पर चराचर का प्रारम्भ हुआ।

1.3.1ब वैदिक सृष्टि की विवेचना

वैदिक वांड्मय के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि के रचयिता परब्रह्म हैं। वैदिक सृष्टि का विवेचन प्राय: विभिन्न सूक्तों के माध्यम से हमें दृष्टिगोचर होता है।जिसका वर्णन हम यहा करने जा रहे है।

1. अदिति सूक्त—

अदिति शब्द का अर्थ है- पूर्णता, रचनात्मकता, जो बन्धन रहित हो, तथा जो सीमा से रहित हो। अदिति सूक्त ऋग्वेदीय दशम मण्डल का 72 वाँ सूक्त है। इस सूक्त की दृष्ट्री अदिति दाक्षायणी है। यह प्राचेतस दक्ष प्रजापति तथा आसिकनी की कन्या तथा कश्यप प्रजापति की पत्नी थी। इस सूक्त में अदिति को विश्व सृष्टि की मूर्ति के रूप में प्रतिपादित किया गया है। मन्त्र में कहा गया है कि अदिति ही द्यौ है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति ही सब भूतों की माता और पिता है। वही पुत्र है, पञ्चजन भूत और भविष्य सब अदिति ही अदिति है। यथा—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्ज्जातमदितिर्जनित्वम्।।

इस मन्त्र में अदिति शब्द अनेक पदों से व्यवहृत होता है। सूक्त के 5 वें मन्त्र में दक्ष को सूर्य कहा गया है औरसूक्त में अदिति को 'प्रकृति' कहा गया है। और इसी प्रकृति से सब पदार्थों की उत्पत्ति कही गई है। ठीक इस सूक्त की भाँति सांख्यदर्शन में भी सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण प्रकृति को कहा है। सूक्त में दिव्य पदार्थों की सृष्टि प्रक्रिया में परब्रह्म परमेश्वर को उपादान कारण बनाया तथा अव्यक्त प्रकृति को निमित्त कारण। यही महान् ब्रह्माण्ड वा प्रकृति का स्वामी परमात्मा है और यही परमात्मा इन समस्त लोकों को लौहकार के सदृश अग्नि में डालता और संतप्त करता है। सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ रूप परमात्मा अपने अग्निमय तेजस रूप से सबको तप्त करता है। अतएव वहीं से अनेक सूर्य तप्त रूप में उत्पन्न होते हैं, तदनन्तर सृष्टि की प्रागवस्था में सूर्यादि के प्रथम निर्माण वा प्रेरणाकाल में अव्यक्त प्रकृति से सत् अर्थात् व्यक्त जगत् उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् व्यापक दिशाएँ प्रकट हुई। तदनन्तर उसी से ऊपर की ओर फैलने वाले किरणों वाला इसी प्रकृति अर्थात् अदिति से ऊर्ध्व आकाश में गति करने वाले सूर्य- चन्द्रादि प्रकट हुए, अदिति से ही व्यापन युक्त गुण वाले पञ्च तत्त्वों (आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथिवी) की उत्पत्ति हुई। उस अखण्ड प्रकृति से ही दग्ध करने वाले अग्नि और बलोत्पादक वायु की उत्पत्ति हुई है। सूर्य रूप अग्निमय पिण्ड से खण्ड न होने वाली दृढ यह पृथिवी उत्पन्न हुई। अखण्ड प्रकृति से अग्नि और वायु की उत्पत्ति बताई गई है और एक अन्य सन्दर्भ में इस ऋचा के अनुवाद में कहा गया है कि अदिति दक्ष की माता है अर्थात् अदिति से ही दक्ष की उत्पत्ति हुई है और यह अदिति उस दक्ष से परे है अर्थात् अखण्ड रूप में विद्यमान है। सूक्त के ही अन्य मन्त्र में कहा गया है कि अदिति सूर्य की दुहिता के समान है और (अदिति को मन्त्र में

पृथिवी भी कहा गया है) वह दृढ पृथिवी अग्नि रूप से उत्पन्न हुई है। उसके पश्चात् सुख-ऐश्वर्य में रमण करने वाले, अमृत अविनाशी जीवन से बंधे हुए अनेक जीवगण उत्पन्न हुए।

व्यापक अखण्ड प्रकृति से आठ तत्त्व उत्पन्न हुए, जो बहुत से लोकों की रक्षा करते हैं। अर्थात् उत्पादनोन्मुख प्रकृति से महत्, अहंकार, पञ्च तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म भूत वह व्यापक अखण्ड प्रकृति सात ग्रहों के रूप में इन ग्रहों को प्राप्त हुई। उसने सूर्य को इन सातों से दूर फेंका। इनमें आठवाँ मार्तण्ड सूर्य है, उसको दूर ऊपर फेंका जो उदित होता है। सातों पुत्रों के साथ वह अविनाशिनी शक्ति पूर्वकाल में आती है और तत्पश्चात् उत्पन्न होने तथा फिर मृत्यु के लिए तुझसे ही हे प्रकृते ! मृत जड़ तत्त्व के बने अण्ड वा जीवित देह उत्पन्न होते हैं।

अति लघूत्तरीय प्रश्न—

1- अदिति सूक्त ऋग्वेदीय दशम मण्डल का कौन सा सूक्त है?

2- अदिति सूक्त में किसे विश्व सृष्टि की मूर्ति के रूप में प्रतिपादित किया गया है?

3- किस प्रकृति से अग्नि और वायु की उत्पत्ति बताई गई है?

4- व्यापक अखण्ड प्रकृति से कितने तत्त्व उत्पन्न हुए?

5- दृढ पृथ्वी किस रूप से उत्पन्न हुई है?

2. विश्वकर्मा सूक्त—

विश्वकर्मा सूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल का 81वां तथा 82 वां सूक्त है। सूक्त में कहा गया है कि विश्वकर्मा ने समस्त जगत् को यज्ञीय हविष्य के रूप में अग्नि को समर्पित कर दिया। तदनन्तर विश्वकर्मा स्वयमेव अग्नि में प्रविष्ट हो गया। वही दृश्यादृश्य जगत् का निर्माणकर्त्ता था। अतः स्पष्ट हो जाता है कि विश्वकर्मा ने द्विविध शरीर धारण किया था। एक शरीर को अग्नि में याज्ञिक हवि के रूप समर्पित किया और दूसरे शरीर से जगत् की संरचना की। तृतीय मन्त्र में कहा गया है कि विश्वकर्मा की आँखें, मुख, बाहु तथा चरण चारों और है। अपनी भुजाओं तथा पदों के प्रेरण से वह आकाश तथा पृथ्वी को उत्पन्न करते है। 82 वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि शरीर के उत्पादयिता तथा अनुपम धीर विश्वकर्मा ने सर्वप्रथम जल को उत्पन्न किया तत्पश्चात जल में इधर-उधर चलने वाली द्यावापृथ्वी की रचना की। द्यावापृथ्वी के प्राचीन तथा अन्त्य प्रदेशों को विश्वकर्मा ने सुदृढ़ किया। द्वितीय मन्त्र में कहा गया है कि, विश्वकर्मा बृहत् हैं तथा वो सब जानते हैं तथा सब कुछ देखते हैं। 82 वें सूक्त में विश्वकर्मा का सर्वोच्चशक्ति के रूप में वर्णन किया गया है। इस सूक्त के अनुसार विश्वकर्मा अपनी संकल्पात्मक बुद्धि के सामर्थ्य से समस्त जगत् को धारण करने वाला है। उस बुद्धिमान ने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया और तदनन्तर पूर्व से उत्तर परिणाम को प्राप्त होते हुए द्यौ और पृथिवी को जन्म दिया। इन दोनों के जब पर्यन्त भाग, बाहर के सीमा भाग स्थिर हो गए तो पुनः उस बुद्धिमान ने द्यौ और पृथिवी का विस्तार किया अर्थात् उसमें अनेक विकृतियाँ की। सूक्त में विश्वकर्मा की स्तुति बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई है। विश्वकर्मा को सृष्टि के संहारकर्त्ता और सृष्टि के स्रष्टा उभी रूपों में हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विश्वकर्मा का तादात्म्य प्रजापति के साथ स्थापित किया गया है।

उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि अन्य विकृतियों से पूर्व हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई और उस गर्भाण्ड से द्यौ और पृथिवी लोकों की उत्पत्ति होती है। इन दोनों लोकों को स्थिर करने के अनन्तर

वह बुद्धिमान अन्य विकृतियाँ करके उन लोकों को विस्तृत करता है।

लघूत्तरीय प्रश्न—

1- विश्वकर्मा के दो प्रकार के शरीर ने क्या कार्य किया ?

2- विश्वकर्मा ने सर्वथम किस को उत्पन्न किया ?

3- विश्वकर्मा सूक्त किस वेद के किस मण्डल का कौन सा सूक्त है।

4- ब्राह्मण ग्रन्थों में विश्वकर्मा का तादात्म्य किस के साथ स्थापित किया गया है।

5- विश्वकर्मा आकाश तथा पृथ्वी को कैसे उत्पन्न करते है।

3. पुरुष सूक्त —

पुरुष सूक्त ऋग्वेद के दशममण्डल का 90वॉं सूक्त है। इस सूक्त के ऋषि नारायण तथा देवता पुरुष है। इस सूक्त में 16 मन्त्रें के माध्यम से जगत की सृष्टि एवं सृष्ट का विकास का कारण विराटपुरुष बताया गया है। वैदिक ऋषि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सृष्टिक्रम को यज्ञ के रुप में स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार सूक्त में वर्णित विराट् पुरुष ही इस ब्रह्माण्ड रूपी यज्ञ में स्वयं को अर्पित करके अनेक रूपों में प्रकट होता है , तदनन्तर सृष्टि की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। पुरुष के भव्य स्वरूप का वर्णन सूक्त के प्रारम्भिक चार मन्त्रों में किया गया है। यहाँ मन्त्रों में बताया गया है। कि विराट् पुरुष परमेश्वर हजारों सिरों वाला, हजारों आँखो वाला और हजारों पैरों वाला है। वह भूमि के चारों और से व्याप्त करके दस अंगुल प्रमाण में ब्रह्माण्ड को पार करके स्थित है। अर्थात् वह परम पुरुष ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किए हुए है। यह सब कुछ दृश्यमान वर्तमान जगत् पुरुष ही है। जो कुछ हो चुका है, भूतकालीन और जो कुछ होगा अर्थात् भविष्यत् कालीन जगत् भी पुरुष ही है और वह पुरुष देवताओं का अथवा अमरत्व का स्वामी है। पुरुष अन्न अर्थात् प्राणियों के भोग्य पदार्थों के कारण बढ़ता है अर्थात् इस दृश्यमान जगत् रूप अवस्था को प्राप्त करता है। इतनी इसकी महिमा है अर्थात् भूत-भविष्यत् वर्तमान कालत्रयवर्ती यह समग्र जगत् इसकी महिमा मात्र है। सम्पूर्ण प्राणी अर्थात् यह समग्र जगत् इसका केवल पाद (चतुर्थांश) है। इसके तीन पाद अर्थात् तृतीयांश अविनाशी रुप से द्युलोक में अर्थात् स्वप्रकाश रुप में अवस्थित रहते हैं। संसार से ऊपर तीन पादों वाला यह विराट् पुरुष इस जगत् से ऊपर उठा हुआ है अर्थात् विश्व के गुण दोषों से रहित है। इसका एक पाद इस भौतिक जगत् के रुप में बार-बार होता है, अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय होते रहते हैं।

अग्रिम सूक्तों में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसी आदि पुरुष महाविष्णु से विराट् हुआ। उस विराट् का अधिपुरुष वही है। वह अधिपुरुष उत्पन्न होकर अत्यन्त दीप्त प्रकाश वाला हुआ। उसने उत्पन्न होने के पश्चात् भूमि तथा शरीरादि उत्पन्न किये। उस पुरुष के शरीर में ही देवताओं ने हविष्य की भावना करके यज्ञ का विस्तार किया। उस यज्ञ में बसंत ऋतु घृत, ग्रीष्म ऋतु ईंधन और शरद ऋतु हवि हुई। उस सर्वहुत यज्ञ से प्रशस्त पोषक पदार्थ घृत आदि उत्पन्न हुआ। उस प्रजापति पुरुष ने वायु में उड़ने वाले पक्षी ग्राम में रहने वाले, वन में रहने वाले आदि पशुओं को उत्पन्न किया। उस सर्वहुत यज्ञ पुरुष से ऋग्वेद तथा सामवेद उत्पन्न हुए। उसी से छन्द उत्पन्न हुए , उसी से यजुर्वेद प्रकट हुआ। उसी यज्ञ पुरुष द्वारा घोड़े उत्पन्न हुए। जिनके ऊपर-नीचे दोनों ओर दांत हैं, ऐसे गर्दभ आदि पशु भी उत्पन्न हुए। उसी से गौएं तथा भेड़-बकरियां भी उत्पन्न हुईं। सृष्टि के पूर्व प्रकट हुए उस यज्ञ साधनभूत पुरुष को कुशाओं द्वारा प्रोक्षण करके उसी पुरुष के द्वारा देवता,

साध्यगण तथा ऋषिगण आदि ने उस मानस यज्ञ का यजन किया। इस पुरुष के मुख से ब्राह्मण हुए, बाहुओं से क्षत्रिय हुए। इस पुरुष के जो दोनों ऊरु हैं उनसे वैश्य और पैरों से शूद्र प्रकट हुए । उनके मन से चन्द्रमा हुए, चक्षु से सूर्य हुए, कानों से वायु तथा प्राण हुए और मुख से अग्निदेव हुए। उस यज्ञ पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक उत्पन्न हुआ, शिर से स्वर्ग प्रकट हुआ, पैरों से पृथ्वी और कानों से दिशाएं उत्पन्न हुईं। इसी प्रकार उस पुरुष में ही ये सब लोक कल्पित हुए। जिस पुरुष पशु का यज्ञ में बंधन करके देवताओं ने यज्ञ किया, उस यज्ञ में सात छंद इसकी 7 परिधियां बनाई गई और इक्कीस (12 महीने, पांच ऋतुएं, एक आदित्य तथा तीन लोक) समिधाएं बनीं। देवगण यज्ञ के द्वारा उस यज्ञ पुरुष का यजन करते हैं। इन धर्मों का अस्तित्व प्रथम कल्पों में भी था। जिस स्वर्ग में पूर्व के साध्यगण देवगण रहते थे, उसी में उनके उपासक भी उपस्थित होते हैं।

रिक्त स्थान की पूर्ति —

1- पुरुष सूक्त के ऋषि तथा देवता--------------------- पुरुष है।

2- पुरुष विराट् परमेश्वर हजारों ------ वाला, हजारों -------वाला और हजारों-------वाला है।

3- विराट पुरुष तीन पाद अर्थात् तृतीयांश ---------रुप से द्युलोक में अर्थात् स्वप्रकाश रुप में अवस्थित रहते हैं।

4- यज्ञ में बसंत ऋतु घृत, ग्रीष्म ऋतु ईंधन और--------------------------------- हवि हुई।

5- उनके मन से ---हुए, चक्षु से सूर्य हुए, कानों से वायु तथा प्राण हुए आऔर मुख से अग्निदेव हुए।

4. प्रजापति सूक्त—

प्रजापति सूक्त ऋग्वेद के दशममण्डल का 121 वां सूक्त है। सूक्त के ऋषि हिरण्यगर्भ प्रजापति है। सी भी मान्यता है। कि इस सूक्त का ऋषि प्रजापति का पुत्र हिरण्यगर्भ है। सूक्त के देवता प्रजापति है। जिन्हें सम्पूर्ण सूक्त में क संज्ञा से व्यहृत किया गया है। प्रजापति का शाब्दिक अर्थ- प्रजाओं का स्वामी होता है। सृष्टिकर्ता देव के रुप में प्रजा का अर्थ सम्पूर्ण तथा पति का अर्थ सृष्टा होगा। अतः प्रजापति में सृष्टि तथा सृष्टा दोनों ही अन्तर्भूत हैं। अतएव सूक्त की अन्तिम ऋचा में भी प्रजापति नाम उद्धृत है।

हिरण्यगर्भ सूक्त में दश ऋचाएँ हैं। हिरण्यगर्भ शब्द सूक्त की प्रथम ऋचा का प्रथम पद है। आचार्य सायण 'हिरण्यगर्भ' पद का अर्थ प्रथत अर्थ किया है - 'सुवर्णमय अण्डे को गर्भ में धारण करने वाला प्रजापति' द्वितीय अर्थ किया है - 'जिसके उदर में स्वर्णमय अण्डा गर्भ के समान स्थित है। वह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ कहा जाता है।' सूक्त की नौ ऋचाओं के चतुर्थ चरण में 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' यह वाक्य है। अर्थात् सुख स्वरुप अथवा 'क' संज्ञक गुण सम्पन्न उस हिरण्यगर्भ का हम हवि द्वारा पूजन करते हैं। आचार्य सायण ने कस्मै शब्द के अनेक अर्थ इस प्रकार किए हैं - यथा- अनिति स्वरुप होने से प्रजापति के लिए, सृष्टि के लिए कामना से युत्तफ़, इच्छार्थ 'कम् धातु से 'ड' प्रत्यय के योग से निष्पन्न सुख अर्थ वाला। अतः सुखस्वरुप होने से प्रजापति 'क' है।

सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के प्रथम तीन चरणों में उस देवता या ऋषि के गुणों तथा उसके द्वारा किया गये कार्यों का वर्णन किया गया है यथा- सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व वह हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही सभी प्राणियों का एकमात्र स्वामी हुआ, उसने पृथिवी और चुलोक को धारण किया। जो हिरण्यगर्भ आत्माओं को बल का देने वाला है, अमृतत्व और गृत्युत्व छाया के समान जिसके

वशवर्ती हैं जो अपनी महिमा से अकेले ही श्वास लेते हुए तथा पलक झपकाते हुए विश्व का स्वामी हो गया, जो इस दो पैरों वाले मनुष्य तथा चार पैरों वाले गाय, घोड़ा आदि पशुओं का स्वामी हुआ। जिसकी महिमा से ये पर्वत हैं, नदियों के साथ समुद्रों को, जिसका कहते हैं, ये प्रधान दिशायें (पूर्व आदि चार दिशायें) और बाहु के समान कोण दिशायें (आग्नेय आदि चार कोण दिशायें) जिसकी महिमा को कहते हैं, हिरण्यगर्भ प्रजापति ने ही द्युलोक को ऊपर उठाया हुआ है और पृथिवी को स्थिर किया है, जिसने स्वर्ग लोक को ऊपर थामा हुआ है और सूर्य को ऊपर अन्तरिक्ष में थामा है, जो आकाश में जलों को बनाने वाला है। संसार की रक्षा करने के हेतु से निर्माण करने के लिए स्थिर किये गये और प्रकाशमान होते हुये द्युलोक और पृथिवी लोक को वह अपने मन से देखता है, उस प्रजापति को आधार बना कर सूर्य उदय होकर प्रकाशित होता है। जब प्रजापति रुप गर्भ को धारण करती हुई तथा अग्नि को उत्पन्न करती हुई विशाल जलराशि विश्व में आई, तब देवताओं का एक प्राणभूत वायु उत्पन्न हुआ। वह सृष्टि -उत्पत्ति रुप यज्ञ को उत्पन्न करने वाले और सृष्टि -उत्पत्ति में दक्ष प्रजापति को धारण करने वाले जलों को अपनी महिमा से देखता है, और वही सभी देवताओं के मध्य में उनका स्वामी अद्वितीय देव है। वह पृथिवी को उत्पन्न करने वाला है और सत्य नियमों को धारण करते हुये उसने द्युलोक को उत्पन्न किया, उसने आनन्द प्रदान करने वाले महान् जलों को उत्पन्न किया। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी इन विद्यमान सम्पूर्ण उत्पन्न हुए पदार्थों को और उन सारे भूतकालीन पदार्थों को व्याप्त करने वाला नहीं है। क संज्ञक गुण सम्पन्न उस हिरण्यगर्भ का हम हवि द्वारा पूजन करते हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1- प्रजापति सूक्त ऋग्वेद के दशममण्डल का है -

(क) 128वां सूक्त (ख) 121वां सूक्त

(ग) 125 वां सूक्त (घ) 122वां सूक्त

2- सूक्त की अन्तिम ऋचा में नाम उद्धृत है -

(क) प्रजापति (ख) सूर्य

(ग) इन्द्र (घ) नारद

3- सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न हुआ -

(क) प्रजापति (ख) 121वां सूक्त

(ग) इन्द्र (घ) हिरण्यगर्भ

4- आचार्य सायण ने ‘हिरण्यगर्भ’ पद का अर्थ किया है -

(क) ‘सुवर्णमय अण्डे को सिर पर धारण करने वाला

(ख) ‘सुवर्णमय अण्डे को गर्भ में धारण करने वाला

(ग) ब्रह्म को धारण करने वाला

(घ) सोने के अण्डे को वायु में धारण करने वाला

5- किस को आधार बना कर सूर्य उदय होकर प्रकाशित होता है।

(क) प्रजापति (ख) सूर्य

(ग) इन्द्र (घ) हिरण्यगर्भ

5. नासदीय सूक्त —

ऋग्वेद के मण्डल 10 सूक्त 129 को नासदीय-सूक्त कहते हैं। नासदीय सूक्त के रचयिता ऋषि प्रजापति परमेष्ठी हैं। इस सूक्त के देवता भाववृत्त है। यह सूक्त मुख्य रुप से इस तथ्य पर आधारित है कि ब्रह्मांड की रचना कैसे हुई। इस सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति होने से पूर्व आकाश की अन्धकाररुप स्थिति का वर्णन है। परमात्मा के सम्मुख सृष्टि का उपादान कारण द्रव्यभाव से वर्तमान था, आत्माएं भी साधारण और मुत्तफ़ अवस्था की बहुत थीं आदि ऐसे अनेक विषयों का वर्णन इस सूक्त में है। नासदीय का अर्थ है कि सृष्टि की रचना से पूर्व जगत् की स्थिति शून्यमय नितान्त अभावरुप नहीं थी, कुछ अवश्य था परन्तु जो था वह अप्रकट व प्रकाशित था। सूक्त में कुल 7 मन्त्र हैं। मन्त्रें में कहा गया है कि उस समय अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से पहले प्रलय दशा में असत् अर्थात् अभावात्मक तत्त्व नहीं था। सत = भाव तत्त्व भी नहीं था, रजः = स्वर्गलोक मृत्युलोक और पाताल लोक नहीं थे, अन्तरिक्ष नहीं था और उससे परे जो कुछ है वह भी नहीं था, वह आवरण करने वाला तत्त्व कहाँ था और किसके संरक्षण में था। उस समय कठिनाई से प्रवेश करने योग्य गहरा क्या था, अर्थात् वे सब नहीं थे। उस प्रलय कालिक समय में मृत्यु नहीं थी और अमृत = मृत्यु का अभाव भी नहीं था। रात्री और दिन का ज्ञान भी नहीं था उस समय वह ब्रह्म तत्व ही केवल प्राण युत्तफ़, क्रिया से शून्य और माया के साथ जुड़ा हुआ एक रुप में विद्यमान था, उस माया सहित ब्रह्म से कुछ भी नहीं था और उस से परे भी कुछ नहीं था। सृष्टिके उत्पन्न होनेसे पहले अर्थात् प्रलय अवस्था में यह जगत् अन्धकार से आच्छादित था और यह जगत् तमस रुप मूल कारण में विद्यमान था, अज्ञात यह सम्पूर्ण जगत् जल रुप में था। अर्थात् उस समय कार्य और कारण दोंनों मिले हुए थे यह जगत् है वह व्यापक एवं निम्न स्तरीय अभाव रुप अज्ञान से आच्छादित था इसीलिए कारण के साथ कार्य एकरुप होकर यह जगत् ईश्वर के संकल्प और तप की महिमा से उत्पन्न हुआ। सृष्टि की उत्पत्ति होने के समय सब से पहले काम अर्थात् सृष्टि रचना करने की इच्छा शत्तिफ़ उत्पन्न हुयी, जो परमेश्वर के मन मे सबसे पहला बीज रुप कारण हुआ। भौतिक रुप से विद्यमान जगत् के बन्धन-कामरुप कारण को क्रान्तदर्शी ऋषियो ने अपने ज्ञान द्वारा भाव से विलक्षण अभाव मे खोज डाला। अविद्या, काम-संकल्प और सृष्टि बीज-कारण को सूर्य-किरणों के समान बहुत व्यापकता उनमें विद्यमान थी। इस प्रकार उत्पन्न जगत् में कुछ पदार्थ बीज रुप कर्म को धारण करने वाले जीव रुप में थे और कुछ तत्त्व आकाशादि महान रुप में प्रकृति रुप थे। कौन इस बात को वास्तविक रुप से जानता है और कौन इस लोक में सृष्टि के उत्पन्न होने के विवरण को बता सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उपादान कारण से और किस निमित्त कारण से सब ओर से उत्पन्न हुयी। देवता भी इस विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होने से बाद के हैं अतः ये देवगण भी अपने से पहले की बात के विषय में नहीं बता सकते इसलिए कौन मनुष्य जानता है जिस कारण यह सारा संसार उत्पन्न हुआ यह विविध प्रकार की सृष्टि जिस प्रकार के उपादान और निमित्त कारण से उत्पन्न हुयी इस का मुख्या कारण है ईश्वर के द्वारा इसे धारण करना। इसके अतिरित्तफ़ अन्य कोई धारण नहीं कर सकता। इस सृष्टि का जो स्वामी ईश्वर है, अपने प्रकाश या आनंद स्वरुप में प्रतिष्ठित है। वह आनंद स्वरुप परमात्मा ही इस विषय को जानता है उस के अतिरित्तफ़ (इस सृष्टि उत्पत्ति तत्व को) कोई नहीं जानता है। इस सूक्त मे कहा गया है कि यथा-सत-असत, चेतन तत्त्व जो अपनी धारण शत्तिफ़ द्वारा उस अवस्था में भी स्थित था, काम-ईक्षण

जिसके द्वारा विविध प्रकार की सृष्टि प्रकट हुई है। अनादि पदार्थ जो सर्वप्रथम उत्पन्न हुए एवं इसके पश्चात् भोत्तफ़ा जीव आए एवं वही चेतन तत्त्व इस सृष्टि को उत्पन्न करके स्वयं ही इसका धारक बन गया। नासदीय सूक्त सत् तथा असत् दोनों सत्ताओं का निषेध करता है। सत् से अभिप्राय है कि यह नामरुपात्मक जगत् अपने अस्तित्व में नहीं था अथवा अस्तित्व से युत्तफ़ अर्थात् प्रत्यक्ष रुप में वर्णनीय नहीं था और असत् से अभिप्राय है कि यह नामरुपात्नक जगत् तो नहीं था, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता के कुछ भी नहीं था, अगर कुछ नहीं था तो पुनः इस सृष्टि की रचना कैसे सम्भव हुई। कथन का भाव है कि मूलतत्त्व - परब्रह्म जिसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, किन्तु वह उस समय भी विद्यमान था। असत् जगत् के मूलकारण का वाचक है और मूलकारण तत्त्व एकमात्र परब्रह्म है तथा सत् कार्यरुप जगत् का वाचक है।

सत्य/असत्य प्रश्न

1- ऋग्वेद के मण्डल 10 सूक्त 129 को नासदीय-सूक्त कहते हैं। सत्य/असत्य

2- इस सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति होने से पूर्व पृथ्वी की अन्धकाररुप स्थिति का वर्णन है। सत्य/असत्य

3- नासदीय का अर्थ है कि सृष्टि की रचना से पूर्व जगत् की स्थिति शून्यमय नितान्त अभावरुप नहीं थी, कुछ अवश्य था परन्तु जो था वह अप्रकट व प्रकाशित था। सत्य/असत्य

4- नासदीय सूक्त सत् तथा असत् दोनों सत्ताओं को स्वीकार करता है। सत्य/असत्य

5- असत् से अभिप्राय है कि यह नामरुपात्नक जगत् तो नहीं था। सत्य/असत्य

6. ऋत्त सूक्त—

ऋत्त सूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल का 190 वॉ सूक्त है। ऋग्वेदीय दशम मण्डल के लघु सूत्तफ़ों में ऋत सूक्त का विशिष्ट स्थान है। इस सूक्त में सृष्टि-प्रक्रिया को बड़ी सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया गया है आचार्य यास्क के अनुसार ऋत का अर्थ उदक, सत्य, यज्ञ एवं रेतत् है। सूक्त का ऋषि मधुच्छन्दर का पुत्र अघमर्षण है और इसी कारण सूक्त को अघमर्षण सूक्त भी कहा गया है। और सूक्त का देवता भाववृत्तम है। इस सूक्त के तीन मन्त्र हैं और तीनों मन्त्र अत्यन्त लोकप्रिय हैं। सूक्त में सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन सरल एवं स्पष्ट शब्दों में व्यत्तफ़ किया गया है।

सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि तप से ऋत अर्थात् प्राकृतिक प्रवाह अर्थात् द्रव्य और सत्य अर्थात् नित्य तत्त्व सत्ता की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर ऋत और सत्य से रात्रि उत्पन्न होती है। उस तप से यह जल से युक्त महान् समुद्र और सूक्ष्म जलों से व्याप्त आकाश प्रकट हुआ। अर्थात् उस से कणों के सागर में गति को धारण करने वाले मूल तत्त्व के विस्तार का उदय हुआ। मंत्र का भावार्थ है कि उस समय काल की शुन्य स्थिति थी, तप ने प्राकृतिक प्रवाह और सत्य स्वरुप प्रकृति को चारों ओर से प्रज्वलित किया। उसी से प्रलय रुपी रात्रि का अविर्भाव हुआ। अर्थात् प्रकृति के कणों में संक्षोभ हुआ। सूक्त के द्वितीय मन्त्र में जल से आपूरित समुद्र की उत्पत्ति का वर्णन है और इस अर्णय समुद्ध अर्थात् जलापूरित समुद्र से संवत्सर प्रकट होता है। संवत्सर के प्रकट होने के पश्चात् अहोरात्र की सृष्टि हुई अर्थात् दिन और रात्रि प्रकट हुए। संवत्सर रुप ईश्वर दिन तथा रात्रि को बनाने वाले हैं। निमेषादि से युक्त वह काल समस्त संसार के स्वामी हैं। सूक्त में रात्रि की उत्पत्ति दो बार बताई गई है- प्रथम गन्त्र में ऋत और सत्य से केवल रात्रि की उत्पत्ति का वर्णन है तथा द्वितीय मन्त्र में रात्रि के साथ-साथ दिन की उत्पत्ति का भी वर्णन प्राप्त होता है। तृतीय मंत्र में उल्लेख है कि उस कालरुप ईश्वर द्वारा सूर्य,

चन्द्रमा द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोक अर्थात् प्रकाश्य तथा अप्रकाश्य समस्त पदार्थों को पूर्व काल के अनुसार बनाया। इस प्रकार ऋत सूक्त में सृष्टि प्रकिया का कम शब्दों में अतीव सारगर्भित वर्णन किया गया है।

7. कालसूक्त —

अथर्ववेद के उन्नीसवे अध्याय का 53वां तथा 54वां सूक्त काल सूक्त है। सूक्त के देवता काल हैं। इस सूक्त के ऋषि ने काल को परब्रह्म माना है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में काल के स्वरुप का वर्णन करते हुए कहा है कि -

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चका भुवनानि विश्वा।।

वह काल रुपी अश्व शुक्ल, नील पीत, रक्तफ़, हरित, कपिश, चित्र वर्ण सात प्रकार की किरणों वाला सूर्य के समान प्रकाशमान है (अर्थात् सूर्य की भी यह सात किरणें सात घोड़े हैं), सहस्रं नेत्रें वाला है तथा कभी वृद्धावस्था को प्राप्त न होने वाला है। द्वितीय मन्त्र में ही काल को सात पहियों वाला अर्थात् तीन काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) और चार दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण) वाला कहा गया है। कहा है कि वह ही प्रथम दिव्य पदार्थ है जिससे सभी सत्ताएँ उत्पन्न होती हैं। अर्थात् सब भुवनों को प्रकट करता है। काल ने ही स्वयं आकाश और पृथिवी को उत्पन्न किया और परमेश्वर के नियम से भूत और भविष्य भी उस काल के ही भीतर है। यह जगत् उस काल से ही उत्पन्न होकर प्रतिष्ठित है।

बड़े ही रहस्यमय ढंग से काल की महिमा को सूर्य और पृथिवी के छिपने और छुपाने के उदाहरण द्वारा समझाया गया है कि काल के प्रभाव से ही परमात्मा प्रलय के पीछे सब पदार्थों को और नियमों को उत्पन्न करता है और प्रलय के समय में लय कर देता है जिस प्रकार सूर्य जब पृथिवी के सन्मुख आता है तो दिखाई देता है, किन्तु जब पृथिवी की आड़ में होता है तो अदृश्य हो जाता है अर्थात् छिप जाता है। संसार का उपकार करने के लिए अर्थात् जगत् सृष्टि के लिए वायु, पृथिवी, आकाश आदि परमाणु काल के कारण ही संयोग पाकर साकार होते हैं अर्थात् यही परमाणु सृष्टि उत्पत्ति के कारण हैं और इनका संयोग काल के द्वारा ही सम्भव है। काल सूक्त के 53वें सूक्त के चतुर्थ मन्त्र और 54वें सूक्त के तृतीय मन्त्र में काल को सृष्टि का पिता और पुत्र कहा है, जो पिता के समान नित्य वर्तमान काल होने से पहिले और पुत्र के समान पीछे भी विद्यमान रहता है। अर्थात् काल रुपी पुत्र द्वारा ही बीता हुआ भूतकाल और होने वाला भविष्यत्काल पहिले उत्पन्न किया। काल के ही प्रभाव से सब आगे- पीछे की सृष्टि और वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार काल की गति बड़ी ही कल्पनातीत है। अतः सूक्त में बड़े ही रहस्यमयढंग से काल की तुलना सूर्य से अर्थात् सूर्य की सात किरणों-रुपी घोड़े से की गई है। अन्ततः काल ही चराचर प्राणियों को उत्पन्न करने वाला है और भूत, भविष्य, वर्तमान तीन प्रकार के कालों का आधार है और पृथिवी, स्वर्गादि विविध लोकों को सृजन करने वाला है।

1.3.2 वैदिकवाङ्मय में सृष्टि की परिकल्पना

सृष्टि परिकल्पना को लेकर सर्वप्रथम यह विचार उत्पन्न होता है कि यह दृश्य जगत् कहाँ से आया? इसको लाने वाला कौन है? इसका निर्माणकर्ता कौन है? इत्यादि अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं।

इसका समाधान क्या है? यह सृष्टि-क्रम अनन्त है और इसकी जिज्ञासाएँ भी अनन्त है। इस विषय से सम्बन्धित जिज्ञासाएँ वेदों में अनेक स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है। विश्वकर्मा सूक्त में जिज्ञासा व्यक्त करतक हुए कहा गया है कि वह कौन सा वन है तथा वन का कौन सा वृक्ष है जिसने आकाश तथा पृथ्वी को बनाया। इसी प्रकार ट्टग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि की जिज्ञासा का वर्णन इस प्रकार आया है। यथा -

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत अजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जने ना अथा को वेद यत आवभूव।।
इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
या अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।।

अर्थात् यह विविध सृष्टि किससे उत्पन्न हई, किसलिए हुई, इस प्रकृत तत्त्व को वस्तुतः कौन जानता है? अथवा इसके विषय में कौन कह सकता है? यह सृष्टि किास उपादान कारण से हुई है? किस निमित्त कारण से हुई है? देवता भी इस सृष्टि के अनन्तर उत्पन्न हुए। यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुइ उसे कौन जानता है? यह विविध प्रकार की सृष्टियां कहां से हुई? किसने सृष्टि की तथा किसने नहीं ? वेदों में सृष्टि की अवधारणा के निम्न सिद्धान्त प्राप्त होते है।

विराट पुरूष से सृष्टि की उत्पत्ति —

ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में 16 मन्त्रों में जगत की सृष्टि कारण विराटपुरूष बताया गया है। सूत्तफ़ में वर्णित विराट् पुरुष ही इस ब्रह्माण्ड रूपी यज्ञ में स्वयं को अर्पित करके अनेक रूपों में प्रकट होता है और तदनन्तर सृष्टि की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। यह पुरुष विराट् परमेश्वर हजारों सिरों वाला, हजारों आँखों वाला और हजारों पैरों वाला है। वह भूमि के चारों और से व्याप्त करके दस अंगुल प्रमाण में ब्रह्माण्ड को पार करके स्थित है। अर्थात् वह परम पुरुष ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किए हुए है। यह सब कुछ दृश्यमान वर्तमान जगत् पुरुष ही है। जो कुछ हो चुका है, भूतकालीन और जो कुछ होगा अर्थात् भविष्यत् कालीन जगत् भी पुरूष ही है और वह पुरुष देवताओं का अथवा अमरत्व का स्वामी है। पुरुष अन्न अर्थात् प्राणियों के भोग्य पदार्थों के कारण बढ़ता है अर्थात् इस दृश्यमान जगत् रूप अवस्था को प्राप्त करता है।ष्इतनी इसकी महिमा है अर्थात् भूत-भविष्यत् वर्तमान कालत्रयवर्ती यह समग्र जगत् इसकी महिमा मात्र है। सम्पूर्ण प्राणी अर्थात् यह समग्र जगत् इसका केवल पाद (चतुर्थांश) है। इसके तीन पाद अर्थात् तृतीयांश अविनाशी रूप से द्युलोक में अर्थात् स्वप्रकाश रूप में अवस्थित रहते हैं। संसार से ऊपर तीन पादों वाला यह विराट् पुरुष इस जगत् से ऊपर उठा हुआ इस पुरुष के मुख से ब्राह्मण हुए, बाहुओं से क्षत्रिय हुए। इस पुरुष के जो दोनों उरु हैं उनसे वैश्य और पैरों से शूद्र प्रकट हुए। उनके मन से चन्द्रमा हुए, चक्षु से सूर्य हुए, कानों से वायु तथा प्राण हुए और मुख से अग्निदेव हुए। उस यज्ञ पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक उत्पन्न हुआ, शिर से स्वर्ग प्रकट हुआ, पैरों से पृथ्वी और कानों से दिशाएं उत्पन्न हुई। इसी प्रकार उस पुरुष में ही ये सब लोक कल्पित हुए।

अतिलघूत्तरीय प्रश्न

1. एक कल्प में सन्धि सहित कितने मनु होते है ?
2. एक देव वर्ष कितने मानव वर्षों के बराबर होता है ?

3. एक महायुग में कितने युग सन्धि सहित होते है ?
4. कितने सौरवर्ष पूर्व ब्रह्मा का दिन प्रारम्भ हुआ ?
5. ग्रह, नक्षत्र, देव, दैत्य आदि चर-अचर की रचना करने में ब्रह्मा को कल्पारम्भ से कितने दिव्य वर्ष बीत गए?

विश्वकर्मा से सृष्ट्युत्पत्ति —

ऋग्वेद के विश्वकर्मा सूक्त में विश्वकर्मा को सृष्ट्युत्पत्ति का कारण बतायया बया है। विश्वकर्मा ने सर्वथम जल को उत्पन्न किया तत्पश्चात जल में इधर-उधर चलने वाली द्यावापृथवी की रचना की। द्यावापृथवी के प्राचीन तथा अन्त्य प्रदेशों को विश्वकर्मा ने सुदृढ़ किया। द्वितीय मन्त्र में कहा गया है कि, विश्वकर्मा बृहत् हैं तथा वो सब जानते हैं तथा सब कुछ देखते है। 82 वें सूक्त में विश्वकर्मा का सर्वोच्चशक्ति के रूप में वर्णन किया गया है। इस सूक्त के अनुसार विश्वकर्मा अपनी संकल्पात्मक बुद्धि के सामर्थ्य से समस्त जगत् को धारण करने वाला है। उस बुद्धिमान ने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया और तदनन्तर पूर्व से उत्तर परिणाम को प्राप्त होते हुए द्यौ और पृथिवी को जन्म दिया। इन दोनों के जब पर्यन्त भाग, बाहर के सीमा भाग स्थि हो गए तो पुनः उस बुद्धिमान ने द्यो और पृथिवी का विस्तार किया।

हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति से से सृष्ट्युत्पत्ति—

सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व वह हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही सभी प्राणियों का एकमात्र स्वामी हुआ, उसने पृथिवी और चुलोक को धारण किया। जो हिरण्यगर्भ आत्माओं को बल का देने वाला है, अमृतत्व और गृत्युत्व छाया के समान जिसके वशवर्ती हैं जो अपनी महिमा से अकेले ही श्वास लेते हुए तथा पलक झपकाते हुए विश्व का स्वामी हो गया, जो इस दो पैरों वाले मनुष्य तथा चार पैरों वाले गाय, घोड़ा आदि पशुओं का स्वामी हुआ। जिसकी महिमा से ये पर्वत हैं, नदियों के साथ समुद्रों को, जिसका कहते हैं, ये प्रधान दिशायें (पूर्व आदि चार दिशायें) और बाहु के समान कोण दिशायें (आग्नेय आदि चार कोण दिशायें) जिसकी महिमा को कहते हैं, हिरण्यगर्भ प्रजापति ने ही द्युलोक को ऊपर उठाया हुआ है और पृथिवी को स्थिर किया है, जिसने स्वर्ग लोक को ऊपर थामा हुआ है और सूर्य को ऊपर अन्तरिक्ष में थामा है, जो आकाश में जलों को बनाने वाला है। संसार की रक्षा करने के हेतु से निर्माण करने के लिए स्थिर किये गये और प्रकाशमान होते हुये द्युलोक और पृथिवी लोक को वह अपने मन से देऽता है, उस प्रजापति को आधार बना कर सूर्य उदय होकर प्रकाशित होता है। जब प्रजापति रूप गर्भ को धारण करती हुई तथा अग्नि को उत्पन्न करती हुई विशाल जलराशि विश्व में आई, तब देवताओं का एक प्राणभूत वायु उत्पन्न हुआ।

ब्रह्मा से विश्व की उत्पत्ति—

वेदों के अनुसार ब्रह्म सृष्टि के रचयिता है। ऋग्वेद के सूत्तफ़ों में वर्णन किया गया है कि सृष्टि के आदि में न सत् था और असत् था, न आकाश था, न वायुमण्डल था और न दिन-रात थे। केवल ब्रह्म की ही सत्ता थी। ब्रह्म को किसी ने उत्पन्न नहीं किया, वह स्वयं उद्भूत (स्वयं उत्पन्न) है। ब्रह्मा अनादि है। ब्रह्मा में स्वयं संल्प शत्तिफ़ होती है। ब्रह्मा ने सृष्टि के सृजन का संकल्प किया। उनका यह स ल्प ही जाज्वल्यमान तप था, जो चतुर्दिक व्याप्त था। उस महाज्योति परमतत्त्व से ऋतं और सत्य की उत्पत्ति हुई। यथा-

ऋतं च सत्यं चाभिद्धात्तपसोध्यजायत।
ततो रा=यजायत ततः समुद्रो{र्णवः।।

अर्थात् उस जाज्वल्यमान परमतेज से ऋतं (ज्ञान) तथा सत्यं की उत्पत्ति हुई। उन परमाणुओं के स्थूल होने पर पदार्थ की रचना हुई। दिनरात्रि की रचना हुई तथा जल से परिपूर्ण समुद्र की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ। ब्रह्म से सृष्टयुत्पत्ति की संकल्पना का वर्णन अन्य उपनिषदों, पुराणों तथा दर्शन शास्त्रदि में भी प्राप्त होता है।

लघूत्तरीय प्रश्न

1.ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में जगत की सृष्टि कारण किसे बताया गया है।

2.विराट पुरूष के किन अंगों से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय उत्पन्न हुए।

3-विश्वकर्मा ने सर्वथम किस को उत्पन्न किया

4-हिरण्यगर्भ आत्माओं किसे बल का देने वाला है।

5-ब्रह्मा का संकल्प कैसा था।

पौराणिक सृष्टि परिकल्पना —

भारतीय चिन्तन परम्परा में पुराणो का विशिष्ट स्थान है। प्रायः सभी पुराणों में सृष्टि की अवधारणा का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में पराशर जी कहते हैं कि फ् इस जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण विष्णु हैं। उन्हीं में यह जगत् स्थित है। विष्णु ही इसकी स्थिति और लयकर्ता तथा विष्णु ही जगत् हैं। वह परब्रह्म, विकार-रहित, शुद्ध, अविनाशी परमात्मा, सर्वथा एकरस, भगवान वासुदेव हैं। वे सर्वत्र हैं एवं समस्त विश्व उन्हीं में विद्यमान है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव इन त्रिरूपों में विष्णु भगवान् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं। एक रूप में प्रतीत होते हैं किन्तु अनेक रूपों वाले हैं। विकाररहित, शुद्धस्वरूप, नित्य, स्थूलसूक्ष्म, अव्यत्तफ़ (कारण), व्यत्तफ़ (कार्य) रूप हैं, किन्तु वास्तव में अत्यन्त निर्मल ज्ञानस्वरूप हैं।

पुराण के अनुसार जगत् के प्रलय के पूर्व कुछ भी नहीं था। सब कुछ करने वाली ब्रह्मसंज्ञक एक ज्योति नित्यमाया रहित, शान्तनिर्मल, नित्यनिर्मल आनन्दसागर अर्थात आनन्द से पूर्णतः परिपूर्ण तथा नितान्त स्वच्छ थी जिसकी मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष सदा इच्छा किया करते हैं। वह ज्योतिर्ब्रह्म सर्वज्ञ है, ज्ञान स्वरूप वाला है तथा वही सृष्टि का मूल कारण है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी वर्णित है कि विश्व का अधिष्ठाता विराट् स्वरूप वाला स्थूल से भी स्थूलतम को धारण करने वाला है। महत्तत्त्व आदि रूप वाला सृजन की ओर उन्मुऽ होता हुआ अपनी ही कला द्वारा हृदय में नित्य सूक्ष्म को एकचित करके सृजन करने वाला परब्रह्म है। वही प्रकृति-ब्रह्मा-विष्णु और शिव आदि समस्त को प्रकट करने वाला है। वह परमब्रह्म स्वेच्छामय सनातन भगवान् सबका बीज स्वरूप है- सबका आधार और परापर है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अध्ययन से भी यही प्रतीत होता है कि सृष्टि की पूर्व अवस्था में जब विश्व शुन्यता से पूर्व जीव-जन्तुओं से रहित-निर्जल-घोर-वायु रहित अन्धकार से आवृत्त था उस समय निर्धातु शस्यों से वर्जित - बिना तृणों वाला ही था।

विष्णुपुराण के सदृश ही गरूड़पुराण में भी जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय- इन तीनों कार्यों को भगवान विष्णु की पुरातनी क्रीड़ा कहा है। नर, नारायण, वासुदेव, निरंजन परमात्मा तथा

परब्रह्म भी भगवान विष्णु ही है। इस जगत् जनिलयादि के कारण भी वे ही हैं। वही व्यत्तफ़ और अव्यत्तफ़ स्वरूप वाले हैं तथा पुरुष और काल रूप से अवस्थित है। व्यक्त विष्णु स्वरूप है तथा पुरूष तथा काल इन्हीं का अव्यक्त रूप है।

मत्स्यपुराण के अनुसार भी महाप्रलय व्यतीत होने के अनन्तर समस्त जगत् की स्थिति अन्धकार में घने तम से आच्छन्न थी, यथा- अन्धकार में सोए हुए चर वा अचर वस्तु की भाँति न तो पता लगने योग्य, न पहचानने योग्य और न ही कहीं कोई वस्तु जानने योग्य थी। निराकार, इन्द्रियों से परे, सूक्ष्म से अति सूक्ष्म, महान् से अत्यधिक महत्ता और अविनाशी अर्थात् अविनाश सत्ता वाले, जगत् में नारायण नाम से प्रसिद्ध, इस महाप्रलय के अनन्तर संसार में पुण्य कर्म के प्रभाव से घने तम का विनाश करते हुए चराचर जगत् के उत्पत्ति कारक स्वयं प्रादुर्भूत हुए।

नारदीय पुराण द्वारा भी समस्त जगत् उसी नारायण में व्याप्त है। नारायण ही परम-तत्त्व अथवा परमब्रह्म का स्वरूप है। नारायण अविनाशी अनन्त एवं सर्वव्यापी है। महाविष्णु, नारायण का अपर अभिधान है।

महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित श्री मद्भागवत पुराण वैष्णव पुराणों में एक अद्वितीय महनीयता से मण्डित है। श्री मद्भागवत पुराण स्पष्ट शब्दों में अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन करता है। इस पुराण के द्वितीय स्कन्ध के नवम अध्याय का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि परमतत्त्व भगवान् ब्रह्मा को चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश करते हुए कहते हैं कि सर्वत्र ‘अहम्श् अर्थात् मैं ही हूँ। उस परमतत्त्व का कथन है कि फ् सृष्टि की पूर्वकालीन अवस्था में मेरे अतिरित्तफ़ सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल तथा असत् अर्थात् कारणात्मक सूक्ष्म कुछ भी न था। स्थूल और सूक्ष्म को अज्ञान कहने वाला कारण भी नहीं था। इन सब सत-असत् का कारणभूत प्रधान भी मुझमें ही अन्तर्मुऽ होकर लीन था। जहाँ यह सृष्टि नहीं है अर्थात् जब प्रलय में सब लीन हो जाते है तो केवल मेरी सत्ता होती है तथा में समस्त चराचरों का सृजन करता हू।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. विष्णु पुराण के अनुसार इस जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण कौन हैं -

(क) ब्रह्मा (ख) विष्णु

(ग) सूर्य (घ) महेश

2. ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार विश्व का अधिष्ठाता कौन है।

(क) परब्रह्मा (ख) विष्णु

(ग) सूर्य (घ) महेश

3. गरूड़ पुराण में भी जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय- इन तीनों कार्यों को किसकी की पुरातनी क्रीड़ा कहा है।

(क) परब्रह्मा (ख) विष्णु

(ग) सूर्य (घ) महेश

4. मत्स्य पुराण के अनुसार चराचर जगत् के उत्पत्ति कारक स्वरूप कौन प्रादुर्भूत हुए-

(क) परब्रह्मा (ख) विष्णु

(ग) सूर्य (घ) नारायण

5. मद्भागवत पुराण स्पष्ट शब्दों में किस तत्त्व का प्रतिपादन करता है -

(क) द्वैत (ख) अद्वैत

(ग) विशिष्टाद्वैत (घ) महाद्वौत

दर्शनशास्त्र में सृष्टि की परिकल्पना —

भारत में श्दर्शनश् उस विद्या को कहा जाता है जिसके द्वारा तत्व का ज्ञान हो सके। श्तत्व दर्शनश् या श्दर्शनश् का अर्थ है तत्व का ज्ञान। मानव के दुखों की निवृति के लिए या तत्व ज्ञान कराने के लिए ही भारत में दर्शन का जन्म हुआ है भारतीयर्शन आस्तिक तथा नास्तिक दो भागों में विभक्त है। वेदोंकी सत्ता को स्वीकार करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन तथा वेदों के अस्तित्व को स्वीकार ना करने वाले दर्शन नास्तिक दर्शन कहलाते है। यह न्याय, वैशेशिक, साख्य, योग, मीमांसा तथा वेद ये छः दर्शन आस्तिक दर्शन की श्रेणी में, चार्वाक बौध तथा जैन नास्तिक दर्शन कहलाते है। प्रायः सभी दर्शनों में सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में वर्णन किया गया है। यहां केवल आस्तिक दर्शन में सृष्ट्यिुत्पत्ति के विषय में विचार किया जा रहा है।

न्याय-वैशेषिक का जगत् विचार —

न्याय-वैशेषिक दर्शन विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सृष्टिवाद के सिद्धान्त को अपनाता है। सांख्य को छोड़कर भारत के प्रत्येक दर्शन में सृष्टिवाद के सिद्धान्त को शिरोधार्य किया गया है। परन्तु वैशेषिक के सृष्टि सिद्धान्त की कुछ विशेषताएँ है, जो इसे अन्य सृष्टि सिद्धान्तों से अनूठा बना देती है। वैशेषिक के मतानुसार विश्व का निर्माण परमाणुओं से हुआ है। परमाणु चार प्रकार के हैं पृथ्वी के परमाणु, जल के परमाणु, वायु के परमाणु और अग्नि के परमाणु। चूँकि विश्व का निर्माण चार प्रकार के परमाणुओं से हुआ है। इसलिए वैशेषिक का सृष्टि-सम्बन्धी मत परमाणुवाद का सिद्धान्त कहा जाता है। परमाणु शाश्वत होते हैं। इनकी न सृष्टि होती है और न नाश होता है। निर्माण का अर्थ है, विभिन्न अवयवों का संयुत्तफ़ हो जाना, विनाश का अर्थ है विभिन्न अवयवों का बिऽर जाना। परमाणु निरवयव है, इसलिए निर्माण और विनाश से परे है।

सांख्य दर्शन में जगत विचार —

सांख्य दर्शन की मान्यता है कि संसार की हर वास्तविक वस्तु का उद्गम पुरूष और प्रकृति से हुआ है। पुरूष में स्वयं आत्मा का भाव है जबकि प्रकृति पदार्थ और सृजनात्मक शत्तिफ़ की जननी है। विश्व की आत्मायें संख्यातीत है जिसमें चेतना तो है पर गुणों का अभाव है। वही प्रकृति मात्र तीन गुणो के समन्वय से बनी है। इस त्रिगुण सिद्धान्त के अनुसार सत्व, राजस्व तथा तमस की उत्पत्ति होती है। सांख्य दर्शन में सृष्ट्युत्पत्ति का सूत्र निम्नलिखित है-

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान,
महतौहंकारौहंकारात् पंचतन्मात्रण्युभयमिनिन्द्रियं
तन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि पुरूष इति पंचविंशतिर्गणः।।

प्रकृति मूल रूप से सत्व,रज तथा तमस की साम्यावस्था को कहते है। तीनो आवेश परस्पर एक दूसरे को निःशेष (दमनजतंसप्रम) कर रहे होते है। परमात्मा का तेज परमाणु (त्रित) की साम्यावस्था को भंग करता है और असाम्यावस्था आरंभ होती है। रचना-कार्य में यह प्रथम परिवर्तन है। इस अवस्था को महत् कहते है। यह प्रकृति का प्रथम परिणाम है। मन और बुध्दि इसी महत् से बनते हैं। इसमें

परमाणु की तीन शत्तिक्रिया बर्हिमुऽ होने से आस-पास के परमाणुओ को आकर्षित करने लगती है। अब परमाणु के समूह बनने लगते है। तीन प्रकार के समूह देखे जाते है। एक वे है जिनसे रजस् गुण शेष रह जाता है। यह तेजस अहंकार कहलाता है। इसे वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में इलेक्टोन कहते है। दूसरा परमाणु-समूह वह है जिसमें सत्व गुण प्रधान होता है वह वैकारिक अहंकार कहलाता है। इसे वर्तमान वैज्ञानिक प्रोटोन कहते है। तीसरा परमाणु-समूह वह है जिसमें तमस् गुण प्रधान होता है इसे वर्तमान विज्ञान की भाषा में न्यूटोन कहते है। यह भूतादि अहंकार है। इन अहंकारों को वैदिक भाषा में आपः कहा जाता है। ये(अहंकार) प्रकृति का दूसरा परिणाम है। तदनन्तर इन अहंकारों से पाँच तन्मात्रएँ (रूप, रस) रस,गंध, स्पर्श और शब्द) पाँच महाभूत बनते है अर्थात् तीनों अहंकार जब एक समूह में आते है, तो वे परिमण्डल कहाते है। परिमण्डलों के समूह पाँच प्रकार के हैं। इनको महाभूत कहते हैं। इन पत्त्चमहाभूतों से समस्त चराचर सृष्टि का निर्माण होता है।

योग दर्शन में जगत् सम्बन्धी विचार —

योग-दर्शन में ईश्वर को विश्व का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता नहीं माना गया है। विश्व की सृष्टि प्रकृति के विकास के फलस्वरूपही हुई है। यद्यपि ईश्वर विश्व का सृष्टा नहीं है, फिर भी वह विश्व की सृष्टि में सहायक होता है। विश्व की सृष्टि पुरुष और प्रकृति के संयोजन से ही आरम्भ होती है। पुरुष और प्रकृति दोनों एक-दूसरे से भिन्न एवं विरूद्ध कोटी के हैं। दोनों को संयुत्तफ़ करने के लिए ही योग-दर्शन में ईश्वर की मीमांसा हुई है। अतः ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है, जबकि प्रकृति विश्व का उपादान कारण है। इस बात को विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्र ने प्रमाणिकता दी है।

मीमांसा-दर्शन में जगत विचार—

उत्तरमीमांसा (वेदांत) अज्ञान से सृष्टि और आत्मज्ञान से सृष्टि का विनाश (मोक्ष) मानता है। अन्य दर्शनों में द्वयणुकादि क्रम से महाभूत पर्यन्त महासृष्टि और महाभूत से परमाणु पर्यन्त विनाश को महाप्रलय कहा है। अर्थात् संपूर्ण भाव कार्य द्वयणुकादि क्रम से उत्पन्न होते हैं और स्थूल से परमाणु पर्यंत जाकर नष्ट हो जाते हैं। पंच महाभूतों में पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य हैं। आकाश स्वयं ही नित्य है, किंतु पूर्व मीमांसा के अनुसार दो प्रकार की सृष्टि और तीन प्रकार के प्रलय होते हैं, जिनमें महासृष्टि और ब्रह्माण्ड सृष्टि शब्द से दो सृष्टि कही गई है। ऐसे ही प्रलय, महाप्रलय और ब्रह्माण्ड प्रलय शब्द से तीन प्रलय कहे गए हैं। उनमें ब्रह्माण्ड सृष्टि और ब्रह्माण्ड प्रलय आजकल के समान ही माना गया है। उदाहरणार्थ किसी स्थल विशेष का भूकंप आदि से विनाश हो जाता है और कहीं पर नवीन वस्तु की सृष्टि हो जाती है। महासृष्टि में परमाणुओं से द्वयणुकादि द्वारा पंचमहाभूत पर्यन्त नवग्रहादिकों की सृष्टि होती है। मत्स्यपुराणादि में भी ब्रह्माण्ड प्रलय के अंतर्गत विद्यमान पदार्थों की स्थिति का विवरण प्राप्त होता है, किंतु पूर्व मीमांसा महासृष्टि और महाप्रलय को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार सभी पदार्थों के नाश में कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः मीमांसा दर्शन ब्रह्माण्ड सृष्टि और ब्रह्माण्ड प्रलय को ही मानता है।

वेदान्त दर्शन में जगत् विचार —

वेदान्तदर्शन के अनुसार सृष्ट्युत्पत्ति में सर्वप्रथम ईश्वर से पाँच सूक्ष्म भूतों का अविभाव होता है। माया से आकाश उत्पन्न होता है। आकाश से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि उत्पन्न होती है तथा अग्नि से जल उत्पन्न होता है। इस प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से सूक्ष्म भूतों

का निर्माण होता है। पाँच स्थूल भूतों का निर्माण, पाँच सूक्ष्म भूतों का पाँच प्रकार के संयोग होने के फलस्वरूप होता है। जिस सूक्ष्म भूत को स्थूल भूत में परिवर्तित होना है, उनका आधा भाग (1/2) तथा अन्य चार सूक्ष्म तत्त्वों के आठवें हिस्से (1/8) के संयोजन से पाँच स्थूल भूतों का निर्माण होता है। पाँच सूक्ष्म भूतों से पाँच स्थूल भूतों का अविर्भाव का क्रम इस प्रकार होता है

स्थूल आकाश = 1/2- आकाश , 1/8- वायु, 1/8- अग्नि ,1/8- जल, 1/8- पृथ्वी।

स्थूल वायु= 1/2 वायु,1/8 आकाश ,1/8 अग्नि ,1/8 जल ,1/8 पृथ्वी।

स्थूल अग्नि = 1/2 अग्नि ,1/8 आकाश ,1/8 वायु , 1/8 जल , 1/8 पृथ्वी।

स्थूल जल = 1/2 जल ,1/8 आकाश ,1/8 वायु ,1/8 अग्नि , 1/8 पृथ्वी।

स्थूल पृथ्वी = 1/2 पृथ्वी ,1/8 अकाश ,1/8 वायु ,1/8 अग्नि ,1/8 जल।

इस क्रिया को पंचीकरण कहा जाता है। प्रलय का क्रम सृष्टि के क्रम से प्रतिकूल है। प्रलय के समय पृथ्वी का जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में तथा आकाश का ईश्वर की माया में लय हो जाना है।

रिक्त स्थान की पूर्ति—

1- न्याय-वैशेषिक दर्शन विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में --------------के सिद्धान्त को अपनाता है।

2- सांख्य दर्शन की मान्यता है कि संसार की हर वास्तविक वस्तु का उद्गम ----------- हुआ है।

3- योग-दर्शन में --------- को विश्व का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता नहीं माना गया है।

4. मीमांसा ----------- से सृष्टि और------- से सृष्टि का विनाश (मोक्ष) मानता है।

5. वेदान्तदर्शन के अनुसार सृष्ट्युत्पत्ति में सर्वप्रथम ईश्वर से ------सूक्ष्म भूतों का अविभाव होता है।

1.4 सारांश

भारतीय चिन्तन परम्परा में वेद सभी विद्याओं के मूलाधार है। वैदिक वाङ्मय में सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में सर्वप्रथम वर्णन ऋग्वेद में आया है। ऋग्वेद के अदिति सूत्त, विश्वकर्मा सूक्त, पुरुष सूक्त, प्रजापति सूक्त, नासदीस सूक्त, ऋत्त सूक्त तथा अथर्ववेद के कालसूक्त आदि सूक्तों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद के अदिति सूक्त में सर्वप्रथम सृष्ट्युिक्पत्ति का वर्णन आया है। तदनन्तर विश्वकर्मा स्वयमेव अग्नि में प्रविष्ट हो गया। विश्वकर्मा ने सर्वथम जल को उत्पन्न किया तत्पश्चात जल में इधर-उधर चलने वाली द्यावापृथवी की रचना की। पुरुष सूक्त में वर्णन आया है कि वर्णित विराट् पुरुष ही इस ब्रह्माण्ड रुपी यज्ञ में स्वयं को अर्पित करके अनेक रुपों में प्रकट होता है और तदनन्तर सृष्टि की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। पुरुष के भव्य स्वरुप का वर्णन सूक्त के प्रारम्भिक चार मन्त्रें में किया गया है। सूक्तों में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसी आदि पुरुष महाविष्णु से विराट् हुआ। उस विराट् का अधिपुरुष वही है। प्रजापति सूक्त सूक्त का ऋषि प्रजापति का पुत्र हिरण्यगर्भ है जिसका अर्थ है 'सुवर्णमय अण्डे को गर्भ में धारण करने वाला प्रजापति' हिरण्यगर्भ सूक्त में दश ऋचाएँ हैं। सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व वह हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही सभी प्राणियों का एकमात्र स्वामी हुआ, उसने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया। नासदीय सूक्त के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति होने से पूर्व आकाश की अन्धकाररूप स्थिति का वर्णन है। ऋत सूक्त के अनुसार तप से ऋत अर्थात् प्राकृतिक प्रवाह अर्थात् द्रव्य और सत्य अर्थात् नित्य तत्त्व सत्ता की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर ऋत और सत्य से रात्रि उत्पन्न होती है। तप से यह जल से युक्त महान् समुद्र और सूक्ष्म

जलों से व्याप्त आकाश प्रकट हुआ। जलापूरित समुद्र से संवत्सर प्रकट होता है। संवत्सर के प्रकट होने के पश्चात् अहोरात्र की सृष्टि हुई अर्थात् दिन और रात्रि प्रकट हुए। उस कालरुप ईश्वर द्वारा सूर्य, चन्द्रमा द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोक अर्थात् प्रकाश्य तथा अप्रकाश्य समस्त पदार्थों को पूर्व काल के अनुसार बनाया। इस प्रकार ऋत सूक्त में सृष्टि प्रकिया का कम शब्दों में अतीव सारगर्भित वर्णन किया गया है। अथर्ववेद के काल सूक्त में भी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में काल के स्वरूप का वर्णन करते हैं जो बड़े ही रहस्यमय ढंग से काल की तुलना सूर्य से अर्थात् सूर्य की सात किरणों-रुपी घोड़ों से की गई है। सूक्त के अनुसार अन्ततः काल ही चराचर प्राणियों को उत्पन्न करने वाला है और भूत, भविष्य, वर्तमान तीन प्रकार के कालों का आधार है और पृथिवी, स्वर्गादि विविध लोकों को सृजन करने वाला है।

किसी वस्तु की उत्पत्ति अथवा निर्माण सृष्टि कहलाती है। चराचर जगत् का निर्माण कार्य कब प्रारम्भ हुआ यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा का दिन प्रारम्भ होने पर हुई। सूर्यसिद्धान्त के सृष्टि के रचयिता परब्रह्म हैं तथा ग्रह, नक्षत्र, देव, दैत्य आदि चर-अचर की रचना करने में ब्रह्मा को कल्पारम्भ से 47400 दिव्य वर्ष बीत गए। वेदों में सृष्टि की अवधारणा के चार सिद्धान्त प्राप्त होते हैं - विराट पुरूष से सृष्टि की उत्पत्ति, विश्वकर्मा से सृष्ट्युत्पत्ति, हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति से से सृष्ट्युत्पत्ति तथा ब्रह्मा से विश्व की उत्पत्ति। पुराणों में भी सृष्टि की अवधारणा का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णु पुराण के अनुसार इस जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण विष्णु हैं। पद्म पुराण के अनुसार सब कुछ करने वाली ब्रह्मसंज्ञक एक ज्योति है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार विश्व का अधिष्ठाता विराट् स्वरूप वाला स्थूल से भी स्थूलतम को धारण करने वाला परमब्रह्म स्वेच्छामय सनातन भगवान् सबका बीज स्वरूप है गरूड़ पुराण में जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय- इन तीनों कार्यो को भगवान विष्णु की पुरातनी क्रीड़ा कहा है। मत्स्य पुराण के अनुसार जगत् के स्रष्टा नारायण है। नारदीय पुराण के अनुसार समस्त जगत् नारायण में व्याप्त है। दर्शन शास्त्र में भी सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन प्रायः सभी आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनशास्त्र में किया गया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सृष्टिवाद के सिद्धान्त को अपनाता है। असके अनुसार विश्व का निर्माण चार प्रकार के परमाणुओं से हुआ है। सांख्य दर्शन की मान्यता है कि संसार की हर वास्तविक वस्तु का उद्गम पुरूष और प्रकृति से हुआ है। वेदान्तदर्शन के अनुसार सृष्ट्युत्पत्ति में सर्वप्रथम ईश्वर से पाँच सूक्ष्म भूतों का अविभाव होता है। अत: इस प्रकार इस इकाई में आपने अदिति सूत्त, विश्वकर्मा सूक्त, पुरुष सूक्त, प्रजापति सूक्त, नासदीस सूक्त, ऋत्त सूक्त तथा अथर्ववेद के कालसूक्त आदि सूक्तों में वर्णित सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में एवं वेदों पुराणों तथा दर्शनशास्त्र में सृष्टि की परिकल्पना के विषय में विस्तार से अध्ययन किया।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

लयकर्ता - अंत करने वाला

अविनाशी - जिसका कभी अंत ना हो

अव्यत्तफ़ - वाणी के द्वारा जिसका वर्णन न किया जा सके।

निर्जल - जल से रहित

निरंजन - दुर्गुण एवं दोष से रहित, निगुर्ण ब्रह्म

सृष्टिवाद - सृष्टि से सम्बन्धित सिद्धान्त

अविनाशी - जिसका कभी अन्त ना हो

हविष्य - यज्ञ के समय अग्नि में डाले जाने वाले पदार्थों का मिश्रण।

संहारकर्त्ता - नाश करने वाला

गर्भाण्ड - गर्भ में स्थित अण्डा

परिधियां - सीमाएं

समिधाएं - यज्ञ के लिए जलाई जाने वाली लकड़ी

द्युलोक - आकाश

अहोरात्र - दिन तथा रात्रि

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न—1

अति लघूत्तरीय प्रश्न -

1-72वाँ

2-अदिति को

3-अण्ड

4-आठ

5-अग्नि

लघूत्तरीय प्रश्न—

1-विश्वकर्मा ने द्विविध शरीर धारण किया था। एक शरीर को अग्नि में याज्ञिक हवि के रूप में समर्पित किया और दूसरे शरीर से जगत् की संरचना की।

2-विश्वकर्मा ने सर्वथम जल को उत्पन्न किया

3-विश्वकर्मा सूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल का 81वां तथा 82 वां सूक्त है।

4-ग्रन्थों में विश्वकर्मा का तादात्म्य प्रजापति के साथ स्थापित किया गया है।

5-विश्वकर्मा अपनी भुजाओं तथा पदों के प्रेरण से आकाश तथा पृथ्वी को उत्पन्न करते हैं।

रिक्त स्थान की पूर्ति —

1-नारायण

2-सिरों, आँखों, पैरों

3-अविनाशी

4-शरद ऋतु

5-चन्द्रमा

बहुविकल्पीय प्रश्न —

1- (ख)

2. (क)

3. (घ)

4. (ख)

5. (क)

सत्य/असत्य प्रश्न

1-सत्य

2-असत्य

3-सत्य

4-असत्य

5-सत्य

बोध प्रश्न—2

अतिलघूत्तरीय प्रश्न—

1- 14

2- 2- 360

3- 3- चार

4- 4- 4320000000

5- 5- 47400

लघूत्तरीय प्रश्न —

1. ट्टग्वेद के पुरूष सूक्त में जगत की सृष्टि कारण विराटपुरूष बताया गया है।
2. विराट पुरूष के मुख से ब्राह्मण तथा भुजाओं सं क्षत्रिय उत्पन्न हुए।
3. विश्वकर्मा ने सर्वथम जल को उत्पन्न किया
4. हिरण्यगर्भ आत्माओं को बल का देने वाला है,
5. ब्रह्मा का संकल्प जाज्वल्यमान तप था, जो चतुर्दिक व्याप्त था।

बहुविकल्पीय प्रश्न —

1- (ख) 2. (क) 3. (ख) 4. (घ) 5. (ख)

रिक्त स्थान की पूर्ति —

1-सृष्टिवाद

2-पुरूष और प्रकृति से

3-ईश्वर

4-अज्ञानए आत्मज्ञान

5-पाँच

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1-ऋग्वेद, सयणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता, अनुवादक पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 2016

2-अथर्ववेद, सयणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता, अनुवादक पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 2016

3- शतपथ ब्राह्मण, सायणाचार्यकृत-भाष्य, नाग प्रकाशन ज्वाहरनगर दिल्ली, 1990

4- ब्रह्माण्ड और सौर परिवार, प्रो- देवी प्रसाद त्रिपाठी, परिक्रमा प्रकाशन दिल्ली, 2006
5- सृष्ट्युत्पत्ति की वैदिक परिकल्पना, विष्णुकान्त शर्मा, प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली, 2008
6. सूर्यसिद्धान्तः -आर्षग्रन्थः, टीकाकार कपिलेश्वरशास्त्री,चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी-2004
7- भारतीय दर्शन की रूपरेखा - प्रो- हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1983
8-भारतीय दर्शन, डा- राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली -6, 1986

1.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1-सृष्टि उत्पत्ति - रामनाथ गुप्ता, मीरा प्रकाशन, 2019
2-वेद-विज्ञान चिन्तन, प्रो- बृजबिहारी चौबे, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशियारपुर,
3-वेद व विज्ञान, स्वामीप्रत्यगात्मानन्दस्वामी,अनुवादिका डा- उर्मिला शर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन
4-सृष्टि उत्पत्ति - रामनाथ गुप्ता, मीरा प्रकाशन, 2019
5-वेद-विज्ञानचिन्तन, प्रो- बृजबिहारी चौबे, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशियारपुर, 2005

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1-हिरण्यगर्भ सूक्त के अनुसार सृष्टि की अवधारणा का वर्णन विस्तार से कीजिए।
2-विश्वकर्मा सूक्त सृष्टि की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
3-पुरुष सूक्त में वर्णित सृष्टि की अवधारणा का विस्तृत वर्णन कीजिए।
4-नासदीय सूक्त के अनुसार सृष्टि की अवधारणा को विस्तार पूर्वक स्पष्ट कीजिए।
5-प्रजापति सूक्त के अनुसार सृष्टि की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
6-सूर्यसिद्धान्त के अनुसार सृष्ट्युत्पत्ति के काल पर निबंध लिखिए।
7-वेदों में वर्णित सृष्टि परिकल्पना का विस्तार से वर्णन कीजिए।
8-पुराणों के अनुसार सृष्टि की परिकल्पना की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
9-सांख्य तथा योग दर्शन के अनुसार सृष्टि की अवधारणा सविस्तार स्पष्ट कीजिए।
10-वेदान्त दर्शन में वर्णित सृष्टि की परिकल्पना का वर्णन कीजिए।

इकाई-2 वैदिक वाङ्मय में ब्रह्माण्ड की अवधारणा

इकाई की रुपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 ब्रह्माण्ड का स्वरूप एवं अवधारणा

2.4 वैदिक वाङ्मय में ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सिद्धान्त

2.5 सारांश

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों !

वैदिक अध्ययन से सम्बन्धित चतुर्थ खण्ड की यह द्वितीय इकाई है। इससे पूर्व इकाई में आपने सृष्टि की वैदिक परिकल्पना एवं अवधारणा को जाना। प्रस्तुत इकाई में हम वैदिक वाङ्मय में ब्रह्माण्ड की अवधारणा को जानेंगे। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इसका उत्तर स्पष्ट शब्दों में कोई नहीं दे सकता। जिज्ञासुओं ने इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए कई प्रयत्न किए हैं। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल पर्यन्त इस जिज्ञासा की पूर्ति हेतु मनुष्य आकाश में स्थित खगोलीय पिण्डों को निहारता आया है। प्रस्तुतप्रमाणों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि हमारे पूर्वज भी ब्रह्मांड के प्रति उतने ही जिज्ञासु थे, जितने आज हम हैं। सभ्यता के प्रारंभ से ही मनुष्य दिन में आँखों को चकाचौंध कर देने वाले सूर्य और रात में निरभ्र आकाश को अपनी मुलायम चांदनी से सुशोभित कर देने वाले चन्द्रमा तथा उसके साथ-साथ आकाश में स्थित असंख्य टिमटिमाते तारों एवं अन्य खगोलीय घटनाओं को देखकर रोमांचित होता रहा है। प्राचीन काल से ही मनुष्य ने सूर्योदय से सूर्यास्त तक, चन्द्रमा की घटती-बढ़ती कलाओं और ऋतु परिवर्तन जैसी प्राकृतिक घटनाओं के माध्यम से समय की गणना करने का प्रयास किया। इन आकाशीय घटनाक्रमों ने मनुष्य के सामाजिक और धार्मिक जीवन को भी पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया। भारतीय वैदिक विज्ञान में ब्रह्मांड की व्याख्या के तथ्य इस धारणा पर आधारित थे कि सारी भौतिक और प्राकृतिक क्रियाएं पंचमहाभूतों पर ही निर्भर हैं। इसी सिद्धान्त की पुष्टि हमें सर्वप्रथम तैत्तिरीयोपनिषद् में प्राप्त होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में पञ्चमहाभूतों की क्रमशः उत्पत्ति को वर्णित किया गया है। भारतीय ग्रन्थों में ब्रह्माण्ड की महत्ता सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न एवं सबसे विस्तृत विषय के रूप में बताई गई है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के विषय में वेदों से लेकर पुराणों तक, सभी ग्रन्थों में इसका वर्णन हमें मिलता है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति ही सृष्टि की उत्पत्ति का बीज है, इस प्रकार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति को ही सृष्टि की उत्पत्ति भी कहा जाता है। ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सिद्धान्त सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में हमें प्राप्त होते हैं, ऋग्वेद में नासदीयसूक्त, पुरुषसूक्त आदि ब्रह्माण्डोत्पत्ति के महत्वपूर्ण सूक्त हैं, जिनमें सृष्टिवर्णन विस्तार से किया गया है। आधुनिक विज्ञान भी इन्हीं सिद्धान्तों को आधार मानकर लगातार अनुसंधान कर रहा है। हमें यह जानना आवश्यक है कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कब और कैसे हुई ? क्या इसका कोई प्रारम्भ भी था ? इसकी उत्पत्ति से पूर्व क्या था? क्या इसका कोई जन्मदाता भी है ? यदि ब्रह्माण्ड का कोई जन्मदाता है तो पहले ब्रह्माण्ड का जन्म हुआ या उसके जन्मदाता का? यदि पहले ब्रह्माण्ड का जन्म हुआ तो उसके जन्म से पहले उसका जन्मदाता कहाँ से आया ? इस विराट ब्रह्माण्ड की मूल संरचना कैसी है ? ब्रह्माण्ड का भावी परिदृश्य (भविष्य) क्या होगा ? ब्रह्माण्ड के सदस्य कौन कौन हैं ? - ये कुछ ऐसे मूलभूत प्रश्न हैं जो आज भी उतने ही प्रासंगिक है जितने सदियों पूर्व थे। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से सम्बंधित इन मूलभूत प्रश्नों के उत्तर धर्माचर्यों, दार्शनिकों, और वैज्ञानिकों ने सप्रमाण दिए है। जिसका विस्तृत अध्ययन आप प्रस्तुत पाठ में करेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप—

- ब्रह्माण्ड के स्वरूप का वर्णन करने में समर्थ होंगे।
- ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सिद्धान्त की व्याख्या कर सकेंगे।
- वेदों में ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सिद्धान्तों कि अवधारणा का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- ब्रह्माण्ड की परिभाषा व अर्थ को जान सकेंगे।
- ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के विषयक सिद्धान्त को समझ सकेंगे।

2.3 ब्रह्माण्ड का स्वरूप एवं अवधारणा

ब्रह्माण्ड शब्द संस्कृत भाषा का है और इसका अर्थ होता है "ब्रह्मा का अंश" या "ब्रह्मा का विस्तार". जिससे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, संरचना, विस्तार और नाश को समझने में मदद मिलती है। इस शब्द का उपयोग समस्त जीवत्त्व के संगठन और उसके साथ सम्बंधित विषयों के लिए किया जाता है। यह शब्द ब्रह्मा और अंड (जो अविकारी और अनन्त है) के समन्वय को दर्शाता है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड शब्द लैटिन शब्द "यूनिवर्सम" से लिया गया है, जिसका उपयोग रोमन राजनेता सिसेरो और बाद के रोमन लेखकों ने दुनिया और ब्रह्माण्ड को संदर्भित करने के लिए किया था। पाश्चात्य जगत में ब्रह्माण्ड को यूनीवर्स (Universe) कहा जाता है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार – "ब्रह्माण्ड समय और अन्तरिक्ष की अन्तर्वस्तु को कहते हैं। ब्रह्माण्ड में सभी ग्रह, तारे, मन्दाकिनी, खगोलीय पिण्ड, अपरमाणविक कण, सम्पूर्ण पदार्थ और ऊर्जा सम्मिलित है। अवलोकन योग्य ब्रह्माण्ड का व्यास वर्तमान में लगभग 91.1 अरब प्रकाश वर्ष है, पूरे ब्रह्माण्ड का व्यास अभी अज्ञात है, और हो सकता है कि यह अनन्त हो" वाचस्पत्यम् में ब्रह्माण्ड की परिभाषा को इस प्रकार से कहा गया है– '**तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिन् यज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः**' अर्थात् वह अण्ड जिसमें सहस्रों ज्योतिपुञ्ज विद्यमान हैं, इस अण्ड में सृष्टियज्ञ करने वाले सभी लोकों के पितामह ब्रह्मा हैं। वे ही सभी प्रकार की सृष्टियां रचते हैं। अतः जिस अण्ड में ब्रह्मा समस्त प्रकार की सृष्टियों का सृजन करते हैं, उस अण्ड को ब्रह्माण्ड कहते हैं।

"यस्मिन् भाण्डे ग्रहनक्षत्रताराऽकाशगङ्गोल्का-धूमकेतुदैत्यमानवदेवादयः समस्ताः जीवादयो भूर्भुवादिचतुर्दशलोकाश्च समन्विताः सन्ति तदेव ब्रह्माण्डम्" अर्थात् जहाँ ग्रह, नक्षत्र, तारे, आकाशगङ्गा, उल्काएं, धूमकेतु, दैत्य, मानव, देवता आदि समस्त जीवादियों की सृष्टियां तथा भूर्भुवादि चतुर्दशलोक (भू-भुव-स्व-मह-जन-तप-सत्य ये सात ऊर्ध्वलोक, अतल-वितल-सुतल-तलातल-रसातल-महातल-पाताल ये सात अधोलोक) विद्यमान हैं, वह ब्रह्माण्ड कहलाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् की परिभाषा से भी यही स्पष्ट होता है। उसके अनुसार आकाश सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् सत्ता है, आकाश के भीतर वायुतत्त्व उत्पन्न होता है, वायु के अन्दर अग्नितत्त्व, अग्नि के भीतर जलतत्त्व तथा जल के अन्दर पृथ्वीतत्त्व उत्पन्न होता है। इन पांच तत्त्वों कों दशाङ्गुलन्याय द्वारा समझते हैं, तो पृथ्वी से दश गुणा अधिक जल है, जल से दशगुणा अधिक अग्नि, अग्निसे दशगुणा अधिक वायु तथा वायु से दशगुणा अधिक आकाश की सत्ता है। ये पांचों तत्त्व क्रमशः इसी ब्रह्माण्ड के अंग हैं और इन्हीं की क्रमशः उत्पत्ति भारतीय ज्ञान-विज्ञान वाङ्मय में सृष्टि कहलाती है। प्राचीन-कालीन मानव को ब्रह्माण्ड का ज्ञान था। इस तथ्य के साक्षी के रूप में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को देखा जा सकता है। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत, ब्रह्माण्डोत्पत्ति, ग्रह, नक्षत्र,

तारे, सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी का व्यापक उल्लेख प्राप्त होता है। ब्रह्माण्ड को गगन, व्योम, नभ, आकाश और अन्तरिक्ष आदि उपनामों से वर्णित किया है। ब्रह्माण्ड के सभी पिण्डों पर गुरुत्वाकर्षण-बल का प्रभाव पड़ता है तथा इसी गुरुत्वाकर्षण-बल के कारण ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पिण्ड आश्चर्यजनक रूप से अपने स्थान पर स्थित है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने विश्व की कल्पना वलयाकार आकृति में की है परन्तु यह कल्पना भी नवीन नहीं है। अन्य प्राचीन ग्रन्थों पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि शैव ग्रन्थों में ब्रह्माण्ड को लोक-अलोक तथा पुराणों में इहलोक तथा परलोक का सम्मिलित स्वरूप माना गया है। सूर्य सिद्धान्तकार ने ब्रह्माण्ड का स्वरूप इस प्रकार बताया है-

ब्रह्माण्डमेतत् सुशिरं तत्रेदं भूभुर्वादिकम्। कटाहद्वितयस्यैव सम्पुटं गोलकाकृतिः।।
ब्रह्माण्डमध्ये परिधिर्व्योमकक्षाभिधीयते। तन्मध्ये भ्रमणं भानामधोऽधः क्रमशस्तथा।।

अर्थात् दो समान कटाहों को परस्पर मुख से मिला देने से जिस आकृति का निर्माण होतो है। वही आकृति ब्रह्माण्ड की है। उन दोनों कटाह के मध्य जो रिक्त स्थान है, उसमे भूर्भुवादि चतुर्दश लोक विद्यमान है। ब्रह्माण्ड की परिधि को आकाश कक्षा कहते है। जिसके मध्य नक्षत्र ग्रह आदि की कक्षाएं है। इस प्रकार सूर्यसिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड गोलाकृतिक है। वेदों में हिरण्यमयाण्ड से सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति का वर्णन आया है। सुवर्णमय अण्डे के दो भाग हुए जिससे ब्रह्माण्ड का वृत्ताकारत्व सिद्ध होता है। समस्त प्रकार का दृश्य एवं अदृश्य जगत ब्रह्माण्ड से ही उत्पन्न होता है, तथा ब्रह्माण्ड में ही समाहित हो जाता है। ब्रह्माण्ड को भारतीय ज्ञान परम्परा में परब्रह्म परमात्मा की प्रथम संरचना कहा गया है। ब्रह्माण्डोत्पत्ति का सिद्धान्त ही भारतीय ज्ञान परम्परा में सृष्टिविज्ञान का सूत्रपात करता है। इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड वह सत्ता है जो समस्त सृष्टि का मूल है और समग्र सृष्टि इसी ब्रह्माण्ड के भीतर समाहित भी है।

ब्रह्माण्ड के प्रमुख घटक—

किसी भी वस्तु को समझने के लिए उसके घटकों को समझना आवश्यक होता है। ऐसा भी कह सकते हैं कि समष्टिगत रूप को समझने के लिए उसके प्रत्येक व्यष्टिगत रूप को समझना आवश्यक होता है। ब्रह्माण्ड रूपी शरीर को समझने के लिए इसके व्यष्टिगत रूप को समझना आवश्यक होगा। यद्यपि ब्रह्माण्ड में असंख्य छोटे एवं बडे घटक हैं। परन्तु स्थूल रूप से विचार किया जाए तो ब्रह्माण्ड में चार स्थूल सदस्य है - आकाशगंगा, नीहारिका, तारामंडल तथा सौर परिवार।

1- आकाशगंगा— जब हम रात में तारोँ से भरे आकाश को देखते हैं तो हम उसकी दीप्ति के वैभव से प्रफुल्लित हो उठते हैं। यदि हम किसी गाँव में रहकर आकाश दर्शन करते हैं तो और भी अधिक आनंद आता हैं। जब हम प्रतिदिन आकाश का अवलोकन करतें हैं तो हमें धीरे-धीरे यह पता चलने लगता है कि न ही सभी तारों का प्रकाश एकसमान है, और न ही उनकें रंग। हम अपनी नंगी आंखों से जितने भी तारों एवं तारा समूहों को देख सकते हैं, वे सभी एक अत्यंत विराट योजना के सदस्य हैं, जो आकाश में लगभग उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ नदी के समान प्रवाहमान प्रतीत होता है। इसे 'आकाशगंगा' या 'मंदाकिनी (Galaxy) कहते हैं। प्राचीन भारतीय विज्ञान में इसे स्वर्गगंगा, आकाशगंगा, मन्दाकिनी, देवगंगा, क्षीरनदी, आकाशनदी, आकाशयज्ञोपवीत आदि कहा है। खगोलशास्त्रियों की गणना के अनुसार हमारे ब्रह्माण्ड में सहस्रों अरब आकाशगंगाएँ हैं। प्रति आकाशगंगा में अनुमानतः हजारों अरब तारे होते हैं। हमारी आकाशगंगा में हमारा सौर-परिवार तो

एक कोने में बिन्दु मात्र दिखाई देता हैं। आकाशगंगा का व्यासमान प्रायः 100000 प्रकाश वर्ष है। आकाशगंगा में तीन प्रकार की तारों की श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी में वे तारे आते हैं जो आकाशगंगा के सर्पिलों और नाभि में स्थित हैं। सूर्य भी इसी में समाहित है, इसे मन्दाकिनी गुच्छ कहते हैं। इसके बाहर प्रभामण्डलीय तारे हैं। यहाँ बहुत से तारों ने एक छोटी मन्दाकिनी का रूप भी लिया है। इनको हम गोलाकार तारागुच्छ कहते हैं। इनमें बहुत पुराने तारे पाए जाते हैं। इन गोलाकार गुच्छों से दूर करोड़ों तारें हैं जो आकाशगंगा के बाहरी भाग में छिटके पड़े हैं। ये तारे भी आकाशगंगा के ही अंग हैं।

2- नीहारिका— खगोल विज्ञान के अनुसार बिग बैंग की घटना के कुछ करोड़ वर्ष के बाद तारों और आकाशगंगाओं का निर्माण होने लगा। वास्तव में आकाशगंगा का निर्माण हाइड्रोजन, हीलियम गैसों तथा धूलकणों से बने विशाल बादल के इकट्ठा होने से हुआ है। आकाशगंगा को बनाने वाले इन बादलों को निहारिका कहते हैं। ब्रह्माण्ड में खरबों तारे हैं, जो अन्तरिक्ष मे समान रूप से वितरित नही हैं। ये तारे बहुत बड़े बड़े समूहों मे वितरित रहते है। प्रत्येक समूह मे खरबों तारे होते है। इन समूहों मे तारों के अलावा हाइड्रोजन गैस एवं धूल के कणों की बहुत अधिक मात्र भी उपस्थित रहती है। तारो के ऐसे प्रेत्यक समूह को नीहारिका कहते हैं। वास्तव में नीहारिकाएँ ब्रह्माण्ड की निर्माणी घटक हैं। ये तारों की तरह प्रकाशित होते हैं परन्तु ये तारे नहीं हैं क्योंकि इनका आकार तारों की तरह नहीं है। आकाश में छोटी-बड़ी अर्थात् सभी प्रकार की नीहारिकाएँ दिखाई देती हैं। जो नीहारिकाएँ ग्रहों के सदृश गोलाकार होती हैं उन्हें ग्रहीय नीहारिका कहते हैं।

3- तारामंडल — यह प्रकाशित खगोलीय पिंड हैं। जो गैसों से मिलकर बने होते हैं। इन तारों के समूह को तारामंडल कहते हैं । पूरे आकाश को 89 तारामंडलों में विभक्त करके उन तारामंडलों के नाम रख दिए गए हैं। राशिचक्र के तारामंडल बहुत प्रसिद्ध हैं, इनकी संज्ञा मेष, वृष आदि है। जैसे मेष राशि के सबसे चमकीले तारे का नामकरण एल्फातरीज किया गया है। आकाशगंगा का लगभग 98 प्रतिशत भाग तारों से बना है, शेष 2 प्रतिशत भाग में खगोलीय गैस और बहुत ही अधिक घने रूप में छाई धूल है। इन समस्त तारों का वर्गीकरण इनकी द्युति, वर्ग, ताप एवं स्वरूप आदिका ज्ञान भौतिक लक्षणों के द्वारा प्राप्त होता है। इसी को तारों का कान्तिमान कहते हैं। मुख्यतः कान्तिमान के द्वारा ही भौतिकशास्त्र में तारों का अध्ययन होता है।

4- सौर परिवार— सूर्य का परिवार ही सौर-परिवार कहा जाता है। इसी को सौरमण्डल भी कहते हैं हमारे सूरज और उसके ग्रहीय मण्डल को मिलाकर हमारा सौर मण्डल बनता है। इन पिंडों में आठ ग्रह, उनके 172 ज्ञात उपग्रह, पाँच बौने ग्रह और अरबों छोटे पिंड शामिल हैं। इन छोटे पिंडों में क्षुद्रग्रह, बर्फीला काइपर घेरा के पिंड, धूमकेतु, उल्कायें और ग्रहों के बीच की धूल शामिल हैं। जिस ग्रह के पास अपना प्रकाश नहीं होता है। ये सूर्य की किरणों को प्रवर्तित कर प्रकाशित होते है। शुक्र या अरुण दक्षिणावर्त्त दिशा में अर्थात पूर्व से पश्चिम दिशा में परिक्रमण करते हैं जबकि अन्य सभी ग्रह वातावर्त दिशा में अर्थात पश्चिम से पूर्व की दिशा में परिक्रमा करते है। सूर्य या ग्रह के बीच का गुरुत्वाकर्षण बल उन्हें परिक्रमण करने देता है। इन ग्रहों को आंतरिक एवं बाह्य भेद से दो भागो में विभाजित किया जाता है - बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल ये आंतरिक ग्रह हैं। बृहस्पति, शनि तथा अरुण ये बाह्य ग्रह हैं।

बोध प्रश्न—1 लघूत्तरीय प्रश्न -

1- आकाश में कौन सी दो नीहारिकाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं?

2- हमारे सौर मण्डल में कौन कौन से पिण्ड हैं।

3- आंतरिक ग्रह या पार्थिव ग्रह कौन कौन से हैं ? -

4- ब्रह्माण्ड में चार स्थूल सदस्य कौन-कौन से हैं ?

5- प्राचीन भारतीय विज्ञान में आकाशगंगा को किन किन नामों से सम्बोधित किया गया है।

2.4 वैदिक वाङ्मय में ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सिद्धान्त

ब्रह्माण्ड के सृजन की क्रिया का वर्णन ब्रह्माण्ड-उत्पत्ति का सिद्धान्त कहलाता है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। प्रथम धार्मिक संकल्पना तथा द्वितीय वैज्ञानिक संकल्पना। ब्रह्माण्डोत्पत्ति की वैज्ञानिक संकल्पना के विषय में आपने पढा। धार्मिक संकल्पना प्रमुख प्राचीन भारतीय ग्रन्थों यथा- वेद, पुराण, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद, धर्म सूत्र आदि में दृष्टिगोचर होती है। पुराणों के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति का उल्लेख बहुत ही रहस्यमयी, विलक्षण एवं तर्क संगत है। अति प्राचीन काल से ही वैदिक मनीषियों ने ब्रह्माण्ड उद्भव के सिद्धान्त की स्थापना कर दी थी तथा यह भी बताया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एक ही मूल या बीज तत्व के द्वारा हुई है। इस प्रकार सम्पूर्ण व्यवस्थित ब्रह्माण्ड को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि इसका प्रथम कारण ईश्वर ही है। प्राचीन काल से लेकर आज तक इसी एक तत्व को आधार मानकर धर्माचार्यों, मनीषियों, विद्वानों एवं वैज्ञानिकों ने विविध प्रकार की परिकल्पनाओं और अवधारणाओं की कल्पना का जो स्वरूप प्रस्तुत किया वह वैज्ञानिक कम होकर ऐतिहासिक ज्यादा है। वैदिक ग्रन्थों में भी ब्रह्माण्ड-उत्पत्ति का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

उपनिषदों के अन्तर्गत इसी तत्व को परम ब्रह्म, स्रष्टा, पालक एवं संहारक के रूप में माना गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में आया है कि ब्रह्मात्मा से ब्रह्माण्ड निकला, ब्रह्माण्ड से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पति, वनस्पति से भोजन, भोजन से मानव आदि बने। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? इन तथ्यों का वर्णन वेद उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण, भगवद्गीता, आदि प्राचीन ग्रन्थों में निहित है। भारत के संस्कृत-साहित्य के अमूल्य भण्डार के रूप में उपलब्ध वेदों के अन्तर्गत ब्रह्माण्डोत्पत्ति-मत भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किये गये है। परन्तु सभी मत का मूल एक ही है। ब्रह्माण्ड-पुराण का अधिकांश उल्लेख वेदों में वर्णित तथ्यों के समकक्ष है यही कारण है कि वेदों के ब्रह्माण्डोत्पत्ति सिद्धान्त का पुराण पर गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। वैदिक वाङ्मय में ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सिद्धान्तों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है -

विश्वकर्मा द्वारा ब्रह्माण्डोत्पत्ति—

ऋग्वेद में ब्रह्माण्ड सृजन हेतु प्रयोग किया जाने वाला पदार्थ अन्तरिक्ष धूल माना गया है। ब्रह्माण्ड के निर्माण में विश्वकर्मा को प्रमुख वास्तुविद् माना गया है तथा यह मान्यता है कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति विश्वकर्मा ने उसी प्रकार की है जिस प्रकार किसी गृह की रचना निर्माण सामग्री और कारीगारों द्वारा होती है। इस प्रकार पुराणों के अन्तर्गत सृजन तत्व की प्राचीन शक्ति तत्व के रूप में माना गया है। इस शक्ति तत्व का अव्यक्त और प्रकृति के नाम से सम्बोधित किया गया है तथा यह बताया गया है कि प्रत्येक तत्व में एक शक्ति होती है। उदाहरणस्वरूप अग्नि में जलाने की शकति। इसी तरह से ईश्वर के

प्रतिनिधि विश्वकर्मा में ब्रह्माण्ड के निर्माण की शक्ति निहित है। ब्रह्माण्ड की इन्हीं शक्तियों में विष्णु, कृष्ण और नारायण को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। इस सृष्टि में अन्तरिक्ष, पृथ्वी और स्वर्ग तीन लोकों की कल्पना की गयी है। मत्स्य-पुराण में आया है कि भगवान विष्णु ने ब्रह्माण्ड की रचना में ऊपर वाले भाग को आकाश, नीचे के भाग को रसातल तथा मध्य भाग को पृथ्वी बताया है। ब्रह्माण्ड-उत्पत्तिक को स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है- **'विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।तोषामिष्टानि समिषा भवन्ति यत्र सप्त ऋषीन्पर एकमाहुः'।** अर्थात् सृष्टि को रचने वाला (विश्वकर्मा) विशेष ज्ञान वाला आकाश के सामान सर्वत्र व्यापाक सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाला, विश्व के विधान को रचने वाला परम ज्ञानी, सबसे मुख्य तथ्य और सम्यक् रूप से सबका द्रष्टा है।

विराट पुरूष से ब्रह्माण्डोत्पत्ति—

ऋग्वेद में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति आदि विराट पुरुष से हुई है। ब्रह्माण्ड स्रष्टा इस विराट पुरुष को विश्व की आत्मा के रूप में माना गया है। इस आत्मा की नाभिक और मूर्तरूप के विखण्डन से अन्तरिक्ष, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु और अन्य आकाशीय पिण्डों की उत्पत्ति हुई। इस पृथ्वी के समस्त जीवधारी और मानव उसी आत्मा के विखण्डन का परिणाम है। भागवत पुराण में विराट पुरुष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि विराट पुरुष के तलवे पाताल लोक, एड़ियां और पंजे रसातल लोक, पैर के पिण्ड तलातल, दोनों घुटने सुतल, जंघाएँ वितल और अतल, पेडू-भूतल, नाभि सरोवर और आकाश, वक्षस्थल स्वर्णलोक, गला महिलोक, बदन-जनलोक, ललाट-मस्तक, सत्यलोक बाहुए इन्द्र आदि देव, कर्ण दिशा, मुख अग्नि व सूर्य, तालु जल, जिह्वा-रस, कोख- समुद्र, अस्थियाँ-पर्वत आदि हैं।

महाभारत के शन्ति पर्व में ब्रह्माण्ड का सृजन अव्यक्त से बताया गया है। इसमें सर्वप्रथम ‘‘महान’’ (विराट) से आकाश की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। आकाश से जल, जल से अग्नि, एवं वायु उत्पन्न हुई बताया गया है। सभी तत्त्वों के मिश्रण से पृथ्वी की संरचना बतायी गयी है। सृष्टि के पूर्व यही महाशक्ति आदि पुरुष में विद्यमान थी। इसीलिए इन्हें आदि पुरुष कहा गया है। आदि और अन्त से परे समस्त विश्व का बीच होने तथा नार (जल) में सोने के कारण इस विराट पुरुष को नारायण भी कहा गया है। ब्रह्माण्ड-पुराण में विराट पुरुष के विषय में उल्लेख है कि सृष्टि काल में विश्व-सृजन करने की अभिलाषा से महान तत्त्व उत्पन्न हुआ। यह महान तत्त्व प्रकाशमान था। सृष्टि की इच्छा से प्रेरित उस महान ने ब्रह्माण्ड की रचना की। इस रचना में सभी चराचर सजीव एवं निर्जीव विद्यमान हैं। इस महान को विद्वान, मन, आत्मा, मति, ब्रह्मा, भू-बुद्धि, ईश्वर, प्रजा, स्मृति और विभु कहते हैं।

ब्रह्म से ब्रह्माण्डोत्पत्ति—

मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने निद्रा से जागने के बाद सृष्टि के सृजन का संकल्प लेकर अपने मन को नियुक्त किया। मन ने सृष्टि-सृजन हेतु सर्वप्रथम आकाश बनाया। आकाश का विलक्षण गुण है स्तर। फिर आकाश ने अपने को परिमार्जित करके वायु की रचना की, जिसका अर्थ है स्पर्श। वायु से देदीप्यमान प्रकाश की उत्पत्ति हुई। प्रकाश से जल की उत्पत्ति हुई। जल से पृथ्वी की संरचना हुई। इस पृथ्वी का विशिष्ट-गुण है गन्ध। ऋग्वेद वेद में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के विषय में उल्लेख इस प्रकार है- **'चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो धृतमेने अजनन्नम्नमाने। यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावा पृथिवी अप्रथेताम्'।** अर्थात् सूर्य एवं दृश्य जगत का पिता अपनी विचार शक्ति से गम्भीर और

सबको धारण करने वाला, जल की रचना करने वाला। वह इस परिवर्तन में सूक्ष्म से स्थूलरूप (अणु परमाणु से दृश्य संसार) में आते हुए द्युलोक (नक्षत्र मण्डल), भूलोक (पृथ्वी आदि ग्रह मण्डल) को उत्पन्न करता है। जब (ज्यों-ज्यों) पूर्व निर्मित भाग दृढ़ होते जाते हैं। तदन्तर (त्यों-त्यों) आगे-आगे द्युलोक, भूलोक विस्तार पाते जाते हैं। विष्णु-पुराण में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति ब्रह्म से बतायी गयी है तथा कहा गया है कि ब्रह्म के पूर्व सृष्टि के आदि मे न सत् था न असत्, न आकाश था न वायुमंडल, न रात थी, न दिन था, केवल ब्रह्म को छोड़कर शून्य था। मत्स्यपुराण के अन्तर्गत आया है कि सर्वप्रथम नारायण अवतरित हुए। नारायण ने विश्व-सृष्टि की कामना से अपने शरीर से सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण-बह्म, विष्णु और महेश को उत्पन्न किये। इसके पश्चात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा 23 तत्त्वों के समूह में प्रविष्ट होकर नारायण ने इन तत्वों को मिलाकर एक परिमाण प्राप्त किया। यह परिमाण विश्व-संरचना के तत्त्वों का गर्भ था जिससे ब्रह्माण्ड कीउत्पत्ति हुई। ब्रह्माण्ड-पुराण के अनुसार, ब्रह्माण्ड में सबसे पहले ऐश्वर्य शाली ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा को प्रकृति पुरुष भी कहा गया है। यह अनादि और नियत पुरुष है। इन्हें ब्रह्माण्ड के समस्त उत्पन्न पदार्थों का पिता भी कहा जाता है। ब्रह्मा ने सृष्टि के समय सत्व, रजस्, और तमो गुणों में क्षोभ उत्पन्न किया और महान तत्त्व को जन्म दिया। सृष्टि का अंकुर, यह महातत्व विश्व को प्रकट करने के लिए प्रलयकारी अन्धकार को अपने में समेट लिया। रजो और तमो गुण के कारण महातत्व ने विकास रूप में ज्ञान, तप, क्रिया, द्रव्य और अन्धकार उत्पन्न किया। महावत्व के विकार का रूप वायु, जल, पृथ्वी आदि हैं।

सूर्य से ब्रह्माण्डोत्पत्ति—

इसी आधार पर सूर्य देव को सम्पूर्ण सृष्टि निर्माण का प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण कारक माना गया है। इसमें सूर्य को ब्रह्मा की आत्मा बताया गया है। सूर्य को राजपति, विश्वकर्मा, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, प्रजापति, हिरण्यगर्भ तथा अजन्मा सत् बताया गया है। मनुस्मृति में यह बताया गया है कि जब यह विश्व अज्ञात अन्धकार में अवस्थित होकर गम्भीर निद्रा में निमग्न था तब स्वयम्भू अपनी शकति से अन्धकार को हटाकर महान तत्वों के साथ प्रकाशमान हुए। स्वयम्भू ने विश्व को अपने शरीर से उत्पन्न करने की इच्छासे सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति की। जल में अपना बीज लगाया। वह बीज हिरण्यगर्भ (सोने का अण्डा) बन गया है। यह हिरण्यगर्भ तेज में सूर्य के समान था। इस अण्डे से ब्रह्मा अवतरित हुए जिन्हें नारायण कहा जाता है। नारायण ने हिरण्यगर्भ को दो भागों में बाँटकर पृथ्वी और स्वर्ग की उत्पत्ति की। इन दोनों के मध्य अन्तरिक्ष, आठ दिशाएँ, समुद्र और पंच तत्वों से जीव की उत्पत्ति की। ऋग्वेद में मं0 10 सू0 121-1 के अनुसार- संसार के इस रूप में आने से पहले हिरण्यगर्भ की स्थिति में थी। यह सुवर्णमय उपादान पंचभूत समूह का एक मात्र धारक था। उसने ही भूलोक और द्युलोक को धारण किया। मत्स्य-पुराण के अन्तर्गत भी मनुस्मृति के समान ही वर्णन प्राप्त होता है जैसे- सृष्टि से पूर्व नारायण थे, नारायण ने सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति की, जल में बीज से सोने का अण्डा मिला। अण्डे के भीतर सूर्य प्राप्त हुआ। यहाँ सूर्य विश्व-सृजन का कारक है। वायु-पुराण तथा ब्रह्माण्ड-पुराण में भी विश्व-सृष्टि हिरण्यगर्भ से बतायी गयी है। ब्रह्माण्ड-पुराण में लिखा गया है कि विश्व-सृष्टि के तत्वों में हिरण्यगर्भ से ब्रह्मा अवतरित हुए। यही ब्रह्मा समस्त जीवों की आत्मा होने के कारण परमात्मा का अंश कहलाये। इसी हिरण्यगर्भ से लोको की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माण्ड-पुराण में हिरण्यगर्भ को चार मुखों

वाला माना गया है। हिरण्यगर्भ से ही सूर्य, सोम, रुद्र, और जल की उत्पत्ति हुई। इनके पश्चात् आकाश और पृथ्वी की रचना हुई। इस सिद्धान्त का मानना है कि ब्रह्माण्ड बीज के रूप में सूर्य प्रधान एवं मुख्य कारक है जिससे सम्पूर्ण विश्व की रचना हुई है। इसके केन्द्र को हिरण्गर्भ के नाम से सम्बोधित करते हैं जो सत् और असत् पदार्थो की उत्पत्ति का प्रमुख कारण है।

बोध प्रश्न—2 बहुविकल्पीय प्रश्न -

1- तैत्तरीय उपनिषद् के अनुसार ब्रह्माण्ड का उद्भव किस से माना गया है-

(क) जीवात्मा	(ख) ब्रह्मात्मा
(ग) सूर्य	(घ) हिरण्यगर्भ

2- ब्रह्माण्ड का प्रमुख वास्तुकार किस को माना गया है -

(क) विश्वकर्मा	(ख) पुरुष
(ग) सूर्य	(घ) हिरण्यगर्भ

3- भागवत पुराण के अनुसार विराट पुरुष के पाद में कौन सा लोक है -,

(क) सूर्यलोक	(ख) पृथ्वी लोक
(ग) पाताल लोक	(घ) स्वर्गलोक

4- महाभारत में ब्रह्माण्ड का सृजन किस से बताया गया है-

(क) जीवात्मा	(ख) ब्रह्मात्मा
(ग) सूर्य	(घ) अव्यक्त

5-विष्णु-पुराण में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति किस से बतायी गयी है

(क) सूर्य	(ख) विराट पुरूष
(ग) ब्रह्म	(घ) हिरण्यगर्भ

2.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति विषयक तत्वों को तथा वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत, ब्रह्माण्डोत्पत्ति को जाना। वैदिक वाङ्मय में न केवल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति अपितु आकृति के विषय में भी वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक वाङ्मय में ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सिद्धान्तों में आपने- विश्वकर्मा द्वारा ब्रह्माण्डोत्पत्ति, विराट पुरूष से ब्रह्माण्डोत्पत्ति, ब्रह्म से ब्रह्माण्डोत्पत्ति तथा सूर्य से ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सिद्धान्तों के विषय में जाना।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

प्राकृतिक	-	प्रकृति से संबन्धित
मतवैभिन्य	-	मान्यताओं में विविधता
पाश्चात्य	-	पश्चिम के, बाद के
ब्रह्माण्डोत्पत्ति	-	ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति
व्योम	-	आकाश
समष्टिगत	-	सम्पूर्ण
व्यष्टिगत	-	व्यक्तिगत

दक्षिणावर्त्त	-	दक्षिण दिशा की और
स्रष्टा	-	रचना करने वाला
विखण्डन	-	टूटना
स्थिर दशा	-	एक स्थिति में स्थिर रहना
अतीत	-	भूतकाल, बीता हुआ समय
प्रसरणशीलता	-	फैलने की निरन्तरता
सर्वाधिक	-	सबसे अधिक
सूक्ष्म	-	अत्यधिक छोटा
दिक्-काल	-	दिशा और काल
अकस्मात्	-	अचानक
रचयिता	-	रचने वाला
खगोलीय पिण्ड	-	आकाश में दिख रहे तारे, ग्रह आदि पिण्ड
जिज्ञासु	-	जानने की इच्छा से युक्त
असंख्य	-	अनन्त संख्या वाले, जिनको गिना न जा सके
शक्तिसम्पन्न	-	शक्ति से युक्त
प्रारम्भिक	-	शुरुआती
अवलोकन	-	देखना
जिज्ञासा	-	जानने की इच्छा
सृष्टिविषयक	-	सृष्टि से संबन्धित
ऊर्ध्वलोक	-	ऊपर के लोक
अधोलोक	-	नीचे के लोक
अभाव	-	न होना
आच्छादित	-	ढका हुआ
व्यापकता	-	अस्तित्त्व का व्याप्त होना
वैदिक	-	वेदों से संबन्धित
चराचर	-	स्थिर तथा अस्थिर
पौराणिक	-	पुराणों से संबन्धित
विद्यमान	-	उपस्थित होना
सृजन करना	-	उत्पन्न करना, रचना करना
खगोलशास्त्र	-	आकाशीय पिण्डों का शास्त्र
विपरीत	-	उल्टा
भू-भ्रमण	-	भूमि का घूमना

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोधप्रश्नोत्तर—1 लघूत्तरीय प्रश्न -

1-आकाशगंगा, नीहारिका, तारामण्डल तथा सौर परिवार।

2-स्वर्गगंगा, आकाशगंगा, मन्दाकिनी, देवगंगा, क्षीरनदी, आकाशनदी, आकाशयज्ञोपवीत आदि कहा है।

3-देवयानी और त्रिभुज

4-आठ ग्रह, उनके 172 ज्ञात उपग्रह, पाँच बौने ग्रह और अरबों छोटे पिंड शामिल हैं। इन छोटे पिंडों में क्षुद्रग्रह, बर्फीला काइपर घेरा के पिंड, धूमकेतु, उल्कायें और ग्रहों के बीच की धूल शामिल हैं।

5-आंतरिक ग्रह बुध, शुक्र, पृथ्वी तथा मंगल है।

बोधप्रश्नोत्तर—2 बहुविकल्पीय प्रश्न -

1- (ग) 2- (घ) 3- (ग) 4- (ख) 5- (क)

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सूर्यसिद्धान्तः-आर्षग्रन्थः, टीकाकार कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी-2004

2. बृहत्संहिता-आचार्यवराहमिहिर, प-अच्युतानन्दझा,चौखम्बाविद्याभवनवाराणसी

3.ऋग्वेद, सायणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता, अनुवादक पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 2016

4.अथर्ववेद, सयणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता, अनुवादक पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 2016

5. वैदिक व्रह्माण्ड का परिचय-उ.मु.वि.वि.हल्द्वानी

6.मनुस्मृति - डा- गजानन शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रतिष्ठान वाराणसी, 2002

7.पुराणविमर्श - गीताप्रेस गोरखरपुर

2.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.भुवनकोश विमर्श, प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी, अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स दिल्ली, वर्ष 2004

2.यजुर्वेद, संस्कृत साहित्य प्रकाशन वर्ष 2015

3.श्रीमद्भागवतपुराणम्, वेदव्यास,गोरखपुर, गीताप्रेस, संवत् 2059

4.ऋग्वेद, संस्कृत साहित्य प्रकाशन वर्ष 2016

5.गोलपरिभाषा, झा, सीताराम, दरभङ्गा, बिहार, श्रीसीताराम पुस्तकालय, संवत् 2027

6.श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 20486

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्रह्माड का अर्थ एवं स्वरूप का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. ब्रह्माण्ड के सदस्यों के बारे में विस्तार से बताइये।
3. ब्रह्माण्ड की परिभाषा तथा विषयों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. ब्रह्माण्डोत्पत्ति के वैदिक सिद्धान्तों की विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई-3 वैदिक सृष्टि के प्राचीन एवं आधुनिक सिद्धान्त

इकाई की रुपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 वैदिक सृष्टि का स्वरुप
3.4 ब्रह्माण्डोत्पत्ति के भारतीय सिद्धान्त
3.4.1ब्रह्मा द्वारा सृष्टि
3.4.2 विराट्पुरुष द्वारा सृष्टि
3.4.3 विश्वकर्मा द्वारा सृष्टि
3.4.4 प्रजापति द्वारा सृष्टि
3.5 स्थिरदशा सिद्धान्त
3.6 विस्फोट सिद्धान्त
3.7 स्पन्दनशील सिद्धान्त
3.8 स्थिरदशा सिद्धान्त और भारतीय सृष्टि विज्ञान
3.8.1 विस्फोट सिद्धान्त तथा भारतीय सृष्टि विज्ञान
3.8.2 स्पन्दनशील सिद्धान्त तथा भारतीय सृष्टिविज्ञान
3.4 सारांश
3.5 पारिभाषिक शब्दावली
3.6 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुतत इकाई वैदिक अध्ययन के अन्तरगत वैदिक सृष्टि नामक चतुर्थ खण्ड की - वैदिक सृष्टि के प्राचीन एवं आधुनिक सिद्धान्त नामक तृतीय इकाई है । वेद ईश्वरीय ज्ञान है। यह ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में मानवों के कल्याण साधन के लिए निःश्वसित हुआ। वेद वैदिक-संस्कृति के मूलाधिष्ठान हैं। वे शिक्षाओं के अक्षय निधि और ज्ञान के रत्नाकर हैं। वेद संसार रूपी सागर से पार उतरने के लिए नौका रूप हैं। वेद में मनुष्य जीवन की सभी प्रमुख समस्याओं का समाधान है। अज्ञानान्धकार में पड़े हुए मनुष्यों के लिए वे प्रकाशस्तम्भ हैं,भूले भटके लोगों को वे सन्मार्ग दिखाते हैं। पथ भ्रष्टों को कर्त्तव्य का ज्ञान प्रदान करते हैं,अध्यात्म पथ के पथिकों को प्रभु-प्राप्ति के साधनों का उपदेश देते हैं। सक्षेप में वेद अमूल्य रत्नों के भण्डार हैं।आचार्य सायण के अनुसार" इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के निवारण का उपाय जो बतलाएं वे ग्रन्थ राशि वेद कहलाते हैं।" महर्षि मनु के शब्दों में—"**वेदोऽखिलोधर्ममूलम्"** वेद धर्म का मूल है ।"सर्वज्ञानमयो हि सः" अर्थात् वेद सकल ज्ञान से भरपूर है। वैदिक विज्ञान, राष्ट्रधर्म, समाज-व्यवस्था, पारिवारिक-जीवन, वर्णाश्रम-धर्म, सत्य, प्रेम, अहिंसा, त्याग आदि को दर्पण की भाँति दिखाता है।

सृष्टि का प्रारम्भ कब हुआ यह एक अत्यन्त महत्पूर्ण विषय है। वेद सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान के आदि स्रोत हैं। सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन ऋग्वेद के अदितिसूक्त विश्वकर्मासूक्त, पुरुषसूक्त, प्रजापतिसूक्त, नासदीयसूक्त, ऋतसूक्त तथा अथर्ववेद के काल सूक्त आदि सूक्तों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी सृष्टि विषयक अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते है। इस इकाई में आप वेदों में सृष्टि विषयक वैदिक अवधारणाओं के प्राचीन और आधुनिक सिद्धांतों विषय में विस्तार से पढेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- वैदिक सृष्टि के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करने में समर्थ होंगे।
- वैदिक सृष्टि की अवधारणा से परिचित हो पायेंगे |
- साथ ही प्राचीन एवं आधुनिक सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकेंगे।
- वेदों में ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सिद्धान्तों के विषय में भी ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- वेदोत्तर साहित्य में ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सिद्धान्तों को बताने में समर्थ होंगे।

3.3 वैदिक सृष्टि का स्वरूप

वैदिक सृष्टि के सन्दर्भ में सर्वप्रथम इस बात को जानने की आवश्यकता है कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? सृष्टि का विस्तार किस प्रकार हुआ? वैदिक मनीषीयों के चिन्तन का यही मुख्य विषय रहा है। वेदों का मूल विषय 'सृष्टि विज्ञान' या 'सृष्टि विद्या' है। ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' में सृष्ट्युत्पत्ति के पूर्व विद्यमान अवस्था का चित्रण करते हुए सृष्टि क्रम प्रतिपादित किया गया है। जन्तु विज्ञान के साथ ही वनस्पति विज्ञान का आदिम स्वरूप वैदिक मंत्रों में समाहित है। ऋग्वेद में वनस्पति के लिए 'वनिन्' एवं 'ओषधि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में चतुर्विध वनस्पिति की चर्चा की गयी है- वनस्पति, वानस्पत्य, ओषधि और वीरूध्। वेदों में जैव विकास क्रम के सन्दर्भ में

निहित ज्ञान की सूक्ष्म विवेचना आवश्यक है। सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसके मूल कारण के विषय में प्राचीन काल में अद्यतन मानव जिज्ञासा यथावत् बनी हुई है। वर्तमान विज्ञान भी अनेकानेक प्रयोगों द्वारा नित्नवीन सिद्धान्तों की स्थापना का प्रयास कर रहा है। इस विषय में अन्तिम निर्णय आज भी अप्राप्त है। मुख्य शब्द मुख्य वैदिक, सृष्टि, उत्पत्ति, वैदिक, वाङ्मयमय शब्द वेद भारतीय मनीषियों की अतुलनीय ज्ञानराशि का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप हैं जिसमें परा एवं अपरा विद्या के मूल तत्त्व का सहज ही अन्वेषण किया जा सकता है। प्राचीन ऋषियों ने ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक पक्ष का गहन चिन्तन किया था। वेदों में भौतिकी, रसायन, वनस्पति, प्रौद्योगिकी, कृषि, जन्तु विज्ञान, पर्यावरण, ज्योतिष एवं खगोल विज्ञान से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री विद्यमान है। असंदिग्ध एवं निरपेक्ष ज्ञान ही विज्ञान है। वैदिक वाङ्मय में यद्यपि वैज्ञानिक तथ्यों, यन्त्रों तथा प्रयोगशालाओं का प्रत्यक्षः वर्णन तो नहीं मिलता किन्तु उनके मन्त्रों में विज्ञान के प्रत्येक शाखाओं के तत्व बीज रूप में निहित है। वैदिक मंत्रों में सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसके विकासक्रम की सूक्ष्म विवेचना दृष्टिगत होती है। वेद मानव मनीषा की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों का अमूल्य अंश है। ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द 'ज्ञानराशि' का वाचक है। मनु ने वेद को सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत माना है।1 ज्ञान और विज्ञान में अबिनाभाव सम्बन्ध है; ज्ञान के होने पर विज्ञान की सत्ता अवश्यक ही होती है। अतएव ज्ञानराशि वेद में वैज्ञानिक तत्त्वों की गवेषणा की जा सकती है। को विज्ञान कहा जाता है। विज्ञान के व्युत्पत्यात्मक अर्थ की दृष्टि से वेद एवं विज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि वेंदों का प्रमुख प्रतिपाद्य पूर्ण एवं विशुद्ध ज्ञान ही है, जो 'ब्रह्मज्ञान' है। 'परमेश्वर का ज्ञान' ही एक ऐसा ज्ञान है जो सभी ज्ञानों की निरातिशयता या ज्ञान की पराकाष्ठा आ आधार है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में कहा गया है कि सभी देवगण ब्रह्म के रूप में विज्ञान की ही उपासना करते हैं। विज्ञान को ब्रह्म ही जानों।2 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में ब्रह्म को विज्ञान और आनन्द इन दोनों विशेषणों से युक्त बताया गया हैं।3 वेद एवं विज्ञान के सम्बन्ध को प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती ने इन शब्दों में प्रतिपादति किया है, परीक्षा द्वारा अपरोक्ष ज्ञान पाने में ही विज्ञान का आग्रह है एवं लक्ष्य को स्थिर रखकर पथ को सीधा कर लेने भर से यह वेद व ब्रह्मज्ञान का पथ हो सकता है। वेद व विज्ञान के बीच एक बहुत घनिष्ठ प्रकार की आत्मीयता है।4 वैदिक मनीषीयों को भौतिक जगत् से सम्बद्धित विज्ञान का विस्तृत वर्णन अपेक्षित नहीं था अतएव उन्होंने वेदों में वैज्ञानिक तथ्यों का साक्षात् वर्णन न करके प्रतीक या संकेत रूप में वर्णन किया है। वेदों में वृक्षों के गुण-धर्मों एवं महत्व को प्रतिपादित किया गया है। जैव विकास क्रम के सन्दर्भ में निहित ज्ञान की सूक्ष्म विवेचना आवश्यक है। सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसके मूल कारण के विषय में प्राचीन काल में अद्यतन मानव जिज्ञासा यथावत् बनी हुई है। वर्तमान विज्ञान भी अनेकानेक प्रयोगों द्वारा नित् नवीन सिद्धान्तों की स्थापना का प्रयास कर रहा है। इस विषय में अन्तिम निर्णय आज भी अप्राप्त है। ऋषियों ने 'पुरू सुक्त', 'हिरण्यगर्भ सूक्त' एवं 'नासदीय सूक्त' में सृष्टि उत्पत्ति के विषय में जो चिन्तन प्रस्तुत किया है वह इस दिशा में नव दृष्टि प्रदान करने वाला है। अतः वैदिक मंत्रों की वैज्ञानिकता को समझने की आवश्यकता है। सन्दर्भ-सूची सन्दर्भ-सूची मनु0 2.7-सर्वज्ञानमया हि सः। तै0उ0 2.5- विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चद्वेद। तै0उ0 3.5- विज्ञानं ब्रह्मेति इत्यादि सूक्तियाँ प्रमाणिक हैं।

3.4 ब्रह्माण्डोत्पत्ति के भारतीय सिद्धान्त

तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। पश्चात् आकाश से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधियां, औषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। यही क्रम प्रायः संस्कृत साहित्य के अन्य वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों में भी मिलता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश ये पञ्चमहाभूत सृष्टि की उत्पत्ति का मूल माने गए हैं। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, इन तीन गुणों के आपसी सम्मेलन से प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है, यही विकार सृष्टि कहलाती है। ये सर्वप्रथम पञ्चमहाभूतों में परिणत होकर समग्र सृष्टि का सृजन करते हैं। यही पञ्चमहाभूत सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक परम्परा में सृष्टि प्रक्रिया के प्रमुख सिद्धान्त भी हैं। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त ये छः वैदिक और बौद्ध, जैन तथा चार्वाक् आदि अवैदिक दर्शन, सभी इन पञ्चमहाभूतों पर विचार अवश्य ही करते हैं। वैदिक ब्रह्माण्डोत्पत्ति सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन वेदान्त दर्शन में सृष्टि के सात आवरणों के माध्यम से मिलता है, जिसे दशाङ्गुलन्याय नाम से भी जाना जाता है। इसके अनुसार पृथ्वी से दशगुना जल, जल से दशगुना अग्नि, अग्नि से दशगुना वायु, वायु से दशगुना आकाश, आकाश से दशगुना अहंकार, अहंकार से दशगुना महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से दशगुना मूलप्रकृति और यह मूलप्रकृति भगवान के एक पाद में है। उपर्युक्त परिकल्पनाओं के अतिरिक्त भी वैदिक साहित्य में अन्य सिद्धान्त प्रमुखता से मिलते हैं। पुरुष सूक्त तथा नासदीय सूक्त ये दोनों सृष्टि विषयक प्रसिद्ध वैदिक सूक्त हैं तथा ये ब्रह्माण्डोत्पत्ति सिद्धान्त को विस्तार से परिभाषित करते हैं। नासदीय सूक्त सृष्टि से पूर्व के पक्षों पर ध्यानाकर्षित करता है तथा यह सूक्त वैदिक चिन्तन की उस पराकाष्ठा को दर्शाता है जिसमें सृष्टि के कारण विद्यमान हैं।

वैदिक तथा पौराणिक वाङ्मय के अध्ययन के आधार पर स्पष्ट होता है कि भारतीय साहित्य वाङ्मय में ब्रह्माण्डोत्पत्ति का वर्णन पर्याप्त मात्रा में हैं। भारतीय ज्ञान परम्परा में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के जो प्रमाण प्रायः प्राप्त होते हैं, उन सभी प्रमाणों के विमर्श के आधार पर ब्रह्माण्ड एवं उसकी उत्पत्ति को मुख्य चार सिद्धान्तों के द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है। ‘‘भुवनकोशविमर्श’’ नामक पुस्तक में प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी जी ने ब्रह्माण्डोत्पत्ति के विषय में इन सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। वे सिद्धान्त निम्न हैं –

1. ब्रह्मा द्वारा सृष्टि
2. विराट्पुरुष द्वारा सृष्टि
3. विश्वकर्मा द्वारा सृष्टि
4. प्रजापति द्वारा सृष्टि

3.4.1ब्रह्मा द्वारा सृष्टि

नासदीयसूक्त में वर्णन मिलता है कि सृष्टि से पूर्व कुछ भी नहीं था पश्चात् स्वयमेव शुद्धचैतन्य परब्रह्म की सत्ता उत्पन्न हुई। इसी परब्रह्म ने संकल्पमात्र से सृष्टि की रचना की। सृष्टिरचना में सर्वप्रथम सत्य की उत्पत्ति हुई तत्पश्चात् क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी उत्पन्न हुए। ब्रह्मा का वर्णन श्रीमद्भागवतमहापुराण में भी प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान विष्णु के मन में सृष्टि की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। तत्पश्चात् भगवान विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। इसी ब्रह्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार ब्रह्मा ने सर्वप्रथम हिरण्याण्ड को उत्पन्न

किया, इस हिरण्याण्ड का आवरण जल था। जल का तेज, तेज का वायु, वायु का आकाश क्रमशः आवरण थे, इन पञ्चमहाभूतों का आवरण महत्तत्व था, तथा महत्तत्त्व अव्यक्त से आवृत्त था। कुछ इसी प्रकार का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् में भी मिलता है। पौराणिक साहित्य देखने पर हमें प्राप्त होता है कि ब्रह्मा इस सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता है। पौराणिक साहित्य में ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन त्रिदेवों की कल्पना इसी सन्दर्भ में की गई है। त्रिदेवकल्पना में सत्व-रज-तम इन तीन गुणों के अनुरूप ब्रह्मा रजोगुणयुक्त होकर विश्व का सृजन करता है, विष्णु सत्त्वगुणसम्पन्न होकर होकर सृष्टि का पोषण करते हैं तथा शिव तमोगुणयुक्त स्वरूप धारण कर सृष्टि का नाश करते हैं। यहाँ ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता, विष्णु को पालनकर्ता तथा शिव को संहारकर्ता के रूप में रखा गया है। पौराणिक साहित्य के अनुसार प्रायः ब्रह्मा ही सृष्टिकर्ता हैं, उन्हीं से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

3.4.2 विराट्पुरुष द्वारा सृष्टि

संस्कृत साहित्य परम्परा में विराट्पुरुष का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है। सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में विराट्पुरुष का वर्णन मिलता है – **"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्"**। इस प्रकार ऋग्वेद में विराट्पुरुष के सर्वकालत्व तथा सर्वव्यापकत्व का वर्णन मिलता है। विराट्पुरुष का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता के एकादश अध्याय में भी प्राप्त होता है। इसी विराट्पुरुष से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ। इसी ब्रह्माण्ड में भूर्भुवादि चतुर्दशलोक, उन लोकों में अनेकों सौर-परिवार, उन सौर परिवारों में अनेकों ग्रह-उपग्रह, उनमें अनेकों सृष्टियां तथा उनमें अनेक प्राणी फिर जीव और अजीव सहित समस्त चराचर जगत् की रचना हुई। वैदिक साहित्य में विराट्पुरुष को "सहस्रशीर्षा पुरुष" कहते हैं, अर्थात् सहस्रों सिरों वाला पुरुष। विराट्पुरुष के सिर, पैर, भुजाएं आदि अंग सहस्रों की संख्या में हैं, इसी विराट् पुरुष से समस्त सृष्टि उत्पन्न होती है तथा इसी में समाहित हो जाती है। यह विराट्पुरुष सर्वव्यापक है और तीनों कालों का नियन्ता भी है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त इसी विराट् पुरुष का विस्तार से वर्णन करता है, यह विराट् पुरुष एक से अनेक के रूप में सृष्टि का विस्तार करता है। पुरुषसूक्त के अनुसार समस्त द्यौ, आकाश, दिशाएं, जीव जगत् इसी विराट्पुरुष द्वारा उत्पन्न हैं।

3.4.3 विश्वकर्मा द्वारा सृष्टि

"विश्वेषु कर्म व्यापारो यस्य स विश्वकर्मा" अर्थात् विश्व का सृजन करना जिसका कार्य है वही विश्वकर्मा है। विश्वकर्मा को पौराणिक साहित्य में सृजनकर्ता कहा गया है। विश्वकर्मा का अर्थ ही विश्व का कर्ता होता है। वैदिक साहित्य में स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि परमेश्वर द्वारा निर्मित हुई है। इसी परमेश्वर के गुणों की संज्ञा देवता नाम से प्रसिद्ध है। ये देवता ही परमेश्वर की आज्ञा से सृष्टि करते हैं। विश्वकर्मा, सविता, इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि देवता परमेश्वर की आज्ञा से विभिन्न कार्यों का संपादन करते हैं। इन्हीं देवताओं में से एक विश्वकर्मा भी हैं।

अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्यवेद है। स्थापत्य साहित्य में विश्वकर्मा प्रमुख आचार्य के रूप में भारतीय ज्ञानाकाश में सूर्य की भाँति विद्यमान हैं। स्थापत्यशास्त्र के अनुसार विश्वकर्मा ही सृष्टि के निर्माता हैं, इस सम्पूर्ण चराचर जगत की उत्पत्ति विश्वकर्मा द्वारा हुई है। स्थापत्यशास्त्र वर्तमान में वास्तुशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है। अपराजितपृच्छा, समराङ्गणसूत्रधार आदि वास्तुशास्त्रीय प्रमुख ग्रन्थों में विश्वकर्मा को ही सृष्टिनिर्माता के रूप में रखा गया है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में विश्वकर्मा की चर्चा

विस्तार से की गई है परन्तु इस विचार का बीज मुख्य रूप से वैदिक साहित्य में ही हमें दृष्टिगोचर होता है।

3.4.4 प्रजापति द्वारा सृष्टि

प्रजा के पति अर्थात् प्रजा के स्वामी को प्रजापति कहा गया। सर्वप्रथम ऋग्वेद में प्रजापति का वर्णन प्राप्त होता है - **"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"**अर्थात् परमात्मा से सर्वप्रथम प्रजापति उत्पन्न हुए और वे उत्पन्न होते ही सभी लोकों के स्वामी बन गए। यही प्रजापति वैदिक श्रुतियों में हिरण्यगर्भ नाम से भी प्रसिद्ध हुए। पौराणिक साहित्य में प्रजापति को ब्रह्मा की पहली उत्पत्ति मानी जाती है, आगे चलकर यही प्रजापति विभिन्न प्रकार की सृष्टियों का सृजन करते हैं। महाभारत के मोक्षधर्म में इक्कीस तथाहरिवंशपुराण में तेरह प्रजापतियों का वर्णन प्राप्त होता है, इसके अनुसार पितामह ब्रह्मा ने सर्वप्रथम लोकों के कर्ता प्रजापतियों का सृजन किया तत्पश्चात् इन प्रजापतियों ने लोकों की रक्षा की और नई सृष्टि उत्पन्न की।

1. ब्रह्माण्डोत्पत्ति के आधुनिक सिद्धान्त

ग्रहों, तारों, आकाशगंगाओं, जीव-जगत्, पदार्थ और ऊर्जा के अन्य सभी रूप ब्रह्माण्ड में समाहित हैं। सर्वप्रथम आधुनिक खगोलशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त दो प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिकों प्लेटो तथा अरस्तू ने प्रस्तुत किए। आधुनिक संदर्भ में दो प्रमुख सिद्धान्त प्रसिद्ध थे, इसमें पहला भूकेन्द्रिक सौरपरिवार तथा दूसरा सूर्यकेन्द्रिक सौरपरिवार ये दो सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं।   इसी सिद्धान्त के आधार पर दूसरी शताब्दी में टॉलमी द्वारा विस्तार से भू-केन्द्रिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। भारतवर्ष के महान वैज्ञानिक आर्यभट्ट ने सर्वप्रथम पृथ्वी को ही ब्रह्माण्ड का केन्द्र माना, परन्तु उन्होंने ब्रह्माण्ड को स्थिर माना, और कहा कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। उनका यह सिद्धान्त खगोल जगत में "भू-भ्रमण सिद्धान्त" नाम से प्रसिद्ध है।

द्वितीय महत्वपूर्ण सिद्धान्त यूरोप के वैज्ञानिक निकोलस कोपरनिकस ने प्रस्तुत किया। यह भू-केन्द्रिक सिद्धान्त के विपरीत सूर्य केन्द्रिक सिद्धान्त था। सूर्य-केन्द्रिक सिद्धान्त के अनुसार सूर्य सौरपरिवार का केन्द्र है, पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। कोपरनिकस के सिद्धान्त का भी यूरोप में पर्याप्त विरोध हुआ। इसके बाद दुनियां के अलग-अलग कोनों में खगोल विज्ञान में अनेकों खोजें हुई। जर्मनी के जोहांस केपलर ने ग्रहों की गतियों का स्पष्टीकरण दिया तथा इटली के वैज्ञानिक गैलीलियो ने दूरबीन की खोज की तथा अनेकों खोजें हुई, जो आज भी निरन्तर जारी हैं। ब्रह्माण्ड को समझने के लिए प्रमुख रूप से निम्न आधुनिक सिद्धान्तों का अध्ययन करना आवश्यक है।

1. स्थिरदशा सिद्धान्त
2. विस्फोट सिद्धान्त
3. स्पन्दनशील सिद्धान्त

3.5 स्थिरदशा सिद्धान्त

ब्रह्माण्ड में न सिकुड़न दिखाई पड़ती है और न ही विस्तार दिखाई पड़ता है। व्यवहारिक रूप में यही दिखाई भी पड़ता है, इस प्रकार जो भी आकाश को देखेगा वह यही समझेगा कि यह स्थिर है। उस स्थिति में ब्रह्माण्ड को स्थिर कह सकते हैं।अल्बर्ट आइन्स्टाइन को इस सिद्धान्त का जनक माना

जाता है। उनका मानना था कि ब्रह्माण्ड स्थिर है और सदैव स्थिर दशा में ही रहता हैऔर यह ब्रह्माण्ड करोड़ों वर्षों से स्थिर है। आइन्स्टाइन के इस सिद्धान्त को बीसवीं सदी के ब्रह्माण्ड विज्ञानी फ्रेड हॉयल ने अंग्रेज गणितज्ञ हरमान बांडी और अमेरिकी वैज्ञानिक थोमस गोल्ड के साथ संयुक्त रूप से मिलकर स्पष्ट किया। यह सिद्धान्त स्थिरदशा सिद्धान्त तथा स्थायी दशा सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। इसके अनुसार न तो ब्रह्माण्ड का आदि है और न ही इसका कभी अन्त होगा। यह सदैव ही स्थिर दशा में विद्यमान रहा है और रहेगा भी। यह समयानुसार अपरिवर्तनशील है, यद्यपि इस सिद्धान्त में प्रसरणशीलता समाहित है, परन्तु फिर भी ब्रह्माण्ड के घनत्व को स्थिर रखने के लिए पदार्थ इसमें स्वतः रूप से उत्पन्न और परिवर्तित होता रहता है।

3.6 विस्फोट सिद्धान्त

आधुनिक सिद्धान्तों में सर्वाधिक मान्य और प्रख्यात यह सिद्धान्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति को विस्फोट द्वारा सिद्ध करता है। विस्फोट सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम विस्फोट हुआ, उस विस्फोट से ही ब्रह्माण्ड में सृष्टि उत्पन्न हुई। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हब्बल ने किया। उनका मानना था कि ब्रह्माण्ड फैल रहा है तथा उन्होंने यह तर्क दिया कि ब्रह्माण्ड में आकाशगंगाएं लगातार एक दूसरे से दूर जा रही हैं, अतः अतीत में किसी समय ये आकाशगंगाएं अवश्य ही एक साथ रही होंगी। उनका मानना था कि दस से पंद्रह अरब वर्ष पूर्व ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण द्रव्यराशि एक स्थान पर एकत्रित थी, उस समय ब्रह्माण्ड का घनत्व असीमित था, तथा सम्पर्ण ब्रह्माण्ड अति सूक्ष्म बिन्दु में समाहित था। किसी अज्ञात कारण से इसी सूक्ष्म बिन्दु में विस्फोट हुआ और उस विस्फोट से द्रव्य इधर-उधर छिटक गया। इसी स्थिति में अकारण ही दिक्-काल की भी उत्पत्ति हुई। इस घटना को खगोलविदों द्वारा ब्रह्माण्डीय विस्फोट का नाम दिया जाता है। एक अंग्रेज विज्ञानी सर फ्रेड हॉयल ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते समय मजाक में “बिग-बैंग”इस शब्द का प्रयोग किया था, इसीलिए इस सिद्धान्त को बिग-बैंग सिद्धान्त भी कहा जाता है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में विस्फोट सिद्धान्त सर्वाधिक मान्यता प्राप्त सिद्धान्त है। एक ओर जहां स्थिरदशा सिद्धान्त में पदार्थो का सृजन निरन्तर प्रक्रिया है, वहीं विस्फोट सिद्धान्त के अनुसार पदार्थों का सृजन अकस्मात् हुआ।

3.7 स्पन्दनशील सिद्धान्त

स्पन्दनशील का अर्थ सिकुड़ने और फैलने की नियमित प्रक्रिया से है, इसके अनुसार ब्रह्माण्ड फैलता रहता है तथा सिकुड़ता रहता है। इस सिद्धान्त को दोलायमान सिद्धान्त भी कहते हैं। इसी फैलने और सिकुड़ने की अवस्था को स्पन्दनशील कहते हैं। यह फैलने और सिकुड़ने की लगातार स्थिति बनी रहती है। वर्तमान में हमारा ब्रह्माण्ड फैल रहा है, परन्तु एक सीमित अवस्था में फैलने के बाद इसमें सिकुड़न आ जाएगी। इसी सिद्धान्त को स्पन्दनशील सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड के सिकुड़न और प्रसरण की प्रक्रिया करोड़ो वर्षों के अन्तराल में होती है। डॉ. एलन संडेज को इस सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है। उनका मानना है कि आज से 120 करोड़ वर्ष पहले एक विस्फोट हुआ तभी से यह ब्रह्माण्ड फैलता जा रहा है। 290 करोड़ वर्ष बाद गुरुत्वाकर्षण बल के कारण इसका विस्तार रुक जाएगा और इसके बाद इसमें संकुचन की प्रक्रिया शुरू हो जाएगी। यह ब्रह्माण्ड संकुचित होते-होते अनन्त रूप से सिकुड़ते हुए एक अतिसूक्ष्म बिन्दुमय

आकार धारण कर लेगा, उसके बाद अत्यन्त गुरुत्वाकर्षण के कारण ही इसमें पुनः विस्फोट होगा और इसमें पुनः फैलाव प्रारम्भ हो जाएगा। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी, इसी सिद्धान्त को स्पन्दनशील सिद्धान्त कहा जाता है।

अभ्यास प्रश्न

प्र. 1. भारतीय वाङ्मय के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति के कितने सिद्धान्त बताए गए हैं?

प्र. 2. तीन गुणों के नाम बताइये।

प्र. 3. आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति के कितने सिद्धान्त बताए गए हैं?

प्र. 4. तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार सर्वप्रथम क्या उत्पन्न हुआ?

प्र. 5. भारतीय दर्शन के आधार पर सृष्टि का मूल किसे माना गया है?

प्र. 6. सांख्य के अनुसार प्रकृति क्या है?

प्र. 7. दशाङ्गुल न्याय क्या है?

प्र. 8. नासदीय सूक्त में क्या वर्णन मिलता है?

प्र. 9. श्रीमद्भागवत् के अनुसार सृष्टि का वर्णन क्या है?

प्र. 10. पुरुषसूक्त के अनुसार सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई?

प्र. 11. विश्वकर्मा को क्या कहा जाता है?

प्र. 12. वैदिक श्रुतियों में हिरण्यगर्भ को क्या कहा गया?

प्र. 13. स्थिरदशा किसे कहते हैं?

प्र. 14. विस्फोट सिद्धान्त सृष्टि किस प्रकार मानता है?

प्र. 15. स्पन्दनशील सिद्धान्त क्या है?

3.8 स्थिरदशा सिद्धान्त और भारतीय सृष्टि विज्ञान

स्थिरदशा सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड एक स्थिर सत्ता है तथा इसका कोई भी रचयिता नहीं है, और ना ही इसका कभी अन्त होगा। इसी प्रकार पर यदि हम भारतीय सृष्टिविज्ञान की बात करें तो यहां भी पदार्थ के परमाणुरूप को स्थिर ही माना गया है, यहाँ स्थिर से उत्पत्ति और विनाश का अभाव है। यह परमाणु सदा ही विद्यमान रहते हैं, परन्तु इनमें परिवर्तन भी समय-समय पर होते रहते हैं। ये परिवर्तन एक सीमित काल तक ही होते हैं। जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसका विनाश भी निश्चित है। यह उत्पत्ति और विनाश का क्रम भी स्थिर ही है। क्योंकि कोई नहीं जानता कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, और इसका रचयिता कौन है? इस सम्पूर्ण सृष्टि के कारणों को समझने के लिए भारतीय मनीषियों ने समय-समय पर कई सिद्धान्त दिए हैं। परन्तु वे इन सिद्धान्तों से भी पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हैं, इसीलिए उन्होंने इसे नेति-नेति कहकर इसकी अनन्तता को स्वीकार किया है।

दार्शनिक दृष्टि से प्रकृति का मूल स्वरूप तीन गुणों की साम्यावस्था है, ये तीन गुण हैं – सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। तीनों गुण प्रकृति में सदा ही विराजमान रहते हैं, परन्तु इन तीनों के सन्तुलन में जब विकृति उत्पन्न होती है तब उस स्थिति में सृष्टि उत्पन्न मानी जाती है। अतः प्रकृति में विकृति ही सृष्टि कहलाती है। यह सृष्टि लगातार होती रहती है, और नष्ट भी होती रहती है। इस प्रकार यह क्रम अनन्त काल तक चलता रहता है। सृष्टि का बनना और नष्ट होना एक नियमित प्रक्रिया है, यह परिवर्तन प्रकृति में सदा ही बना रहता है। परन्तु प्रकृति कभी भी परिवर्तित नहीं रहती, केवल उसके

गुणों में विकृति होती है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक तथा वैज्ञानिक चिन्तन एक दृष्टि में सृष्टि को नित्य मानता है, और इसमें होने वाले परिवर्तनों को गुणों के असन्तुलन का परिणाम। ये सिद्धान्त पाश्चात्य वैज्ञानिकों द्वारा दिए गए स्थिरदशा सिद्धान्त से साम्यता रखते हैं। अनादि और अनन्त का भाव ही स्थिरता है। इसी स्थिरता के आधार पर ही आधुनिक वैज्ञानिकों ने स्थिरदशा सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।

3.8.1 विस्फोट सिद्धान्त तथा भारतीय सृष्टि विज्ञान-

ब्रह्माण्डोत्पत्ति के आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों में विस्फोटसिद्धान्त सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति को एक बिन्दु में से मानता है। इसके अनुसार ब्रह्माण्ड एक महाविस्फोट के साथ फैलता है तथा उसके बाद यह विस्तार को धारण करता है। भारतीय वैज्ञानिक ज्ञान परम्परा के अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एक हिरण्यमय अण्डे के फूटने से हुई। यह हिरण्याण्ड सर्वप्रथम दो भागों में विभाजित हुआ और इसके दोनों कपालों से पृथिव्यादि समस्त प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई। इस विषय में ऋग्वेद में मिलता है –

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"

अर्थात् सर्वप्रथम एक हिरण्याण्ड में विस्फोट हुआ और उसके गर्भ से एक शक्तिशाली पुरुष उत्पन्न हुआ और वह समस्त लोकों में व्याप्त हो गया। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद प्रो.देवी प्रसाद त्रिपाठी जी ने अपनी पुस्तक भुवनकोशविमर्श में इस हिरण्याण्ड की तीन गतियां बताई हैं – पर्यप्लवन, प्रसर्पण और समेषण। पर्यप्लवन की गति में यह हिरण्याण्ड सर्वप्रथम अक्षभ्रमण की अवस्था अर्थात् अपनी धुरी पर घूम रहा था। फिर यह प्रसर्पण की गति को प्राप्त हुआ और इसमें गतिशीलता प्रारम्भ हुई और इसमें वृद्धि हुई। इसके बाद यह समेषण की स्थिति में आया और इसमें गम्भीर शब्दनाद के साथ इसका प्रसार प्रारम्भ हो गया।

इस प्रकार भारतीय हिरण्यगर्भ सिद्धान्त और आधुनिक विस्फोट सिद्धान्त में समानता मिल जाती है। जिसमें ब्रह्माण्ड की पर्यप्लवन स्थिति को हम आधुनिक मूल बिन्दु मान सकते हैं जिसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने "प्रधान परमाणु" कहा। उस परमाणु में जब शब्दनाद के साथ गतिशीलता प्रारम्भ हुई तथा यह प्रसर्पण अवस्था में था। आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस अवस्था को ही महाविस्फोट कहा है। हिरण्याण्ड की तीसरी अवस्था जिसे भारतीय ऋषियों ने समेषण अवस्था कहा है, उसमें हिरण्याण्ड का विस्तार होता है। यह महाविस्फोट के बाद के विस्तार की ओर संकेत करता है। अर्थात् ब्रह्माण्ड का विस्तार प्रारम्भ हुआ। अतः ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सन्दर्भ में जो हिरण्यगर्भ सिद्धान्त के अन्तर्गत कहा गया है, प्रायः वही सिद्धान्त आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा भी प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय दार्शनिक पद्धति के अनुसार भी प्रायः इसी प्रकार का वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। सांख्यशास्त्र के अनुसार मूल प्रकृति में पुरुष के तेज से विक्षोभ हुआ और उसी विक्षोभ के बाद सृष्टि की उत्पत्ति हुई। समस्त प्रकार के ग्रह-नक्षत्रों की रचना भी इसी विस्फोट के कारण हुई। आधुनिक विस्फोट सिद्धान्त के अनुसार यह दार्शनिक परिकल्पना इससे मिलती-जुलती हुई है। यहां मूल बिन्दु अर्थात् प्रधान परमाणु को हम प्रकृति का स्वरूप मान सकते हैं। उसमें अत्यधिक ऊर्जा के प्रभाव को हम सांख्य पुरुष की ऊर्जा के रूप में मान सकते हैं। जिस प्रकार प्रकृति का पुरुष की ऊर्जा के साथ संयोग से प्रकृति में विक्षोभ हुआ। कुछ इसी तहत आधुनिक वैज्ञानिकों का भी मानना है कि प्रधान परमाणु

के पास अत्यधिक ऊर्जा की सघनता के कारण इस मूल बिन्दु पर विस्फोट हुआ। इस प्रकार भारतीय प्राचीन सिद्धान्तों के अनुरूप ही आधुनिक वैज्ञानिक भी अपनी खोजों के अनुसार निष्कर्ष तक पहुंच रहे हैं।

3.8.2 स्पन्दनशील सिद्धान्त तथा भारतीय सृष्टिविज्ञान-

स्पन्दनशील सिद्धान्त आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा ब्रह्माण्ड के विस्तार और संकुचन को परिभाषित करने के लिए प्रस्तुत किया गया है। अन्य अर्थों में कहें तो यह सिद्धान्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और विनाश को परिभाषित करता है। ब्रह्माण्ड तथा इस सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है तथा यह सृष्टि नष्ट भी होती है। इस सिद्धान्त को हमारे प्राचीन ऋषियों ने स्पष्ट भी किया है। प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा परमाणुओं के संयोग से सृष्टि को परिभाषित किया गया है। भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार पदार्थ का परमाणुरूप स्थिर है, तथा वह कभी भी नष्ट नहीं होता। यही परमाणु अन्य परमाणु के साथ मिलकर सृष्टि करता है, तथा प्रलय की अवस्था में स्थूल स्वरूप से परमाणुरूप में पुनः परिवर्तित हो जाता है। परमाणु के इसी स्थूल स्वरूप धारण करने को हम परमाणु का विस्तार तथा पुनः परमाणुरूप में परिवर्तित होने को संकुचन की प्रक्रिया के माध्यम से स्पष्ट कर सकते हैं।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने ब्रह्माण्ड को स्थिर, अनादि और अनन्त नहीं माना। उनके अनुसार यह ब्रह्माण्ड एक असीमित शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है, और नष्ट भी होता है। इसीलिए भारतीय शास्त्रों में प्रलय की परिकल्पना हमें प्राप्त होती है। ब्रह्माण्ड की इस विस्तारित तथा संकुचित होने की प्रक्रिया को प्रलय सिद्धान्त द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। भारतीय ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि यह सब उत्पत्ति और प्रलय का संचालन परमात्मा करता है। परमात्मा के ही संकल्प मात्र से सृष्टि उत्पन्न होती है तथा नष्ट भी होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णन मिलता है कि सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ, उसके बाद क्रमशः वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी उत्पन्न हुए –**एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। ओषधेभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।** अर्थात् सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधियां, औषधियों से अन्न तथा अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। इस प्रकार इस ऋचा में सर्वशक्तिशाली भौतिक रचना आकाश की मानी गई है। इस प्रकार समग्र सृष्टि की रचना होती है, परन्तु यह सृष्टि अनन्त नहीं है, यह प्रलय अवस्था में समाप्त भी होती है। सृष्टि के इस प्रलय को प्राकृतप्रलय कहा जाता है, इसी को महाप्रलय भी कहते हैं। पौराणिक वर्णनों के अनुसार सृष्टि का रचनाकार ब्रह्मा है, लेकिन यह ब्रह्मा भी अनन्त नहीं है। एक निश्चित समय बाद इसकी आयु पूर्ण हो जाती है। परन्तु जब ब्रह्मा की आयु पूर्ण होती है तब यह सृष्टि भी प्रलय को प्राप्त होती है।

इस महाप्रलय में सभी प्रकार के पदार्थ अपने नित्य परमाणु स्वरूप के प्राप्त कर क्रमशः विलय होते हैं। इस प्रक्रिया में पृथिवी का परमाणुरूप जल में, जल का परमाणुरूप अग्नि में, अग्नि का परमाणुरूप वायु में, वायु का परमाणुरूप आकाश में क्रमशः विलीन हो जाते हैं। यही परमाणुओं की विलीन होने की प्रक्रिया को हम ब्रह्माण्ड का संकुचन भी कह सकते हैं। इसके बाद पुनः नवीन

सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। भास्कराचार्य बीजगणित नामक पुस्तक में इसी सिद्धान्त को खहर राशि (जिसमें शून्य भाजक होता है) में अविकारत्व को दृष्टान्त के रूप मेंइस प्रकार कहते हैं-

अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु।

बहुष्वपि स्याल्लयसृष्टिकालेऽनन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत्।।

अर्थात् खहर राशि (जिसमें हर शून्य हो) में किसी राशि को जोडने या घटाने से शून्य हर में उसी प्रकार कोई विकार नहीं होता, जिस प्रकार प्रलय काल में भगवान अच्युत के शरीर में अनेक जीव प्रविष्ट हो जाते हैं तथा सृष्टिकाल में उनके शरीर से अनेक जीव निकलते हैं तथापि उनके शरीर में कोई विकार नहीं होता है, अर्थात् ज्यों का त्यों रहता है। यदि भगवान को मूल बिन्दु या परमाणु समझें, तो स्पन्दनशील सिद्धान्त से साम्यता मिलती है। उत्पत्ति और प्रलय का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, यही स्पन्दनशील सिद्धान्त है।

भारतीय विज्ञान प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ की मृत्यु को निश्चित मानता है, और जिसकी मृत्यु होती है उसकी उत्पत्ति भी निश्चित ही है। अतः उत्पत्ति और लय का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णन मिलता है कि –

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

अर्थात् जो पैदा हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है, और जो मर गया है वह पुनः जन्मता है। इस प्रकार स्पन्दनशील सिद्धान्त की साम्यता भारतीय सृष्टिविज्ञान से साम्यता अवश्य रखती है। उत्पत्ति और प्रलय का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। यही स्पन्दनशील सिद्धान्त है।

अभ्यास प्रश्न-2

प्र. 16. स्थिरदशा का अर्थ क्या है?

प्र. 17. स्थिरदशा को प्राचीन भारतीय सिद्धान्त के अनुसार कैसे समझेंगे?

प्र. 18. स्थिरता का क्या अर्थ है?

प्र. 19. विस्फोट सिद्धान्त की भारतीय सिद्धान्तों से क्या साम्यता है?

प्र. 20. सांख्य के अनुसार विस्फोट की समानता क्या है?

प्र. 21. स्पन्दनशील सिद्धान्त को भारतीय सिद्धान्तों के आधार पर परिभाषित किस प्रकार किया जा सकता है?

3.4 सारांश

ब्रह्माण्ड के विषय में प्राचीन भारतीय तथा आधुनिक विज्ञान के अनेकों सिद्धान्त वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। आधुनिक और प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों की बात करें तो उनमें साम्यता अवश्य ही दिखती है। आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा सृष्टि के विषय में स्थिरदशा, विस्फोट, स्पन्दनशीलता ये तीन सिद्धान्त दिए गए हैं। प्राचीन भारतीय सृष्टिप्रक्रिया के अध्ययन के आधार पर हम देखते हैं कि परमाणुओं का नित्यत्त्व स्थिर है, यह स्थिरदशा सिद्धान्त से साम्यता रखता है। द्वितीय आधुनिक सिद्धान्त विस्फोट सिद्धान्त के अनुसार समग्र सृष्टि एक महान विस्फोट से उत्पन्न हुई। इसकी साम्यता के विषय में यदि बात की जाए तो प्रकृति की साम्यावस्था में सृष्ट्युत्पत्ति के कारणस्वरूप त्रिगुणों के परस्पर टकराने से जो विकार उत्पन्न होते हैं वह विस्फोट सिद्धान्त से साम्यता रखता है। तृतीय और महत्वपूर्ण आधुनिक सिद्धान्त स्पन्दनशील है। स्पन्दनशील सिद्धान्त

भौतिक प्रकृति को अनित्य मानता है, इसके अनुसार सृष्टि में विस्तार और संकुचन एक नियमित प्रक्रिया है। विस्तार के समय सृष्टि उत्पन्न होती है और संकुचन सृष्टि के विनाश की प्रक्रिया है। भारतीय मत में भी सृष्टि को उत्पत्ति और विनाश के सहित ही माना गया है। अतः स्पन्दनशील सिद्धान्त सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश के सिद्धान्त से साम्यता रखता है। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों के साथ साम्यता रखते हैं।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

जिज्ञासा	-	जानने की इच्छा
विमर्श	-	विचार-चिन्तन
गूढतम	-	अत्यन्त रहस्यमयी
अबूझ	-	अनसुलझी
रचयिता	-	रचना करने वाला
व्यापकता	-	अधिक विस्तार सीमा
वैदिक ऋचा	-	वेदों के मन्त्र
साम्यावस्था	-	स्थिर अवस्था
खगोलविद	-	ब्रह्माण्ड विज्ञानी
परिणत	-	परिवर्तन
पराकाष्ठा	-	अत्यन्त तीव्रता
सृजन	-	रचना, उत्पत्ति
सर्वकालत्व	-	सभी कालों में विद्यमान
सर्वव्यापकत्व	-	सभी स्थानों में विद्यमान
चराचर	-	चर और अचर
स्थापत्य	-	स्थापना से संबन्धित
भूकेन्द्रिक	-	भूमि को केन्द्र में रखकर
सूर्यकेन्द्रिक	-	सूर्य को केन्द्र में रखकर
विपरीत	-	उल्टा
अपरिवर्तनशील	-	जिसमें परिवर्तन नहीं होता
अकारण	-	विना कारण के
अकस्मात्	-	अचानक
सिकुड़ना	-	संकुचित होना
रचयिता	-	रचना करने वाला
अक्षभ्रमण	-	धुरी पर घूमना
असीमित	-	सीमा से रहित
नवीन	-	नया
साम्यति	-	समानता

समग्र - सम्पूर्ण

3.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. भारतीय साहित्य वाङ्मय के आधार पर ब्रह्माण्डोपत्ति के प्रमुख चार सिद्धान्त हमें प्राप्त होते हैं। जिनमें विश्वकर्मा द्वारा सृष्टि ब्रह्मा द्वारा सृष्टि, प्रजापति द्वारा सृष्टि तथा विराट् पुरुष ,द्वारा सृष्टि का वर्णन हमें मिलता है।
2. सत्व-रज-तम नामक तीन गुण हैं।
3. आधुनिक खगोलविदों द्वारा तीन प्रमुख सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है – ये विस्फोट सिद्धान्तस्थिरदशा सिद्धान्त तथा स्पन्दनशील सिद्धान्त हैं। ,
4. तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ।
5. पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश ये पञ्चमहाभूत सृष्टि की उत्पत्ति का मूल माने गए हैं।
6. सांख्य के अनुसार सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है।
7. दशाङ्गुलन्याय के अनुसार पृथ्वी से दशगुना जल, जल से दशगुना अग्नि, अग्नि से दशगुना वायु, वायु से दशगुना आकाश, आकाश से दशगुना अहंकार, अहंकार से दशगुना महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से दशगुना मूलप्रकृति और यह मूलप्रकृति भगवान के एक पाद में है।
8. नासदीयसूक्त में वर्णन मिलता है कि सृष्टि से पूर्व कुछ भी नहीं था पश्चात् स्वयमेव शुद्धचैतन्य परब्रह्म की सत्ता उत्पन्न हुई।
9. श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान विष्णु के मन में सृष्टि की जिज्ञासा उत्पन्न हुई तत्पश्चात् भगवान विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। इसी ब्रह्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की।
10. पुरुषरूक्त के अनुसार सृष्टि का रचनाकार विराट्पुरुष है।
11. विश्वकर्मा को पौराणिक साहित्य में सृजनकर्ता कहा गया है। विश्वकर्मा का अर्थ ही विश्व का कर्ता होता है।
12. प्रजापति वैदिक श्रुतियों में हिरण्यगर्भ नाम से भी प्रसिद्ध हुए।
13. जब ब्रह्माण्ड में न सिकुड़न दिखाई पड़ती है और न ही विस्तार दिखाई पड़ता है, उस स्थिति को स्थिरदशा कहा जाता है।
14. विस्फोट सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि एक महाविस्फोट से उत्पन्न हुई।
15. स्पन्दनशील का अर्थ सिकुड़ने और फैलने की नियमित प्रक्रिया से हैइसके अनुसार , ब्रह्माण्ड फैलता रहता है, तथा सिकुड़ता रहता है।
16. *स्थिर से अर्थ उत्पत्ति और विनाश का अभाव है*
17. प्राचीन भारतीय सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति स्थिर है, तथा पञ्चमहाभूतों के परमाणु भी स्थिर हैं।
18. *अनादि और अनन्त का भाव ही स्थिरता है।*
19. *भारतीय सृष्टिविज्ञान के आधार पर हिरण्यगर्भ में विस्फोट होने से यह सृष्टि उत्पन्न हुई। आधुनिक विज्ञान भी सृष्टि का कारण विस्फोट को ही मानता है।*
20. *सांख्य के अनुसार तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, और प्रकृति में विकार उत्पन्न होने से सृष्टि उत्पन्न होती है, यही प्रकृति का विकार प्रकृति का विस्फोट कहलाता है।*

21. भारतीय परम्परा के अनुसार उत्पत्ति और प्रलय का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी प्रकार स्पन्दनशील सिद्धान्त में भी विस्तार और संकुचन नियमित प्रक्रिया है।

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद, संस्कृत साहित्य प्रकाशन वर्ष 2016
2. खगोलीय पिण्डों का परिक्रमणकोपर्निकस, व्याख्या, तिवारी, श्रवणकुमार एवं पाण्डेय , , रमाकान्त, वाराणसी हिन्दी प्रकाशन समितिसन् 1972 ,
3. गोलपरिभाषासंवत् 2027 ,झा, सीताराम, दरभङ्गा, बिहार, श्रीसीताराम पुस्तकालय ,
4. भुवनकोश विमर्श, प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी, अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स दिल्ली, वर्ष 2004

3.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. यजुर्वेद, संस्कृत साहित्य प्रकाशन वर्ष 2015
2. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्, डॉ श्रीकृष्ण जुगनू, परिमल प्रकाशन, वर्ष 2005
3. श्रीमद्भागवतपुराणम्वेदव्यास ,,गोरखपुर, गीताप्रेस, संवत् 2059
4. श्रीमद्भगवद्गीतागीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2048 ,

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र. 1. सृष्टिविज्ञान के प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

प्र. 2. सृष्टिविज्ञान के आधुनिक सिद्धान्तों का वर्णन करें।

प्र. 3. स्थिरदशा सिद्धान्त की भारतीय सृष्टिविज्ञान के संदर्भ में तुलनात्मक व्याख्या करें।

प्र. 4. विस्फोट सिद्धान्त की भारतीय सृष्टिविज्ञान के संदर्भ में तुलनात्मक व्याख्या कीजिए।

प्र. 5. स्पन्दनशील सिद्धान्त की भारतीय सृष्टिविज्ञान के संदर्भ में तुलनात्मक व्याख्या करें।

प्र. 6. भारतीय सृष्टि विज्ञान और आधुनिक सिद्धान्तों के आधार पर निबन्ध लिखें।

इकाई-4 सृष्टि संरचना एवं स्वरूप

इकाई की रुपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 सृष्टि संरचना एवं स्वरूप

4.4 सारांश

4.5 पारिभाषिक शब्दावली

4.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों !

वैदिक अध्ययन से सम्बन्धित यह चतुर्थ इकाई है। इसके पूर्व की इकाइयों में आपने वैदिक सृष्टि के प्राचीन एवं आधुनिक सिद्धान्तों का विस्तृत अध्ययन किया है। प्रस्तुत इकाई में सृष्टि संरचना एवं स्वरूप का वर्णन आपके अध्ययनार्थ प्रस्तुत है।

वैदिक साहित्य में सृष्टि के विषय पर बहुत स्थानों पर विस्तार से विचार किया गया है। लौकिक साहित्य के ग्रन्थों में भी सृष्टि संरचना के स्वरूप का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है। सृष्टि उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार रहा- आकाश, ज्वलनशील वायु, अग्नि, जल और का मण्डल। नीहारिका मण्डल में ही सौर मण्डलों ने स्थान पाया। पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य से छिटक कर अलग होने के बाद धीरे-धीरे परिवर्तित होकर वर्तमान स्वरूप में हुई। सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व क्या था ? सृष्टि की संरचना कैसे हुई? इससे पूर्व यह भी जानना आवश्यक है कि सृष्टि की संरचना का कार्य कब प्रारम्भ हुआ तथा सृष्टि संरचना का प्रारम्भ कब हुआ। इस इकाई में आप सृष्टि संरचना के काल तथा वेदों, वेदाङ्गादि साहित्य में वर्णित सृष्टि की संरचनाके विषय में अध्ययन करेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- सृष्टि संरचना के स्वरूप की व्याख्या कर सकेंगे।
- पुराणों में सृष्टि संरचना का वर्णन कर सकेंगे
- सृष्टि संरचना को बताने में समर्थ होंगे।
- सृष्टि की संरचना का समय बता सकेंगे।
- लौकिक साहित्य के अनुसार सृष्टि संरचना के स्वरूप का विवेचन करने में समर्थ होंगे।

4.3 सृष्टि संरचना एवं स्वरूप

सृष्टि संरचना के विषय में ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व यह भी जानना आवश्यक है कि इस चराचर जगत् का निर्माण कार्य कब प्रारम्भ हुआ। यह वैज्ञानिकों द्वारा सिद्ध हो गया है कि ब्रह्मांड की रचना के समय पृथ्वी भी अस्तित्व में आई। वैदिक विज्ञान के अनुसार सृष्टि का रचयिता "परब्रह्म" ईश्वर है। सृष्टि पूर्व ऋग्वेद के नासदीय सूत्र (१०/१२९/१ व २) के अनुसार "न सदासीन्नो ,सदासीत्त दानी। न सीद्र्जो नो व्योमा परोयत ॥ "आनंदी सूत स्वधया तदेकं। तस्माद्वायान्न परःकिन्चनासि ॥" अर्थात् प्रारंभ में न सत् था न असत, न परम व्योम व व्योम से परे लोकादि, सिर्फ वह एक अकेला ही स्वयं की शक्ति से गति शून्य होकर स्थित था, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं था। तथा- "अशब्दम स्पर्शमरूपमव्ययम, तथा रसम नित्यं गन्ध्वच्च यात." (कठोपनिषद -१/३/१५) अर्थात् वह ईश्वर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, नित्य व अनादि है। भार रहित व गति रहित, स्वयम्भू है, कारणों का कारण, कारण-ब्रह्म है। उसे ऋषियों ने आत्मानुभूति से जाना व वेदों में गाया। इस विषय में गहन सूचना का सन्दर्भ वेदों के चक्षु स्वरूप ज्योतिषशास्त्र है। ज्योतिषशास्त्र में सृष्ट्यादि से लेकर प्रलय पर्यन्त काल की गणना की गई है। ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्त ग्रन्थों में कालमानाध्याय में कहा गया है

कि सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा का दिन प्रारम्भ होने पर हुई। अर्थात् ब्रह्मा का कल्प तुल्य दिन पूर्ण होने पर प्रलय होती है। तदनन्तर एक कल्प तुल्य रात्रि में वह विश्राम करते है। द्वितीय अहोरात्र प्रारम्भ होने पर वह संसार का निर्माण कार्य प्रारम्भ करते हैं।

इस प्रकार दो कल्प तुल्य ब्रह्मा का एक अहोरात्र होता है। एक कल्प में सन्धि सहित 14 मनु होते हैं। प्रत्येक मनु में 71 महायुग होते हैं। एक महायुग का मान 12000 दिव्य वर्ष होता है। दिव्य वर्ष देवताओं से सम्बन्धित वर्ष होता है जिसमें 360, देवताओं के दिन होते हैं। देवताओं के एक दिन में 360 सौरदिन होते हैं। सूर्य का एक अंश तुल्य भोगकाल एक सौर दिन कहलाता है तथा 360 सौर दिन का एक सौरवर्ष जो देवताओं का एक दिन दिन अथवा दिव्यदिन है।

एक महायुग में कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग नामक चारयुग सन्धि सहित होते हैं। चार हजार दिव्य वर्ष का एक कृतयुग कहा है। इस युग की जितने दिव्य वर्ष की अर्थात् 400 वर्ष की सन्ध्या होती है और उतने ही वर्षों की अर्थात् 400 वर्षों का सन्ध्यांश का समय होता है अर्थात् कृतयुग का कुल मान 4800 दिव्यवर्ष है। त्रेता युग का मान 3000 दिव्यवर्ष तथा 300 वर्ष की संध्या 300 वर्ष सन्ध्यांश कुल मान 3600 दिव्यवर्ष है। द्वापर युग का मान 2000 दिव्यवर्ष, 200 दिव्यवर्ष सन्धि एवं 200 दिव्यवर्ष संध्यांश कुल मान 2400 दिव्य वर्ष तथा कलियुग का मान 1000 दिव्यवर्ष, सन्धि-संध्यांश 200 वर्ष कुल मान 1200 वर्ष है। इस प्रकार कुल मान 4800+3600+2400+1200=12000 दिव्यवर्ष एक महायुग का मान होता है।

देव युगों को 1000 से गुण करने पर जो काल परिणाम निकलता है, वह ब्रह्मा का एक दिन और उतने ही वर्षों की एक रात समझना चाहिए। यह ध्यान रहे कि एक देव वर्ष 360 मानव वर्षों के बराबर होता है। जो लोग उस एक हजार दिव्य युगों के परमात्मा के पवित्र दिन को और उतने की युगों की परमात्मा की रात्रि समझते हैं, वे ही वास्तव में दिन-रात = सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय काल के विज्ञान के वेत्ता लोग हैं। इस आधार की सृष्टि की आयु = 12000 ×1000 देव वर्ष = 12000000 देव वर्ष 12000000×360 = 4320000000 मानव सौरवर्ष। अतः 12000000 देव वर्ष = 4320000000 मानव वर्ष पहले जो बारह हजार दिव्य वर्षों का एक दैव युग कहा है, इससे 71 (इकहत्तर) गुणित अर्थात् 12000×71 = 852000 दिव्य वर्षों का अथवा 852000×360= 306720000 वर्षों का एक मन्वन्तर का काल परिणाम गिना गया है। इस प्रकार वह महान् परमात्मा असंख्य मन्वन्तरों को, सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय को बार-बार करता रहता है, अर्थात् सृष्टि संरचना प्रवाह से अनादि है। उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 4320000000 सौरवर्ष पूर्व ब्रह्मा का दिन प्रारम्भ हुआ तथा सृष्टि की रचना का कार्य प्रारम्भ हुआ।

सृष्टि की रचना का प्रारम्भ कब हुआ ? इस विषय पर विचार करने के पश्चात इस विषय पर विचार करना आवश्यक है कि सृष्टि में मानव की उत्पत्ति कब हुई। सूर्यसिद्धान्त में इस विषय पर विचार किया गया है। समस्त वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि के रचयिता परब्रह्म हैं। वैदिक वाङ्मय में परब्रह्म को ही प्रजापति, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, विराट पुरुष आदि के नाम से सम्बोधित किया गया है। वेदाङ्ग-ज्योतिषशास्त्र के आर्षग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त के कालमानाध्याय में वर्णन सृष्टि काल के विषय इस प्रकार से वर्णन आया है – **'ग्रहर्क्ष-देव-दैत्यादि सृजतोऽस्य चराचरम्। कृताद्रिवेदा दिव्याब्दाः शतघ्ना वेधसो गताः'।** अर्थात् ग्रह, नक्षत्र, देव, दैत्य आदि

चर (जंगम जीव-जन्तु) अचर (स्थावर वृक्ष पर्वतादि) की रचना करने में ब्रह्मा को कल्पारम्भ से शत गुणित 474 दिव्य वर्ष अर्थात् 474×100 = 47400 दिव्य वर्ष बीत गए। एक दिव्यवर्ष में होते हैं अर्थात 47400 × 360 = 17064000 सौर वर्ष। तथा 4320000000-17064000 = 4302936000 सौरवर्ष। उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि सूर्यसिद्धान्त के काल से 4320000000 सौर वर्ष पूर्व सृष्टि की रचना प्रारम्भ हुई तथा 4302936000 सौरवर्ष पूर्व सृष्टि की सम्पूर्ण गतिविधियों का प्रारम्भ हुआ। अर्थात ग्रह, नक्षत्रों ने चलना प्रारम्भ किया तथा पृथ्वी पर चराचर का प्रारम्भ हुआ।

वैदिक साहित्य के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया का उद्देश्य—

सृष्टि संरचना के स्वरूप को लेकर सर्वप्रथम यह विचार उत्पन्न होता है कि यह दृश्यमान जगत् कहाँ से आया ? इसको लाने वाला कौन है ? इसका निर्माणकर्ता कौन है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। इसका समाधान क्या है? यह सृष्टि संरचना का स्वरूप -क्रम अनन्त है और इसकी जिज्ञासाएँ भी अनन्त हैं। इस विषय से सम्बन्धित जिज्ञासाएँ वेदों में अनेक स्थानों पर दृष्टिगोचर होती हैं। विश्वकर्मा सूक्त में "किंस्विद्वनङ्कऽउसवृक्षआस यतोद्यावापृथिवीनिष्टतक्षुः" जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा गया है कि वह कौन सा वन है तथा वन का कौन सा वृक्ष है जहाँ से आकाश तथा पृथ्वी को बनाया। इसी प्रकार ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि संरचना के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है। यथा –

नासदासीन्नो सदासात्तदानीं नासीद्रजो नोव्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नंभः किमासीद् गहनंगभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
अनीद वातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पर किं च नास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदं।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकं॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥

अर्थात् सृष्टि की संरचना से पहले उस समय वह ब्रह्म तत्व ही केवल प्राण युक्त, क्रिया से शून्य और माया के साथ जुड़ा हुआ एक रूप में विराजमान था, उस माया सहित ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं था और उससे परे भी कुछ तत्व नहीं था। शतपथ ब्राह्मण (6/11/1/6) में सृष्टि संरचना के संदर्भ में वर्णन प्राप्त होता है कि पूर्व काल में सलिल ही था उन जलों ने प्रजा की कामना से तप किया तब उनमें हिरण्मयाण्ड उत्पन्न हुआ, तथा उससे प्रजापति उत्पन्न हुए। सभूरिति व्याहरत् सेयं पृथिव्यभवद्भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत् स्वरिति सासौ द्यौरभवत् । अर्थात् प्रजापति ने भू शब्द के उच्चारण के द्वारा भू लोक भुवः शब्द से अन्तरिक्ष लोक तथा स्वः शब्द के द्वारा दिव लोक अर्थात् स्वर्गादि लोकों कि संरचना की। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में 16 मन्त्रों में सृष्टि संरचना के स्वरूप का कारण विराट पुरुष को बताया गया है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतोवृत्वात्त्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥
पुरुष एवेदं सर्वं यत् भूतम् यच्च भव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदह्नेना तिरोहति॥
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना ऽ अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिनशाखीय वेददीप भाष्यकार आचार्य महीधर कहते हैं-

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो हस्त उत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां नमति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥

अर्थात् अकेले ही बिना किसी के सहयोग से विश्वकर्मा देव ने द्युलोक एवं भूलोक को बाहुरूपी धर्म और अधर्म के द्वारा तथा पतनशील पञ्चभूतों के उपादान कारण के द्वारा समस्त जीवों की रचना करते हैं वह विश्वकर्मा सब तरफ से चक्षु-मुख भुजा एवं पद वाले हैं। ऋग्वेद के 81 एवं 82वें विश्वकर्मा सूक्त में विश्वकर्मा को सृष्टि संरचना के स्वरूप का कल्पयिता माना गया है। विश्वकर्मा ने सर्वप्रथम जल को उत्पन्न किया तत्पश्चात जल में इधर-उधर चलने वाली द्यावापृथ्वी की रचना की। द्यावापृथ्वी के प्राचीन तथा अन्त्य प्रदेशों को विश्वकर्मा ने सुदृढ किया। द्वितीय मन्त्र में कहा गया है कि, विश्वकर्मा बृहत् हैं तथा वो सब जानते हैं तथा सब कुछ देखते है। 82वे सूक्त में विश्वकर्मा का सर्वोच्चशक्ति के रूप में वर्णन किया गया है। हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति से सृष्टिसंरचना का स्वरूप इस प्रकार किया गया है।—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकासीत् ।
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवायहविषा विधेम ॥
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्यदेवाः ।
यस्य छायामृतं यस्य मर्त्युः कस्मै देवायहविषा विधेम ॥

सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व वह हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही सभी प्राणियों का एकमात्र स्वामी हुआ, उसने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया। जो हिरण्यगर्भ आत्म बल और भौतिक शारीरिक बल देने वाला है, अमृतत्व और मृत्युत्व छाया के समान जिसके वशवर्ती हैं जो अपनी महिमा से अकेले ही श्वास लेते हुए तथा पलक झपकाते हुए विश्व का स्वामी हो गया, जो इस दो पैरों वाले मनुष्य तथा चार पैरों वाले गाय, घोड़ा आदि पशुओं का स्वामी हुआ। जिसकी महिमा से ये पर्वत हैं, नदियों के साथ समुद्र भी जिसकी महती महिमा का यशो गान करते हैं, ये प्रधान दिशायें (पूर्व आदि चार दिशायें) और बाहु के समान कोण दिशायें (आग्नेय आदि चार कोण दिशायें) जिसकी महिमा को कहते हैं, हिरण्यगर्भ प्रजापति ने ही द्युलोक को ऊपर उठाया हुआ है और पृथिवी को स्थिर किया है, जिसने स्वर्ग लोक को ऊपर थामा हुआ है और सूर्य को ऊपर अन्तरिक्ष में थामा है, जो आकाश में जलों को बनाने वाला है। संसार की रक्षा करने के हेतु से निर्माण करने के लिए स्थिर किये गये और प्रकाशमान होते हुये द्युलोक और पृथिवी लोक को वह अपने मन से देखता है, उस प्रजापति को आधार बना कर सूर्य उदय होकर प्रकाशित होता है। जब प्रजापति रूप गर्भ को धारण करती हुई तथा

अग्नि को उत्पन्न करती हुई विशाल जलराशि विश्व में संरचित हुई, तब देवताओं का एक प्राणभूत वायु की संरचना हुई।

ब्रह्मा से सृष्टिसंरचना का स्वरूप ।—

वेदों के अनुसार ब्रह्म सृष्टि के रचयिता हैं। ऋग्वेद के सूक्तों में वर्णन किया गया है कि सृष्टि के आदि में न सत् था और न असत् था, न आकाश था, न वायुमण्डल था और न दिन-रात थे। केवल ब्रह्म की ही सत्ता थी। ब्रह्म को किसी ने उत्पन्न नहीं किया, वह स्वयं उद्भूत (स्वयं उत्पन्न) है। ब्रह्म अनादि है। ब्रह्म में स्वयं संकल्प शक्ति होती है। ब्रह्म ने सृष्टि के सृजन का संकल्प किया। उनका यह संकल्प ही जाज्वल्यमान तप था, जो चतुर्दिक् व्याप्त था। उस महाज्योति परमतत्त्व से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। यथा-**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः।।** अर्थात् उस जाज्वल्यमान परमतेज से ऋतं (ज्ञान) तथा सत्य की संरचना हुई। उन परमाणुओं के स्थूल होने पर पदार्थ की संरचना हुई। दिनरात्रि की रचना हुई तथा जल से परिपूर्ण समुद्र की सृष्टि संरचना हुई। इस प्रकार सृष्टि संरचना के स्वरूप का प्रारम्भ हुआ। ब्रह्म से की संकल्पना का वर्णन अन्य उपनिषदों, पुराणों तथा दर्शन शास्त्रादि में भी प्राप्त होता है।

लघूत्तरीय प्रश्न —

1.ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में जगत की सृष्टि कारण किसे बताया गया है।

2.विराट पुरुष के किन अंगों से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय उत्पन्न हुए।

3.विश्वकर्मा ने सर्वथम किस को उत्पन्न किया

4.हिरण्यगर्भ कौन-सा बल देने वाला है,

5.ब्रह्म का संकल्प कैसा था।

पौराणिक सृष्टि प्रक्रिया—

सृष्टि संरचना में पुराणों का विशिष्ट स्थान है। प्रायः सभी पुराणों में सृष्टि संरचना का स्वरूप वर्णन प्राप्त होता है।–

1. मत्स्य पुराण के अनुसार भी महाप्रलय व्यतीत होने के अनन्तर समस्त जगत् की स्थिति अन्धकार में घने तम से आच्छन्न थी, यथा - अन्धकार में सोए हुए चर वा अचर वस्तु की भाँति न तो पता लगने योग्य, न पहचानने योग्य और न ही कहीं कोई वस्तु जानने योग्य थी। निराकार, इन्द्रियों से परे, सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म, महान् से अत्यधिक महत्ता और अविनाशी अर्थात् अविनाश सत्ता वाले, जगत् में नारायण नाम से प्रसिद्ध, इस महाप्रलय के अनन्तर संसार में पुण्य कर्म के प्रभाव से घने तम का विनाश करते हुए चराचर जगत् के उत्पत्ति कारक स्वयं प्रादुर्भूत हुए।

2. विष्णु पुराणमें पराशर जी कहते हैं कि इस सृष्टि संरचना का मूल कारण विष्णु हैं।

3. पद्मपुराण के अनुसार जगत् के प्रलयके पूर्व कुछ भी नहीं था। सब कुछ करने वाली ब्रह्मसंज्ञक एक ज्योति नित्यमाया रहित, शान्तनिर्मल, नित्यनिर्मल आनन्दसागर अर्थात् आनन्द से पूर्णतः परिपूर्ण तथा नितान्त स्वच्छ थी जिसकी मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष सदा इच्छा किया करते हैं। वह ज्योतिर्ब्रह्म सर्वज्ञ है, ज्ञान स्वरूप वाला है तथा वही सृष्टिका मूल कारण है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी वर्णित है कि विश्व का अधिष्ठाता विराट् स्वरूप वाला स्थूल से भी स्थूलतम को धारण करने वाला

है। महत्तत्त्व आदि रूप वाला सृजन की ओर उन्मुख होता हुआ अपनी ही कला द्वारा हृदय में नित्य सूक्ष्म को एकचित्त करके सृजन करने वाला परब्रह्म है।

4. विष्णु पुराणके सदृश ही गरुड पुराण में भी जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय- इन तीनों कार्यों को भगवान विष्णु की पुरातनी क्रीडा कहा है। नर, नारायण, वासुदेव, निरंजन परमात्मा तथा परब्रह्म भी भगवान विष्णु ही है। इस जगत् के जन्म, पालन और प्रलयादि के कारण भी वे ही हैं। वही व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप वाले हैं तथा पुरुष और काल रूप से अवस्थित है। व्यक्त विष्णु स्वरूप है तथा पुरुष तथा काल इन्हीं का अव्यक्त रूप है।

5. नारदीय पुराण द्वारा भी समस्त जगत् उसी नारायण में व्याप्त है। नारायण ही परम-तत्त्व अथवा परमब्रह्म का स्वरूप है। नारायण अविनाशी अनन्त एवं सर्वव्यापी है। महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित श्री मद्भागवत पुराण वैष्णव पुराणों में एक अद्वितीय महनीयता से मण्डित है श्रीमद् भागवत के अनुसार उस परम पुरुष परमात्मा ने काल रूपी निमित्त कारण को लेकर क्रीडा के लिए अपने को ही विश्वरूप में सृजन किया है। इसके पूर्व विष्णु माया ने इस विश्व का संहार कर दिया था और विश्व की तन्मात्रा ब्रह्म के स्वरूप में लीन हो गई थी उसी को उन अव्यक्त मूर्ति वाले नारायण ने काल को निमित्त बनाकर पुनः प्रकाशित कर दिया। यह विश्व जैसा इस समय है वैसा ही इसके पहले था और आगे भी ऐसा ही रहेगा इसमें प्राकृत अर्थात प्रकृति से उत्पन्न होने वाला 6 और विकृति से उत्पन्न मनुष्य आदि जीव कुल नौ प्रकार की सृष्टि होती है। दसवीं सृष्टि में वह परम पुरुष स्वयं रहता है। काल द्रव्य और गुण इन तीनों से तीन प्रकार का प्रलय भी होता है। ऊपर जो 9 प्रकार की सृष्टि बतला कर आए हैं उनमें से पहली सृष्टि उस परम पुरुष द्वारा गुणोंकी विद्यमान महत्तत्त्व लक्षणात्मकसे होती है दूसरी सृष्टि अहंकारसे होती है जिससे द्रव्य ज्ञान और क्रियाकी उत्पत्ति हुआ करती है तीसरी सृष्टि में वायु आदि सूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं। यह सृष्टि द्रव्यशक्तिमती है, और इनमें पंचमहाभूत जायमान होते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ सृष्टि में ज्ञान क्रियात्मक इंद्रियों की उत्पत्ति होती है। पंचम सृष्टि वैकारिक, ज्ञान शक्ति संपन्न और इंद्रियों के अधिष्ठाता देवताओंकी उत्पत्ति होती है। छठी सृष्टि से अंधकार उठता है जो अज्ञान का जन्मदाता है। यह छह प्रकार की प्राकृत सृष्टिओं का वर्णन किया। अब वैकृतसृष्टि वर्णन करते हैं, ऊपर जो सृष्टि बताई गई हैं वह सब भगवानकी रजोगुण लीला रूप वाली है। सातवीं मुख्य सृष्टि छह प्रकार के वृक्षों की उत्पत्ति होती है, जैसे- वनस्पति अर्थात् बिना फूल के फल देने वाले वृक्ष जैसे गूलर आदि औषधि, बोए जाने पर पके फल देकर समाप्त हो जाने वाले धान आदि, लता किसी के सहारे ऊपर चढ़ने वाली। सार-सार त्वक् अर्थात् जिनके छिलके में ही तत्व रहता है जैसे- बांस-बेत आदि। वीरुध यह भी लता के समान होती है किंतु इसे ऊपर चढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, जैसे- जूही आदि। और द्रुम जो फूलने के बाद फले जैसे आम अमरूद आदि। ये छहों प्रकार के वृक्ष पृथ्वी के भीतर से अपना आहार ऊपर को खींचते हैं इनमें चेतना शक्ति नहीं दिखती इनके भीतर स्पर्श शक्ति प्रबल होती है। और देश काल की अवस्थाके अनुसार इनमें विविध प्रकार के परिणाम भी लक्षित होते हैं। आठवीं सृष्टिसे तिर्यग्- पक्षी योनि के जीवों की उत्पत्ति होती है जिनके कुल 28 भेद होते हैं। जैसे अविद अर्थात् स्तनादि ज्ञान शून्य। भूरि तमस अर्थात् केवल अपने आदर की जानकारी रखने वाले। घ्राणज्ञ अर्थात् नाकसे सूंघ कर समझने वाले। हृदि अवेदि अर्थात् विशेष अनुसंधान करने में असमर्थ। गो, बकरी, भैंस, हिरण, गवय और रुरु अर्थात् मृग विशेष। भेड़ा भेड़ी

और यह 9 प्रकार के पशु दो खुर वाले होते हैं गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर और चमरी यह 6 पशु एक खुर वाले हैं। अब 5 नख वाले पशुओंके नाम जानें कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरहा, शल्लक- सेही सिंह, बंदर, हाथी, कछुआ और मगर आदि जन्तु तथा कंक अर्थात् कड़ाकुल, गिद्ध, बटेर, बाज, भास, भालू, मोर, हंस, सारस, चकवा,कौवा और उल्लू आदि पशु पंछी पंचनख वाले हैं। ऊपर गिनाए मगर आदि जंतु और कंक आदि पक्षी सब मिलाकर 28 प्रकार के तिर्यग् योनि के जंतु होते हैं। उल्टे सोने वाले मनुष्यों की नवीं सृष्टि मानी गई है यह मनुष्य अधिक रजोगुणात्मक तथा कर्मशील हैं और दुख को भी सुख मानते हैं यह तीनों ही सृष्टियाँ वैकृत हैं। देवताओं की सृष्टि भी वैकृत सृष्टि के ही अंतर्गत है किंतु सनत्कुमार आदि की सृष्टि उभयात्मक प्राकृत तथा वैकृतात्मक है क्योंकि यह देवता और मनुष्य दोनों ही नाम से प्रसिद्ध हैं। देव सृष्टि आठ प्रकार की है। जैसे- देव, पितर, असुर, गंधर्व, अप्सरा, यक्ष,राक्षस,चारण, भूत, प्रेत, पिशाच, सिद्ध, विद्याधर और किंपुरुष आदि ब्रह्माजी की सृष्टि के यह 10 भेद हैं। यह वर्णन श्रीमद्भागवतके तृतीयस्कन्ध के दशमाध्यायमें प्राप्त होता है। ब्रह्मा ने सनक, सनंदन, सनातन और सनत कुमार इन 4 ऋषियों को उत्पन्न किया यह सभी पूर्ण ब्रह्मचारी थे। उन्हें उत्पन्न करने के बाद ब्रह्माने उन सब से सृष्टि संरचना हेतु कहा लेकिन उनकी अनिच्छा प्रकट हुई तब ब्रह्माजीने अपनी अवहेलना समझ कर मन को यद्यपि शांत किया लेकिन क्रोध आने के कारण उनके भ्रू के मध्य भागसे नील लोहित के रूप में देवताओं के पूर्वज अर्थात् भगवान शिव प्रकट हुए। जन्म लेते ही बच्चों की तरह उद्वेग के साथ रोनेके कारण उनका नाम रुद्र कहा। हृदय, इंद्रियां, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चंद्रमा तथा तप। इनके रहने के स्थान बने। रुद्र के सिवाय इनके 11 नाम हैं मन्यु, मनु, महिनस,महान,शिव,क्रतुध्वज,उग्ररेता,भव,काल,वामदेव और धृतव्रत। तथा इनकी संगिनी धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत्सर्पि,इला, अंबिका, इरावती, सुधा, दीक्षा, और रुद्राणी यह 11 रुद्र शक्तियां हुईं। ब्रह्मा के बताए नाम, स्थान और स्त्रियों को अंगीकार करके बहुत सी प्रजाओं की सृष्टिके लिए ब्रह्माने आज्ञा दी हे रुद्र आप प्रजापति हो सृष्टि संरचना करो। ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर रुद्र भगवानने अपने समान बलवान आकृतिमान नील लोहित तत्वको लिए हुए तीक्ष्ण स्वभाव की संतानों को उत्पन्न किया। ब्रह्माजी फिर सृष्टि करने का विचार करने लगे और उनके शरीरसे 10 पुत्र उत्पन्न हुए। मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, दक्ष और नारद इनमें ब्रह्माजी की गोदसे नारद अंगूठेसे दक्ष प्रजापति श्वास से वशिष्ठ त्वचासे भृगु हाथ से क्रतु नाभि से पुलह कानोंसे पुलस्त्य ऋषि मुखसे अंगिरा नेत्रों से अत्रि और मन से मरीचि उत्पन्न हुए। ब्रह्माजी के दाहिने स्तनसे धर्म उत्पन्न हुआ जिसमें नारायण का निवास रहता है उनकी पीठसे अधर्म की उत्पत्ति हुई और अधर्मसे संसारको भयभीत करने वाली मृत्युका जन्म हुआ। ब्रह्माजी के हृदयसे कामदेव भौहोंसे क्रोध निचले ओठ से लोभ मुख से वाणी लिंग से समुद्र और गुदा से पापों के केंद्र राक्षस उत्पन्न हुए। उन चतुरानन की छाया से कर्दम प्रजापति उत्पन्न हुए जो देवहूतिके पति थे उनके मन और उनकी देह से समस्त विश्व उत्पन्न हुआ। ब्रह्माजी के पूर्व मुख से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, तथा शस्त्र होता के द्वारा किए जाने वाले कार्य, अध्वर्यु के कर्तव्य कर्म, स्तुति योग्य ऋचाओं का समुदाय, उद्गाता के गाने योग्य मंत्रों तथा प्रायश्चितात्मक ब्रह्म कर्म उत्पन्न हुए उनके दक्षिण मुखसे आयुर्वेद अर्थात् चिकित्सा शास्त्र धनुर्वेद अर्थात आयुधविद्या, गांधर्वविद्या और स्थापत्य- विश्वकर्मा का शास्त्र उत्पन्न हुआ।

इतिहास महाभारत पंचम वेद माना जाता है। उसे और पुराणोंको ब्रह्माजी ने अपनी चारों मुखों से उत्पन्न किया। इसी प्रकार उनके पूर्व मुखसे षोडशी और उक्थ, दक्षिण मुखसे पुरीषी अर्थात् नयन तथा अग्निष्टोम, पश्चिम मुख्य से आप्तोर्याम तथा अतिरात्र और उत्तर मुख से वाजपेय तथा गोसव नाम के यज्ञ विशेष उत्पन्न हुए। इसी प्रकार ब्रह्मा जी ने अपने पूर्व आदि में पहुंचे क्रमशः पूर्वादि चारों मुख से विद्या अर्थात शुचिता, दान, दया, तप एवं सत्य धर्म के इन चार चरणों तथा ब्रम्हचर्य का गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और सन्यास वृत्तियों समेत इन चार आश्रमों को उत्पन्न किया इसके बाद उन्होंने अपने पूर्व आदि मुखों से चार प्रकार का ब्रम्हचर्य जैसे सावित्र उपनयन के दिनों से 3 दिन तक गायत्री अध्ययन के लिए 3 दिन का अनुष्ठान प्राजापत्य अर्थात् 1 वर्ष तक वेदाध्ययन पूर्वक रखा जाने वाला ब्रह्मचर्य व्रत ब्राह्म अर्थात् वेदाध्ययन काल तक किया जाने वाला ब्रह्मचर्य व्रत और **वृहद्** आजन्म पालन किया जाने वाला। ब्रम्हचर्य व्रत और चार प्रकार की गृहस्थी वृत्ति हैं **वार्ता** अर्थात् शास्त्रोक्त कृषि आदि जीविका के कार्य **संचय** अर्थात् यज्ञादि कराने का कार्य **शालीन** अर्थात् अयाचितवृत्ति **शिलोञ्छ** अर्थात् फसल कटने के बाद खेत में गिरे हुए दानों को चुनना यह वृत्तियाँ उत्पन्न हुई। इसी प्रकार वानप्रस्थ वृत्ति में चार भेद हैं, **वैखानस** अर्थात् बिना जोती-बोई भूमि से उपजे अन्न पर जीवन निर्वाह करने वाले, **बालखिल्य** अर्थात् नवीन अन्न प्राप्त होने पर पूर्व संचित अन्न को त्याग देने वाले। **औदुंबर** अर्थात् सवेरे जिस दिशा पर दृष्टि पड़े उधर ही से अन्न या फल मूल लाकर जीवन यापन करने वाले। **फेनप** अर्थात् अपने आप गिरे हुए फल आदि पर जीविका चलाने वाले। इसी प्रकार चार सन्यास वृत्तियां भी ब्रह्मा जी के चारों मुख से उत्पन्न हुई हैं- जैसे **कुटीचक** अर्थात् कुटी बनाकर एक स्थल पर रहना तथा आश्रम कर्म को प्रधान मानकर तदनुसार आचरण करने वाले। **बह्वोद** अर्थात् कर्म की अपेक्षा ज्ञान को प्रधान मानने वाले। **हंस** अर्थात् ज्ञान के अभ्यास में तत्पर। और **परमहंस** (निष्क्रिय) अर्थात् तत्व ज्ञान प्राप्त किए हुए जीवनमुक्त ज्ञानी। इसी तरह ब्रह्मा जी के मुख से **आन्वीक्षिकी-** आध्यात्मिक शास्त्र अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाली आत्मविद्या। **त्रयी** अर्थात् स्वर्ग आदि फल देने और धर्म अर्थ तथा काम को पूर्ण करने वाली कर्म विद्या। **वार्ता** अर्थात् जीविका-व्यापारादि संपादन करने वाली विद्या। **दंडनीति** शासन कार्य को बताने वाली विद्या, तथा चार महाव्याहृतियाँ भूः भुवः स्वः महः आदि उत्पन्न हुई, इसी प्रकार ब्रह्मा जी के हृदय रूपी आकाश से प्रणव अर्थात् ॐकार उनके रोमों से उष्णिक्, त्वचा से गायत्री, मांस से त्रिष्टुप्, स्नायु से अनुष्टुप्, अस्थियों से जगती, मज्जा से पंक्ति, और प्राणों से बृहती नाम के छंद की संरचना हुई। इसी रीति से ब्रह्मा के जीव से ककार से मकार पर्यन्त स्पर्श संज्ञक वर्ण, देह से स्वर वर्ण अकारादि, उनकी इंद्रियों से श ष स ह उष्म संज्ञक वर्ण और उनके बल से य र ल व यह अंतस्थ व्यंजन उत्पन्न हुए, उन प्रजापति के विहार से निषाद, ऋषभ, गांधार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पञ्चम आदि सात संगीत स्वर उत्पन्न हुए, उस व्यक्त और अव्यक्त ब्रह्मा की शब्द मूर्ति का यह क्रम बताया। वैखरी रूप से व्यक्त और प्रणव रूप से अव्यक्त उन ब्रह्मा जी को उस परिपूर्ण तथा सर्वशक्तिमान ब्रह्म का बोध बना रहता है, उन्होंने जिन महा शक्तिमान मरीचि वशिष्ठ आदि ऋषियों की सृष्टिकी थी वह सृष्टि का विस्तार नहीं कर सके उन्होंने सोचा कि यद्यपि मैं नित्य सृष्टिके विस्तार की चेष्टा करता रहता हूं, फिर भी संतोषजनक विस्तार नहीं होता यह प्रजा तो नहीं बढ़ रही है इसमें देव बाधा है देव के विषय में वे इस प्रकार सोच ही रहे थे—

कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभिचक्षते ।ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥
यस्तु तत्र पुमान्सोऽभूत् मनुः स्वायम्भुवः स्वराट् । स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः ॥
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे ।स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत् ॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत ।आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम ॥
आकूतिं रुचये प्रादात् कर्दमाय तु मध्यमाम् ।दक्षायादात्प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत् ॥

उसी समय ब्रह्माजी का शरीर दो भागोंमें विभक्त हो गया और उन दोनों भागोंमें से एक स्त्री और एक पुरुष इनका जोड़ा उत्पन्न हो गया, उनमें पुरुष स्वयंभू मनु और स्त्री उनकी रानी शतरूपा हुई। अब इनके द्वारा प्रजा बढ़ने लगी स्वयंभू मनुने शतरूपा से 5 संतान उत्पन्न की जिनमें दो पुत्र और 3 कन्याएं थी, पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद पुत्रियां आकूति देवहूति और प्रसूति स्वयंभू मनुने आकूति का मरीचि प्रजापति देवहूति का कर्दम प्रजापति और प्रसूति का दक्ष प्रजापति के साथ विवाह कर दिया जिनकी उत्पन्न की हुई संतानों से सारे संसार की संरचना हुई।

परम पुरुष की आधीनता में रहने वाले काल से गुणों में भेद उत्पन्न हुआ उनके स्वभाव से परिणाम एक रूप का त्याग कर रूपांतर प्राप्त करना और जीव के अदृश्य कर्मों से महत् तत्त्व की उत्पत्ति हुई महत् तत्व के विकार से और रजो गुण तथा सतोगुण की वृद्धि होती है और उससे तमोगुण प्रधान द्रव्य क्रियात्मक सृष्टि होती है उसी वस्तु को अहंकार कहते हैं उस अहंकार के तीन भेद हैं विकारी का तेजस राजस तमस उन तीनों में तीन प्रकार की शक्तियां अंतर्हित रहती हैं जैसे द्रव्य शक्ति क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति द्रव्य शक्ति पृथ्वी जल आदि पांच महा भूतों का संचालन करती है क्रिया शक्ति इंद्रियों पर प्रभुत्व रखती है और ज्ञान शक्ति प्राणियों को देवताओं की ओर ले जाती है। उनमें से तामस अहंकार के विकार से आकाश की सृष्टि हुई आकाश का मात्रा गुण शब्द है वही शब्द द्रष्टा और दृश्य का लक्षण बताता है। आगे चलकर आकाश के विकार से स्पर्श गुण युक्त वायु की उत्पत्ति हुई। आकाश के सहयोग से वायु में शब्द वही प्राण और तेज युक्त बल के लक्षणों से लक्षित होने लगा फिर वायु के विकार और काल कर्म तथा स्वभाव से रूपवान् तथा शब्द और स्पर्श को नियुक्त तेज की उत्पत्ति हुई तेज के विकार से जल की उत्पत्ति हुई। वह जल आकाश आदि के संयोग से रूप स्पर्श और शब्द गुण संपन्न हुआ। उस जल के विकार से गंधवती पृथ्वी उत्पन्न हुई आकाश आदि के संसर्ग से इसमें रस स्पर्श और रूप यह गुण आए वही कार्य विकार वाले सात्विक अहंकार से मन तथा 10 विकार वाले देवता उत्पन्न हुए जैसे दिशा, वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनी कुमार यह पांचो क्रमशः कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका के स्वामी है। अग्नि इंद्र उपेंद्र मित्र तथा प्रजापति यह पांच क्रमशः वाणी हाथ-पांव गुदा और शिश्न के स्वामी हैं। तेज के विकार से दस इंद्रियां उत्पन्न हुई क्योंकि ज्ञान शक्ति अर्थात् बुद्धि और क्रिया शक्ति अर्थात् प्राण यह दोनों तेजस अहंकार के ही कार्य हैं इसी से ज्ञान क्रिया की विशेष रूप इंद्रियां भी तेजस अहंकार से सम रचित है ये इंद्रियां हैं जैसे कान, त्वचा, चक्षु, जीह्वा, घ्राण, वाक्, हाथ, पैर, गुदा और लिंग। भाव में अलग अलग रहकर शरीर की रचना नहीं कर सके तब भगवान की शक्ति से प्रेरित होकर सत् और असद् इन दोनों प्रधान गुणों के भाव एक में मिलकर समष्टि और व्यष्टि रूप दो प्रकार के शरीर बने तब हजारों वर्ष बाद जल में पड़े हुए अचेतन अण्ड को काल कर्म तथा स्वभाव की प्रधानता देकर परमात्मा ने जीवित किया उसके

बाद स्वयं परमात्मा उस अण्डे को फोड़कर बाहर निकला। उसके हजारों शिर, हजारों पैर, हजारों हाथ, हजारों आंखें, हजारों मुख और हजारों मस्तक से उसके बाद विद्वानों ने उसी के अंगों से सब लोकों की कल्पना की जांघ से नीचे पैर तक के अंगों से अतल से लेकर पाताल तक के सात लोकों तथा जांघ से ऊपर के अवयवों से पृथ्वी आदि सात लोकों की उत्पत्ति मानी गई, उस परम पुरुष के मुख से ब्राह्मण बाहू दंड से क्षत्रिय दोनों ऊरुओं से वैश्य और दोनों पांव से शुद्र उत्पन्न हुए उस परमात्मा के दोनों पांव से भूलोक, नाभि से भुवः लोक, हृदय से स्वर् लोक, वक्षः स्थल से महर् लोक, की रचना हुई उसकी ग्रीवा से जनोलोक, दोनों स्तनों से तपो लोक और मस्तकों से सत्य लोक की रचना हुई, उन लोगों की अपेक्षा ब्रह्म लोक अर्थात् वैकुंठ सनातन है इसका कभी भी विनाश नहीं होता उस परम पुरुष की कमर में अतल लोक, दोनों उरुओं में वितल लोक, दोनों घुटनों से सुतल लोक और जानुओं से तलाताल लोक की सृष्टि हुई। दोनों गुल्फों में महातल लोक, एड़ियों और पैरों में रसातल लोक और तलुओं में पाताल लोक समझना चाहिए। दुसरी अवधारणा में पैरों में भूलोक, नाभि में भुवः लोक और मस्तक में स्वर्ग लोक की कल्पना संरचित हुई। उस विराट् रूप धारी महापुरुषके मुखसे वचन और अग्नि त्वचा आदि अवयवों से गायत्री आदि छंद और सात धातु तथा उनकी जिह्वा से हव्य अर्थात देवताओं का अन्य कब लिया कब दिया पितरों के उपयुक्त अमृत देवता तथा पितरोंको अर्पण करके शेष बचा अन्य और सभी रसों की उत्पत्ति हुई उनकी घ्राण इंद्रिय से जगत के समस्त प्राणियों के प्राण सामान्य तथा विशेष प्रकार के गंध और दोनों अश्विनी कुमार उत्पन्न हुए। उनके नेत्रोंसे रूप तेज और सूर्य उत्पन्न हुए उनके कान दसों दिशाएं नक्षत्र आकाश और शब्द के जनक हुए। उनका शरीर सभी वस्तुओं के सारांश और सौंदर्य का केंद्र बना उनकी त्वचा स्पर्श वायु और सभी यज्ञोंका उत्पत्ति स्थान हुई उनके रोम तथा वृक्ष जाति के जनक हुए। जिनसे की यज्ञ के कार्य संपन्न होते हैं उनके केस मेघ के उनकी दाढ़ी मूछ बिजली के हाथ पैर के नाखून शिला और लोकों के जनक हुए। उनके हाथ सबका कल्याण करने वाले लोकपाल जन्मदाता हुए भगवान के विक्रम अर्थात् चलना फिरना से भूर् भुवा स्वाहा तीन लोक क्षेम अर्थात् पाए धन की रक्षा और शरण अर्थात् पैसे बचाने वाले का आश्रय हुआ उन नारायण के चरण सभी कामनाओं और वर्कर आधार हुए विराम भगवान का उपस्थ जल वीर्य सृष्टि में एक प्रजापति तथा संतान प्राप्ति के लिए किए जाने वाले सम्भोग से उत्पन्न आनंद का कारण हुआ उनकी गुदा यम मित्र मल त्याग हिंसा कल्याण और नरक का उत्पत्ति स्थान हुआ उन भगवान का पृष्ठ भाग पर आ जाए अधर्म और तमोगुण का आश्रय हुआ उनकी नारियां नदियों का आश्रय हुई और उनकी हड्डियां संसार के पर्वतों का आश्रय बनी उनका उधर अनादि प्रधान तथा समुद्रों और प्राणियों के मरण का उत्पत्ति स्थान हुआ उनका हृदय मन का जन्मदाता हुआ उन पर ब्रह्म की आत्मा धर्म हमारा और आपका सनकादिक को मारो शिव तत्व ज्ञान और सतोगुण का आश्रय हुई । ब्रह्मा नारद शिव तथा सनकारी मुनि देवता दित्य मनुष्य हाथी पक्षी मृत आदि वन जंतु सर्प गंधर्व अप्सरा यक्ष सोगन भूत गण सर्प पशु पितर सिद्ध विद्याधर चारण और वृक्ष आदि विविध प्रकार के जल स्थल तथा आकाश चारी ग्रह नक्षत्र विद्युत मेघादि यह सब और भूत भविष्य तथा वर्तमान नारायण के ही अधीन है उन्होंने अपने विशाल रूप से इस विश्व को घेर रखा है जैसे सूर्य मंडल अपने भीतर बाहर सब तरफ प्रकाश कहलाता है उसी तरह वह विराट पुरुष अपने आप को प्रकाशित करता हुआ जगत के सब प्राणियों तथा वस्तुओं को

प्रकाश पहुंचाता है वह विराट पुरुष मृत्यु और अन्य अर्थात कर्म फल को पार कर गया है इसलिए वह अमृत व मोक्ष रूप निजानंद अर्थात अभय इन दोनों का स्वामी है इसी कारण उसकी अलग नियम महिमा गाई जाती है जो लोग उसके अधीन रहते हैं उन्हें बंधन और मोक्ष दोनों ही समय-समय पर वह परम पुरुष प्रदान करता रहता है यह बताने के लिए पुरुष सूक्त के पादु से विश्वा भूटानी इस वैदिक मंत्र का अर्थ बताते हुए कहते हैं यह भूर लोग आदि सभी लोग और इसके निवासी उसके पांव में स्थित हैं और उसके 3 उसके शेष तीन पदों में अमृत क्षेम और अभय विद्यमान रहा करते हैं पूर्व कल्प में भी संतान ही निश्चित ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और यदि इनके आश्रम तीनों लोगों के बाहर थे और ब्रह्मचर्य व्रत हीन गृहस्थाश्रम ई त्रिलोकी के भीतर विद्यमान थे वह जगत पूज्य परमात्मा दक्षिण और उत्तर इन दोनों मार्गो पर चलता था दक्षिण मार्ग का तात्पर्य है अविद्या सर्वथमय कर्म है विद्या साधन और उपासना रूपी मार्ग है जिस पर चलने से सांसारिक भोगों की प्राप्ति होती है और इसी मार्ग विद्या से मोक्ष होता है वह परमात्मा इन दोनों मार्गों का पारंगत है उस परमात्मा से यह ब्रह्मांड उत्पन्न हुआ और उसी में प्रायः इंद्रिय और सतवादी तीनों गुणों से युक्त एक विराट पुरुष जायमान हुआ वही ईश्वर कहलाया वह ईश्वर उस विश्व अपने शरीर और अंड से भी आगे निकल गया। जैसे मंडल के मध्य में रहने वाला सूर्य अपनी किरणों से सर्वत्र प्रकाश पहुंचाता हुआ अंत में वह अपने मंडल और विश्व को लांग जाता है। मुनि लोगों के भी उसे तब जान पाते हैं जब उनकी दे इंद्रियां तथा मन शांत रहता है अशांत पुरुषके हृदय में भी यद्यपि उस महापुरुष की ज्योति जागती रहती है फिर भी दुष्टोंकी विविध तर्कना उनसे वह प्रकाश लुप्त हो जाता है उसका प्रथम अवतार पुरुष है काल स्वभाव सत और असद अर्थात कार्य कारणात्मिका प्रकृति यह उसकी शक्तियां है द्रव्य अर्थात महाभूत अहंकार सतवादी गुण इंद्रियां समझती शरीर तथा विराट स्वराज स्थावर और जंगम यह व्यष्टि शरीर ही उस परम पुरुषके कार्य है ब्रह्मा शिव विष्णु यह दक्ष आदि प्रजापति नारद आदि देवर्षि स्वर्ग लोकके पालक खग लोग पालक नवलोक पालक तल तथा पाताल लोक पालक गंधर्व विद्याधर और चरणोंके रक्षक यक्ष राक्षस और सर्प योगके पालक अथवा समस्त श्रेष्ठ ऋषि पितर दायित्व पति सिद्धोंके स्वामी तथा प्रेत पिशाच भूत कुष्मांड बृंगी आदि जल जंतु अमृत तथा पक्षियोंके अधिपति। यह उनकी विभूति हैं।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ 1॥
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि॥
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥ 2॥
यथा महान्ति भूतानि पूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ 3॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥ 4॥

श्री मद्भागवत पुराण स्पष्ट शब्दोंमें अद्वैत तत्त्वका प्रतिपादन करता है। इस पुराणके द्वितीय स्कन्धके नवम अध्यायका अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि परमतत्त्व ब्रह्माको चतुःश्लोकी भागवतका उपदेश करते हुए सृष्टि संरचनाके सम्बन्धमें भगवानके द्वारा ब्रह्माजीके लिए यह दिव्य ज्ञान प्रदान किया गया है कि सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही मैं विद्यमान था मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सुक्ष्म और न तो दोनों का

नियत पूर्ववर्ती कारण अज्ञान। जहां यह सृष्टि नहीं है वहां मैं ही मैं हूं, और सृष्टिके रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह भी मैं ही हूं। और जो कुछ शेष रहेगा वह भी वस्तुतः न होने पर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मा में दो चंद्रद्वयकी भाँति मिथ्या ही प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होने पर भी आकाश मंडलके नक्षत्रोंमें राहुकी भांति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, उसे मेरी माया समझना चाहिए। जैसे प्राणियोंके पंच भूत रचित छोटे बड़े शरीरोंमें आकाश आदि पंचमहाभूत उन शरीरोंके कार्य रूपसे निर्मित होने के कारण प्रवेश करते भी हैं और पहले से ही उन स्थानों और रूपोंमें कारण रूपसे विद्यमान रहनेके कारण प्रवेश नहीं भी करते वैसे ही उन प्राणियोंके शरीरकी दृष्टिसे मैं उनमें आत्माके रूपसे प्रवेश किए हुए हूं और आत्म दृष्टिसे अपने अतिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूं। यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं इस प्रकार नेति नेति निषेधकी पद्धतिसे और यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है इस अन्वय की पद्धतिसे यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरुप भगवान ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं वे वास्तविक तत्व हैं, जो आत्मा अथवा परमात्माका तत्व जानना चाहते हैं उन्हें केवल इतना ही जाने की आवश्यकता है

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. विष्णु पुराण के अनुसार सृष्टि संरचना के स्वरूप का मूल कारण कौन हैं -

(क) ब्रह्मा (ख) विष्णु

(ग) सूर्य (घ) महेश

2. ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार विश्व का अधिष्ठाता कौन है।

(क) परब्रह्मा (ख) विष्णु

(ग) सूर्य (घ) महेश

3. गरूड़ पुराण में भी जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय- इन तीनों कार्यो को किसकी की पुरातनी क्रीडा कहा है।

(क) परब्रह्मा (ख) विष्णु

(ग) सूर्य (घ) महेश

4. मत्स्य पुराण के अनुसार चराचर जगत् के उत्पत्ति कारक स्वरूप कौन प्रादुर्भूत हुए-

(क) परब्रह्मा (ख) विष्णु

(ग) सूर्य (घ) नारायण

5 श्री मद्भागवत पुराण स्पष्ट शब्दों में किस तत्त्व का प्रतिपादन करता है -

(क) द्वैत (ख) अद्वैत

(ग) विशिष्टाद्वैत (घ) महाद्वैत

दर्शन के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया का उद्देश्य—

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, तथा विनाश आदि से सम्बन्धित इस विधान की व्याख्या करना ही सृष्टि प्रक्रिया का उद्देश्य है । प्रत्येक दर्शन ने अपनी बौद्धिक सामार्थ्यानुसार इस जटिल प्रश्न पर विचार करने का प्रयास किया है । इसमें वेदान्त का प्रयास अन्य की अपेक्षा अधिक सराहनीय है ।उन्होने सृष्टि समस्या पर सूक्ष्म चिन्तन तथा गहन विमर्श द्वारा इस विश्व के निर्माण तथा विनाश का एक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक विधान प्रस्तुत किया है ।

वेदान्त सम्मत सृष्टि प्रक्रिया— सृष्टि विकास के सम्बन्ध में वेदान्त ने कुछ पृथ्क मार्ग अपनाया है। उसके अनुसार प्रतिक्षण परिणामों एवं सुव्यवस्थित व्यवस्था वाला जगत् अचेतन परमाणु अथवा जड़ प्रकृति का कार्य नहीं हो सकता। ऐसी सुचारू व्यवस्था तो किसी चेतन विवेक द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है, अत: वेदान्ती सांख्यमत के विपरीत सृष्टि का एकमात्र चेतन ब्रह्म को बताते है। **'अस्य जगतो जन्मस्थितिभग: यत: सर्वगत: सर्वशक्ति - कारणाद भवति तद् ब्रह्म' ।।** जैसा कि कठोपनिषद में इस जगत् की उपमा एक वृक्ष से देकर वृक्ष का मूल उपर तथा शाखायें अधोमुखी बताई गई है। सृष्टि समस्या का समाधान कारण कार्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार वेदान्त ब्रह्म जो जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही बतलाया है। एक ही तत्व को उपादान तथा निमित्त कारण मानना यद्यपि व्यवहार विरूद्ध प्रतीत होता है , किन्तु सूक्ष्मरूपेण विचार करने पर इसमें कुछ भी विरोध नहीं प्रतीत होता है। यथा मकड़ी अपने शरीर के चेतनांश की प्रधानता से जाले का उपादान कारण तथा शरीर के प्राधान्य से निमित्त कारण बनती है। तथैव – मायोपधिक ब्रह्म उपादान ,कारण तथा निरूपाधिक अनुपहित ब्रह्म इस जगत् का निमित्त कारण है।

यह सृष्टि क्यों और कैसे हुई। इस प्रश्न का उत्तर वेदान्त में स्वभावत: दिया गया है जिस प्रकार मनुष्य का श्वासो च्छवास प्रक्रिया स्वाभाविक है तथाविध रूप से सृष्टि भी उत्पन्न तथा विनष्ट है। श्रुतियों में भी सृष्टि समस्या पर विचार करने पर इसे ईश्वर का ऐच्छिक एवं लीलापूर्वक किया हुआ कार्य बतलाया गया है। श्रुति कहती है कि उस ईश्वर ने संकल्प किया कि मैं एक ही बहुत हो जाउँ। तथा उसने ईक्षण किया कि मैं अनेक होउॅ और फिर उस चेतन तत्व ब्रह्म से यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार उत्पन्न हुआ जैसे सत् पुरूष के शरीर से केश , लोम आदि उत्पन्न होते है।

इस कल्पना के आगे श्रुति सृष्टि का अन्य कोई हेतु नहीं देती है। मूल तत्व से इस जगत् की उत्पत्तिा और कब हुई। इस प्रश्न के सम्बन्ध में डॉ चटर्जी तथा दत्ता का कथन है – यहॉ युक्ति के स्थान पर कल्पना से ही काम लिया जाता है। उसे तर्क की कसौटी पर कसना उचित भी नहीं हैं। वेदान्त ने सृष्टि के रहस्य को स्पष्ट करने के लिये श्रुति की सहायता ली है, बिना श्रुति की सहायता के केवल तर्क द्वारा सृष्टि के रहस्य को ज्ञात करना असम्भव है। वेदान्त के अनुसार सृष्टि का अर्थ किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्तिा नहीं, अपितु अव्यक्त का व्यक्त होना है। सृष्टि शब्द का अर्थ है – सर्ग सृष्टि तथा सत्तावान जगत् का नाम रूप और व्याकरणमात्र है –**अनेन जीवेनात्मना ऽनुप्रविश्य नामाख्ये व्याकरवाणि ।।** वेदान्तियों ने एकमात्र सत् तत्व ब्रह्म को इस नामरूपात्मक जगत् का बीज कारण बताया है। ब्रह्म से ही समस्त भौतिक जगत् की उत्पत्ति होती है। यही वेदान्त की मर्यादा है – **परमाच्च ब्रह्म : प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा ।** नित्य शुद्ध बुद्ध भुक्त अविकारी एक ब्रह्म इस नानारूपात्मक नित्य विकारी जगत् को उत्पन्न करने में कैसे समर्थ हो सकता है। ऐसा होने पर ब्रह्म उन समस्त दोषों से संस्पृष्ट होने लगेगा जो इसे जगत् में है। उसके अनन्तता निरवयता अखण्डता आदि विशेषण बाधित होने लगेंगे। किन्तु वेदान्त में इन समस्त समसयाओं को समाधान खोजा गया है – मायानाम्नी शक्ति में – **एक एव परमेश्वर: कूटस्य नित्यो विज्ञानधातुरविद्ययया , मायया मायाविदने कधा विभाव्यते ।।** यह माया ब्रह्म की एक अतिशक्तिशाली ,स्वाभाविक एवं अनिर्वचनीय शक्ति है। इसके द्वारा सृष्टि करने में वह समर्थ होता है

और सांसारिक दोषों से भी अस्पृष्ट रह जाता है। गीता में भगवान ने इस जगत् की उत्पत्ति अपने द्वारा आवेष्टित प्रकृति द्वारा बताई है।

ब्रह्म की इस अनिर्वचनीय विलक्षण शक्ति की दो शक्तियॅा हैं आवरण तथा विक्षेप। आवरण शक्ति रज्जु के यथार्थ रूप को आच्छादित वस्तु में नवीन वस्तुओं की उद्भावना करती है। इस प्रकार वस्तु का यथार्थ रूप तो अपरिवर्तित रहता है, किन्तु उसी एक वस्तु में किसी परिवर्तन के बिना ही अन्य वस्तुओं का दर्शन होने लगता है। इन दर्शित होने वाली वस्तुओं का दर्शन होने लगता है। इन दर्शित होने वाली वस्तुओं का आधार वही अपरिवर्तित तत्व रहता है। वह अपरिवर्तित तत्व उद्भासित होने वाली वस्तु से अलग रहता है किन्तु माया की शक्ति द्वारा उसका यथार्थ यह कथन उचित ही है। कुछ लोग सोचते हैं कि सृष्टि उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिए है। मेरा कहना है कि उसका प्रयोजन उसे छिपाता है और उसके अतिरिक्त यह और कुछ नहीं कर सकती है।

अब प्रश्न उठता हैं कि माया शक्ति के प्रभाववश एक ही ब्रह्म में नाना रूप जगत का दर्शन कैसे हो सकता है। इस कथन का उत्तर आचार्य शंकर ने अतिसुन्दर दृष्टान्त द्वारा दिया है कि तिमिर रोग के कारण नेत्र दीप्ति के नष्ट हो जाने पर जिस प्रकार द्रष्टा को एक चन्द्रमा के स्थान पर अनेक चन्द्रमा दिखाई पड़ते है उसी प्रकार अविद्या द्वारा कल्पित नामरूपादि के रूप में ब्रह्म से देश कालगत पृथक स्थिति हो किन्तु स्वयं समस्त विकारों में उसी प्रकार संस्पृष्ट नहीं होता जैसे जल में पडा सूर्य का प्रतिबिम्ब जल की शीतोष्णता से अछूता रहता है।

सृष्टिक्रम – वेदान्त मत में सृष्टि का क्रमिक विकास स्वीकार किया गया है। यह क्रमिक विकास सूक्ष्मतम रूप से स्थूल तर रूप की दिशा में होता है। इस विकास परम्परा की तीन अवस्थायें – कारणावस्था, सूक्ष्मावस्था तथा स्थूलावस्था ।

तमोगुण प्रधान माया की विक्षेप शक्ति से उपहित हुआ ब्रह्म ईश्वर की संज्ञा प्राप्त करता है। यह ईश्वर की सृष्टि का कारण है। इस उपहित ब्रह्म से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न होता है। आकाश एक अनन्त लघु सूक्ष्म तथा सर्वव्यापक और सर्वप्रथम उत्पन्न पदार्थ है। आकाश से क्रमश: स्थूल तत्वों का उद्भव होता है। आकाश से वायु , वायु से अग्नि , अग्नि से जल , तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न होते है। इन पॅाचों तत्वों में अन्य परिवर्तित तत्वों की अपेक्षा स्थायित्व रहता है। वेदान्त ने सृष्टिप्रक्रिया के सम्बन्ध में उपनिषदों का स्मरण किया है–**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशऽसंभूतआकाशाद्वायुर्वारग्निरग्नेरापोडद्देभ्य: पृथिवी ।** यद्यपि माया त्रिगुणात्मिका है तथापि आकाशदि कार्य जड है , अत: इनके कारण में तमोगुण का प्राधान्य कहा गया है। पॅाचों तत्व सूक्ष्म हैं। अत: वेदान्त में ये तन्मात्र सूक्ष्मभूत अथवा अपंचीकृत भूत कहलाते है।

इन पॅाचों के क्रमश: गुण इस प्रकार हैं – आकाश का गुण शब्द , वायु का गुण स्पर्श, अग्नि का उष्णता, जल का रस तथा गन्ध पृथिवी का गुण है। इन तत्वों में उत्रोत्तर गुणों की वृद्धि हो जाती है। आकाश में एकमात्र गुण रहता है शब्द किन्तु वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में अपने गुण उष्णता के अतिरिक्त अपने पूर्व तत्वों के गुणों का भी समावेश रहता है। एवंविध जल में रस के अतिरिक्त तीन पूर्व गामी गुण तथा पृथिवी में गन्धसहित चार अन्य गुण भी रहते है। इन पॅाचों में सूक्ष्मतन्मात्राओं में तो सूक्ष्म तत्वों का निर्माण होता है, किन्तु स्थूल सृष्टि के निर्माण के लिये वेदान्त में पंजीकरण की विशिष्ट प्रक्रिया का आश्रय लिया गया है। सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत पंजीकरण प्रक्रिया का विवेचन

किया गया है। पंजीकरण अद्वैत वेदान्त की स्थूल सृष्टिनिर्माण की विशिष्ट प्रक्रिया है। आकाशादि पंचतन्मात्राओं के संयोग से स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति होती है। अत: स्थूल महाभूतों में प्रत्येक सूक्ष्म तन्मात्र के अतिरिक्त अन्य तन्मात्राओं के भी गुण समाविष्ट रहते है। पंचदशीकार ने पंजीकरण की प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया है – **द्विधा विधाय चैकेकं चतुर्धा प्रथमं पुन:। स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्चप पंच ते ।।** इस क्रियानुसार सर्वप्रथम आकाशादि पंचतन्मात्राओं को दो समान भागों में विभक्त किया। तत्पश्चात पंचतन्मात्राओं के दश भागों में से प्रथम पॉच को छोडकर अन्य पॉच भागों को पुन: चार –चार भागों में विभक्त किया गया। इस प्रकार प्रत्ये क तन्मात्र के पॉच विभाग हो गये। एक अर्धांश तथा चार अष्टमांश। इन पॉच विभागों में प्रत्येक तन्मात्र में उस तन्मात्र के अपने अर्धांश के अतिरिक्त शेष चार तन्मात्राओं की सम्मिलन करने से प्रत्येक तन्मात्र पुन: पूर्ण हो जायेगी। अपने अर्धांश के साथ अन्य तन्मात्राओं का चतुर्थांश भी सम्मिलित रहने से अन्य तन्मात्राओं के गुणों का भी समावेश किया जाता है। यथा – स्थूल आकाश में ½ शब्द। यद्यपि स्थूल महाभूतों में प्रत्येक तत्व निहित रहता है , किन्तु प्रत्येक महाभूत में अपना तत्व अधिक मात्रा में होने से उनके लिये पृथक – पृथक् आकाश, वायु, इत्यादि सम्बोधनों का व्यवहार होता है। इन्हीं पंचीकृत भूतों से चौदह भुवन तथा उसमें वास करने वाले प्राणिवर्ग के स्थूल शरीरादि का निर्माण होता है।

ज्ञानेन्द्रियॉ– आकाशादि अपंचीकृत पंचतन्मात्राओं के सात्विक अंशों में पृथक् – पृथक् क्रमानुसार श्रोत्र,त्वक्,चक्षु, रसना घ्राणेन्द्रियॉ उत्पन्न हुई है। ये इन्द्रियॉ अतिसूक्ष्म हैं। इनका निवास क्रमश: कर्ण, त्वक, नेत्र, रसना तथा नासिका में है। शब्द, स्पर्श , रूप, रस, तथा इनके विषय है। ये इन्द्रियॉ बहिर्मुखी होती है, किन्तु यदा कदा आन्तरिक विषयों को भी ग्रहण करती है।

कर्मेन्द्रियॉ- आकाशादि पंचतन्मात्राओं के राजस अंशो से व्यक्तिश: क्रमबद्ध श्रेणी में वाक्, हस्त , पाद, वायु तथा उपस्थ कर्मेन्द्रिया प्रादुर्भूत होती है। 1 क्रिया के प्राधान्य से ये कर्मेन्द्रिया कहलाती है। इनके कार्य है – वाणी , आदान, गमन, मलोत्सर्ग तथा सन्तानोत्पत्ति।

न्याय-वैशेषिक का सृष्टि संरचना विचार —

न्याय-वैशेषिक दर्शन विश्वकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें सृष्टिवादके सिद्धान्तको अपनाता है। सांख्यको छोड़कर भारतके प्रत्येक दर्शनमें सृष्टिवादके सिद्धान्तको शिरोधार्य किया गया है। परन्तु वैशेषिकके सृष्टि सिद्धान्त की कुछ विशेषताएँ है, जो इसे अन्य सृष्टि सिद्धान्तोंसे अनूठा बना देती है। वैशेषिकके मतानुसार विश्वका निर्माण परमाणुओंसे हुआ है। परमाणु चार प्रकारके हैं पृथ्वीके परमाणु, जलके परमाणु, वायुके परमाणु और अग्निके परमाणु। चूँकि विश्वका निर्माण चार प्रकारके परमाणुओंसे हुआ है। इसलिए वैशेषिकका सृष्टि-सम्बन्धी मत परमाणुवादका सिद्धान्त कहा जाता है। परमाणु शाश्वत होते हैं। इनकी न सृष्टि होती है और न नाश होता है। निर्माणका अर्थ है, विभिन्न अवयवोंका संयुक्त हो जाना, विनाशका अर्थ है विभिन्न अवयवोंका बिखर जाना। परमाणु निरवयव है, इसलिए निर्माण और विनाश से परे हैं।

सांख्य दर्शन में सृष्टि संरचना विचार—

सांख्य दर्शन की मान्यता है कि संसार की हर वास्तविक वस्तु का उद्गम पुरुष और प्रकृति से हुआ है। पुरुष में स्वयं आत्मा का भाव है जबकि प्रकृति पदार्थ और सृजनात्मक शक्ति की जननी है।

विश्व की आत्मायें संख्यातीत है जिसमें चेतना तो है पर गुणों का अभाव है। वही प्रकृति मात्र तीन गुणोंके समन्वय से बनी है। इस त्रिगुण सिद्धान्त के अनुसार सत्त्व, रजस् तथा तमस् की उत्पत्ति होती है। सांख्य दर्शन में सृष्टि संरचना का स्वरूप सूत्र निम्नलिखित है—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्,
महतोऽहंकारोऽहंकारात् पंचतन्मात्रण्युभयमिनिन्द्रियं
तन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः।।

प्रकृति मूल रूप से सत्व,रज तथा तमस की साम्यावस्था को कहते है। तीनो आवेश परस्पर एक दूसरे को निःशेष कर रहे होते हैं। परमात्मा का तेज परमाणु (त्रित) की साम्यावस्था को भंग करता है और असाम्यावस्था आरंभ होती है। सृष्टि संरचना-कार्य में यह प्रथम परिवर्तन है। इस अवस्था को महत् कहते है। यह प्रकृति का प्रथम परिणाम है। मन और बुध्दि इसी महत् से बनते हैं। इसमें परमाणु की तीन शक्तिया बर्हिमुख होने से आस-पास के परमाणुओं को आकर्षित करने लगती है। अब परमाणु के समूह बनने लगते है। तीन प्रकार के समूह देखे जाते हैं। एक वे है जिनसे रजस् गुण शेष रह जाता है। यह तेजस अहंकार कहलाता है। इसे वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में इलेक्ट्रोन कहते है। दूसरा परमाणु-समूह वह है जिसमें सत्व गुण प्रधान होता है वह वैकारिक अहंकार कहलाता है। इसे वर्तमान वैज्ञानिक प्रोटोन कहते है। तीसरा परमाणु-समूह वह है जिसमें तमस् गुण प्रधान होता है इसे वर्तमान विज्ञान की भाषा में न्यूट्रोन कहते है। यह भूतादि अहंकार है। इन अहंकारों को वैदिक भाषा में आपः कहा जाता है। ये(अहंकार) प्रकृति का दूसरा परिणाम है। तदनन्तर इन अहंकारों से पाँच तन्मात्रएँ (रूप,रस,गंध, स्पर्श और शब्द) पाँच महाभूत बनते है अर्थात् तीनों अहंकार जब एक समूह में आते है, तो वे परिमण्डल कहाते है। परिमण्डलों के समूह पाँच प्रकार के हैं। इनको महाभूत कहते हैं। इन पञ्चमहाभूतों से समस्त चराचर सृष्टि संरचना का स्वरूप होता है।

योग दर्शन में सृष्टि संरचना सम्बन्धी विचार—

योग-दर्शन में ईश्वर को विश्व का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता नहीं माना गया है। विश्व की सृष्टि प्रकृति के विकास के फलस्वरूप ही हुई है। यद्यपि ईश्वर विश्व का स्रष्टा नहीं है, फिर भी वह विश्व की सृष्टि में सहायक होता है। विश्व की सृष्टि पुरुष और प्रकृति के संयोजन से ही आरम्भ होती है। पुरुष और प्रकृति दोनों एक-दूसरे से भिन्न एवं विरुद्ध कोटि के हैं। दोनों को संयुक्त करने के लिए ही योग-दर्शन में ईश्वर की मीमांसा हुई है ''क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टःपुरुषविशेष ईश्वरः''। अतः ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है, जबकि प्रकृति विश्व का उपादान कारण है। इस बात को विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्र ने प्रमाणिकता दी है।

मीमांसा-दर्शन में जगत विचार—

उत्तरमीमांसा (वेदांत) अज्ञान से सृष्टि और आत्मज्ञान से सृष्टि का विनाश (मोक्ष) मानता है। अन्य दर्शनों में द्वयणुकादि क्रम से महाभूत पर्यन्त महासृष्टि और महाभूत से परमाणु पर्यन्त विनाश को महाप्रलय कहा है। अर्थात् संपूर्ण भाव कार्य द्वयणुकादि क्रम से उत्पन्न होते हैं और स्थूल से परमाणु पर्यंत जाकर नष्ट हो जाते हैं। पंच महाभूतों में पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य हैं। आकाश स्वयं ही नित्य है, किंतु पूर्व मीमांसा के अनुसार दो प्रकार की सृष्टि और तीन प्रकार के प्रलय होते हैं, जिनमें महासृष्टि और खंड सृष्टि शब्द से दो सृष्टि कही गई है। ऐसे ही प्रलय, महाप्रलय और खंड

प्रलय शब्द से तीन प्रलय कहे गए हैं। उनमें खंड सृष्टि और खंड प्रलय आजकल के समान ही माना गया है। उदाहरणार्थ किसी स्थल विशेष का भूकंप आदि से विनाश हो जाता है और कहीं पर नवीन वस्तु की सृष्टि हो जाती है। महासृष्टि में परमाणुओं से द्वयणुकादि द्वारा पंचमहाभूत पर्यन्त नवग्रहादिकों की सृष्टि होती है। मत्स्यपुराणादि में भी खंड प्रलय के अंतर्गत विद्यमान पदार्थों की स्थिति का विवरण प्राप्त होता है, किंतु पूर्व मीमांसा महासृष्टि और महाप्रलय को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार सभी पदार्थों के नाश में कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः मीमांसा दर्शन खंड सृष्टि और खंड प्रलय को ही मानता है।

4.4 सारांश

किसी वस्तु की उत्पत्ति अथवा निर्माण सृष्टि कहलाती है। सूर्यसिद्धान्त के सृष्टि के रचयिता परब्रह्म हैं वेदों में सृष्टियुत्पत्ति के सिद्धान्त प्रचुर मात्रा में मिलते है। पुराणों में भी सृष्टि की अवधारणा का वर्णन प्राप्त होता है। दर्शनशास्त्र में भी सृष्टि संरचना के स्वरूप का वर्णन प्रायः सभी आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनशास्त्र में किया गया है। असके अनुसार विश्व का निर्माण चार प्रकार के परमाणुओं से हुआ है। सांख्य दर्शन की मान्यता है कि संसार की हर वास्तविक वस्तु का उद्गम पुरुष और प्रकृति से हुआ है। वेदान्तदर्शन के अनुसार सृष्टि संरचना के स्वरूप में सर्वप्रथम ईश्वर से पाँच सूक्ष्म भूतों का अविर्भाव होता है। इस प्रकार इस इकाई में आपने वेदों पुराणों तथा दर्शनशास्त्र में सृष्टि संरचना के स्वरूप के विषय में विस्तार स अध्ययन किया।

4.5 पारिभाषिक शब्दावली

निर्जल	-	जल से रहित
निरंजन	-	दुर्गुण एवं दोष से रहित, निगुर्ण ब्रह्म
सृष्टिवाद	-	सृष्टि से सम्बन्धित सिद्धान्त
लयकर्ता	-	अंत करने वाला
अविनाशी	-	जिसका कभी अंत ना हो
अव्यक्त	-	वाणी के द्वारा जिसका वर्णन न किया जा सके।

4.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

लघूत्तरीय प्रश्न

1.ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में जगत की सृष्टि कारण विराटपुरुष बताया गया है।

2.विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण तथा भुजाओं सं क्षत्रिय उत्पन्न हुए।

3.सृष्टि संरचना के स्वरूपमें विश्वकर्मा ने सर्वथम जल को उत्पन्न किया

4.हिरण्यगर्भ आत्मबल का देने वाला है,

5.ब्रह्म का संकल्प जाज्वल्यमान तप था, जो चतुर्दिक व्याप्त था।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1- (ख) 2- (क) 3- (ख) 4- (घ) 5-(ख)

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सूर्यसिद्धान्तः-आर्षग्रन्थः, टीकाकार कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी-2004
2. बृहत्संहिता-आचार्यवराहमिहिर, प-अच्युतानन्दझा,चौखम्बाविद्याभवनवाराणसी
3.ऋग्वेद, सायणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता, अनुवादक पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 2016
4.अथर्ववेद, सयणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता, अनुवादक पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 2016
5. वैदिक व्रह्माण्ड का परिचय-उ.मु.वि.वि.हल्द्वानी
6.मनुस्मृति - डा- गजानन शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रतिष्ठान वाराणसी, 2002
7.पुराणविमर्श - गीताप्रेस गोरखरपुर

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.भुवनकोश विमर्श, प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी, अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स दिल्ली, वर्ष 2004
2.यजुर्वेद, संस्कृत साहित्य प्रकाशन वर्ष 2015
3.श्रीमद्भागवतपुराणम्, वेदव्यास,गोरखपुर, गीताप्रेस, संवत् 2059
4.ऋग्वेद, संस्कृत साहित्य प्रकाशन वर्ष 2016
5.गोलपरिभाषा, झा, सीताराम, दरभङ्गा, बिहार, श्रीसीताराम पुस्तकालय, संवत् 2027
6.श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 20486

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1-पुराणों के अनुसार सृष्टि संरचना के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

2-सांख्य तथा योग दर्शन के अनुसार सृष्टि संरचना के स्वरूप का सविस्तार स्पष्ट कीजिए।

3-वेदान्त दर्शन में वर्णित सृष्टि संरचना के स्वरूप का वर्णन कीजिए।

4-वेदों में वर्णित सृष्टि संरचना के स्वरूप का विस्तार से वर्णन कीजिए।

खण्ड- चार (Section-D)
गणित एवं खगोल विद्या

इकाई.1 वैदिक गणित का उद्भव एवं विकास

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 गणितशास्त्र का महत्व

1.4 वैदिक गणित का उद्भव एवं विकास

1.4.1 अंकगणित या पाटीगणित(Arithmetic)

1.4.2 बीजगणित (Algebra)

1.4.3 ज्यामिति या रेखागणित (Geometry)

1.5 सारांश

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय वियार्थियों !

प्रस्तुत इकाई 'वैदिक गणित का उद्भव एवं विकास' से सम्बन्धित है। । आज का युग विज्ञान का युग है, जिसे अनुसन्धान का युग भी कहा जाता है। आज विश्व में जो भी विकास हुआ वह गणित के ज्ञान के बिना असम्भव था। भारत में गणितीय ज्ञान वैदिक काल से ही सर्वोपरि रहा है। वेदों में गणितीय सूत्रों का प्रतिपादन ऋषियों ने विस्तृत रूप से किया है। वेदों के बाद वेदांगों में गणित को वेद पुरुष का नेत्र कहे जाने वाले ज्योतिषशास्त्र के अंतर्गत स्थान मिला।प्रचलित संख्या पद्धति आधुनिक विश्व को भारतवर्ष की ही देन है। गणित ज्ञान और विज्ञान की सभी शाखाओं का आधार है। सामान्य जनमानस के लिए गणित एक जटिल विषय रहा है, परन्तु भारतीय गणितज्ञों ने सदैव इसे मनोरंजन का विषय समझते हुए इसे सरल बनाने की प्रक्रिया पर विचार किया है। वैदिक गणित की पद्धतियों का अभ्यास करने पर उत्तर जल्दी निकलता है। आपको वैदिक गणित से परिचित करवाना इस इकाई का ध्येय है।

1.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- वैदिक गणित के महत्व को समझ सकेंगे।
- वैदिक गणित के मूल सूत्र एवं उपसूत्रों को जानेंगे।
- वैदिक गणित का उद्भव एवं विकास को जानेंगे।
- वैदिक गणित में शोध के लिए रुचि उत्पन्न होगी।

1.3 गणितशास्त्र का महत्व

विश्व में उपलब्ध साहित्यों में 'वेद' सबसे प्राचीनतम् ग्रंथ है। 'वेद' शब्द का अर्थ है- '**विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः**'अर्थात जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाए वही वेद है।वेदों में धर्म, विज्ञान, दर्शन, आचार शास्त्र, आयुर्वेद, संगीत आदि समस्त विषयों का वर्णन मिलता है। विज्ञान विषय के समस्त चिंतन की समस्त मूलभूत अवधारणाएं वेद से ही प्राप्त हुई हैं। मनुस्मृति में कहा गया है- **"सर्वज्ञानमयो हि सः"** वेदों में विज्ञान के अपूर्व भण्डार मिलते हैं।

गणित को विज्ञान की आधारशिला कहा जाता है। गणित ही सृष्टि रचना के मूल में है। संसार की प्रत्येक वस्तु किसी नियम से बद्ध है, उसमें कोई क्रम है। उस नियम और क्रम का ज्ञान गणित का विषय है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में गति है। गति का सम्बन्ध गणना से होता है, और गणना गणित का विषय है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह एवं पृथिवी की गति के ज्ञान से ही सूर्योदय और सूर्यास्त, सूर्य-ग्रहण, चन्द्रग्रहण, भू-परिक्रमा आदि का ज्ञान होता है। पूरा ज्योतिष शास्त्र गणित पर निर्भर है। स्थान और समय का निर्धारण गणित के आधार पर ही होता है। गति की निरन्तरता का नाम समय है और गति का चतुर्दिक् प्रसार ही स्थान है। इनके ज्ञान के लिए गणित की आवश्यकता होती है। गणित के द्वारा

गति का आकलन किया जाता है। वेदांग ज्योतिष में गणितशास्त्र का महत्व बताते हुए कहा गया है कि-

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।

तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।। वेदाङ्गज्योतिष(याजुष)४

अर्थात जिस प्रकार मयूरों की शिखाएँ और नागों की मणियाँ सर्वोच्च स्थान पर रहती है, ठीक उसी प्रकार सारे वेदांगों में गणित का स्थान सर्वोपरि है।

गणितशास्त्र के मर्मज्ञ महावीराचार्य ने (लगभग ८५० ई०) ने अपने ग्रन्थ 'गणितसारसंग्रह' (अध्याय १,श्लोक ९-१९) में कहा है कि-

बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।

यत् किंचिद् वस्तु तत् सर्वं गणितेन विना न हि।।

अर्थात् अधिक गुणगान से क्या लाभ। इस चराचर जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके मूल में गणित न हो। गणित ज्ञान और विज्ञान की सभी शाखाओं का आधार है। सामान्य जनमानस के लिए गणित एक जटिल विषय रहा है। परन्तु भारतीय गणितज्ञों ने सदैव इसे मनोरंजन का विषय समझते हुए इसे सरल बनाने की प्रक्रिया पर विचार किया है।वैदिक गणित की पद्धतियों का अभ्यास करने पर उत्तर जल्दी निकलता है। और गलती होने की सम्भावना कम होती है।

1.4 वैदिक गणित का उद्भव एवं विकास

वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान का स्रोत हैं।वेदों में गणितशास्त्र से सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। उनमे एक संख्या से लेकर परार्द्ध संख्या तक का उल्लेख है। उनमे १० संख्या का महत्व, उसके गुणन, स्थानमान तथा भाग आदि का वर्णन है। वेदों में गणित शब्द का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन कुछ अन्य शब्द मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि गणना की विधि ज्ञात थी। यजुर्वेद (३०,२०) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.४.१५) में गणक (गणना करने वाला, ज्योतिषी) शब्द मिलता है। गणनासूचक गण, गणपति, गणाश्रि, गणिन्, गण्य आदि शब्द ऋग्वेद और यजुर्वेद में अनेक मंत्रों में आये हैं।ऋग्वेद में 'व्रातव्रातम्, गणंगणम्' शब्द गणना के आधार पर किए गए समूहों या वर्गों के लिए हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद और अथर्ववेद में निधि, निधिपति, निधिपा शब्द कोष और कोषागार के अध्यक्ष के लिए हैं। ये कोष की गणना करते थे। यजुर्वेद में वित्तध शब्द भी कोषागार के अध्यक्ष के लिए आया है। यजुर्वेद में ज्योतिषी के लिए 'नक्षत्रदर्श' शब्द है और गणित विद्या जानने के कारण उसके ज्ञान की प्रशंसा की गयी है । छान्दोग्य उपनिषद् में सर्वप्रथम गणितशास्त्र का 'राशिविद्या' और ज्योतिष का 'नक्षत्रविद्या' नाम से उल्लेख है। वर्णन आता है कि सनत्कुमार के पूछने पर नारद जी ने बताया कि मैंने चारों वेद, इतिहास, पुराण, ब्रह्मविद्या आदि के साथ राशिविद्या और नक्षत्रविद्या का भी अध्ययन किया है। राशिविद्या शब्द अंकगणित के लिए है और नक्षत्रविद्या ज्योतिष के लिए है। इससे यह ज्ञात होता है कि अध्यात्म या पराविद्या के जिज्ञासु के लिए गणित और ज्योतिष का भी ज्ञान आवश्यक है।

पश्चिम के देशों में गणित का विकास १४ वीं शताब्दी तक कम था। परन्तु भारत में इससे पूर्व सूर्यमण्डल के सभी ग्रहों की सही गति जानने का गणित विकसित हो चुका था। वेदी को सही बनाने की ज्यामिति विकसित हो चुकी थी। समुद्र में चलने वाली नावों की सही दिशा समझने के लिए

नक्षत्र मण्डल की गति जानने का विज्ञान विकसित हो चुका था। प्रकाश की गति का ज्ञान और वृत की परिधि नापने की विधि निकाली जा चुकी थी। लीलावती और आर्यभटीय में बीजगणित चलन-कलन और गति शास्त्र का विकसित रूप मिलता है।

प्राचीन बौद्ध साहित्य में गणित के भेद-

१ मुद्रा (अंगुलियों पर गिनना)

२ गणना (सामान्य गणित, मौखिक गणना)

३ संख्यान (उच्च गणित)

दीर्घनिकाय, विनयपिटक, दिव्यावदान और मिलिन्दपंहो ग्रन्थों में इन तीनों का उल्लेख मिलता है। गणित के अर्थ में 'संख्यान' शब्द का प्रयोग अनेक ग्रन्थों में मिलता है । प्राचीन गणित में ज्योतिष भी समिलित था। क्षेत्रगणित या ज्यामिति (Geometry) का उल्लेख वेदांग के रूप प्रचलित 'कल्पसूत्र' और शुल्बसूत्रों में मिलता है। बाद में ज्योतिष स्वतन्त्र विषय हो गया और क्षेत्रगणित या ज्यामिति गणित का अंग हो गया।आगे चलकर अज्ञात राशि से सम्बन्ध रखने वाला बीजगणित (Algebra) कहलाया । यह पृथक करण सर्वप्रथम ब्रह्मगुप्त ने किया। उन्होंने ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त ग्रन्थ में बीजगणित से सम्बद्ध अध्याय को 'कुट्टकाध्याय' कहा है।

जगद्गुरू स्वामीभारती कृष्ण तीर्थ जी द्वाराविरचितपुस्तक 'वैदिक गणित'जिसमें अंकगणितीय गणना की वैकल्पिक एवं संक्षिप्त विधियाँ दी गयीं हैं। इसमें १६ मूल सूत्र ,तथा१३ उपसूत्र दिये गये हैं। वैदिक गणित गणना की ऐसी पद्धति है, जिससेजटिल अंकगणितीय गणनाएं अत्यंत ही सरल, सहज व त्वरित संभव हैं।

वैदिक गणित के १६ मूल सूत्र

१. एकाधिकेन पूर्वेण
२. निखिलं नवतश्मचरमं दशतः
३. ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम्
४. परावर्त्य योजयेत्
५. शून्यं साम्यमुच्चये
६. अनुरूप्ये शून्यमन्यत्
७. संकलनव्यवकलनाभ्याम्
८. पूरणापूरणाभ्याम्
९. चलनकलनाभ्याम्
१०. यावदूनम्
११. व्यष्टिसमष्टिः
१२. शेषाण्यङ्केन चरमेण
१३. सोपान्त्यद्वयमन्त्यम्
१४. एकन्यूनेन पूर्वेण
१५. गुणितसमुच्चयः
१६. गुणकसमुच्चयः

वैदिक गणित के उपसूत्र

१. आनुरुपेण
२. शिष्यते शेषसंज्ञ:
३. आधमाधेनान्त्यमन्त्येन
४. केवलैः सप्तकं गुण्यात्
५. वेष्टम्
६. यावदूनं तावदूनम्
७. यावदूनं तावदूनीकृत्य वर्गं च योजयेत्
८. अन्त्योर्दशकेपि
९. अन्त्ययोरेव
१०. समुच्चयगुणितः
११. लोपस्थापनाभ्याम्
१२. विलोकनम्
१३. गुणितसमुच्चयः समुच्चयगुणितः
१४. ध्वजांक

गणित की मुख्य तीन शाखाएँ हैं- अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित।

1.4.1 अंकगणित या पाटीगणित (Arithmetic)

भारत में अंकगणित का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। इसकी जानकारी वैदिक ग्रंथों से प्राप्त होती है। वैदिक एवं सूत्र ग्रंथों के बाद रामायण में भी अंकगणित की जानकारी प्राप्त होती है। जिसमें शत, सहस्र, कोटि, शंख, महाशंख, वृन्द आदि शब्द मिलते हैं। गणित के सामान्य प्रश्न पाटी (तख्ती, पट्ट या फलक) पर या मिट्टी में अंक लिखकर किए जाते थे, अतः अंकगणित का नाम 'पाटीगणित' या 'धूलिकर्म' पड़ गया। अंकगणित में संख्याएँ व्यक्त होती हैं, अतः उसे 'व्यक्तगणित कहा जाता है, और संखयाएँ अव्यक्त होने के कारण बीजगणित को 'अव्यक्तगणित' भी कहा जाता है।

अंकगणित के आठपरिकर्म (Fundamental Operations)

१ संकलित (जोड़), २ व्यवकलित (घटाना), ३ गुणन (गुणा करना), ४ भागहार (भाग देना), ५ वर्ग (Square),६ वर्गमूल (Square-root), ७ घन (Cube), ८ घनमूल (Cube-root)

संकलित (जोड़, Addition)

दो या अधिक राशियों के जोड़ने को जोड़ या संकलित कहते हैं। वेदों में जोड़ की विधि का वर्णन है। जोड़ के लिए प्रयुक्त शब्द हैं- संकलन, योग, मिश्रण, संमेलन, संयोजन, युक्ति, एकीकरण आदि। दो विभिन्न संख्याओं को जोड़ने को संकलन, योग या संकलित कहते हैं। जोड़ का चिह्न (+) है। वेदों में जोड़ के लिए निम्न शब्दों का प्रयोग मिलता है।

१ 'च' (और) शब्द अथर्ववेद में इनके उदाहरण मिलते हैं। जैसे- षष्टि: च षट् च (६०+६=६६), चत्वार: चत्वारिंशत् च (४+४०=४४), त्रयः त्रिंशत् च (३+३०=३३) इत्यादि।

२ साकम् (साथ) शब्द ऋग्वेद में ९९ के लिए 'नव साकं नवती' (९+९०=९९), ३६० के लिए 'त्रिंशता साकं षष्टिः' (३००+६०=३६०)

३ बिना किसी शब्द के प्रयोग के किसी शब्द का प्रयोग किए बिना यदि संख्याएँ एक साथ दी जाती हैं, तो उनका अर्थ 'जोड़' है। जैसे- ११ से ९९ तक के शब्द। एकादश (१+१०=११), अष्टाशिति (८+८०=८८) इत्यादि।

जोड़ से सम्बद्ध कुछ शब्द हैं जैसे- १ योज्य (जिसमें कोई संख्या जोड़ी जाती है), २ योजक (जोड़ी जाने वाली संख्या), ३ योग (दोनों संख्याओं का जोड़)।

व्यकलित (घटाना, Subtraction)

किसी राशि में से किसी राशि को घटाने को व्यकलित या घटाना कहते हैं। जिसमें से घटाया जाता है, उसे वियोज्य या सर्वधन Minuend कहते हैं, और जिसे घटाते हैं, उसे वियोजक कहते हैं। जो बचता है, उसे शेष या अन्तर Remainder कहते हैं। घटाना का चिह्न (-)है।

वेदों में 'घटाना' के लिए कोई निश्चित शब्द नहीं है। कुछ शब्द हैं जिनका अर्थ घटाना निकलता है।

१ 'अवम' (कम) अथर्ववेद के एक मंत्र में घटाने के लिए 'अवम' शब्द दिया गया है। इस सूक्त में ११ संख्या से सम्बद्ध अंक इस प्रकार से हैं-९९, ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३, २२, ११

मंत्र में कहा गया है- 'एकादशावमा:' अर्थात प्रत्येक संख्या ११ कम होती गयी है। कम के लिए 'अवम' शब्द है।

२ ऊन, एकोन, एकान्न शब्द (एक कम) वेदों में 'एक कम' के लिए इन शब्दों का प्रयोग है। ऊन और न्यून (नि+ऊन) का अर्थ है- एक कम। एकान्न शब्द एकात्+न= एकान्न है, अर्थात एक संख्या से कम, एक कम।

'ऊन' वेदों में 'ऊन' शब्द का अनेक स्थानों पर न्यून या कम अर्थ में प्रयोग है। जैसे-'तन्वा ऊनम्' (जो शरीर में कमी है) आदि।

'एकोन' का १९, २९, ३९ आदि सभी शब्दों में इसका उपयोग हुआ है। जैसे एकोनविंशति (एक कम २० अर्थात १९), एकोनत्रिंशत् (२९) आदि।

'एकान्न' तैत्तिरीय संहिता में 'एकानन' का प्रयोग बहुत मिलता है। जैसे- एकान्नविंशति (२०-१=१९) आदि।

गुणन (Multiplication)

किसी संख्या को किसी किसी संख्या से गुणा करने को गुणन कहते हैं।जिस संख्या में अन्य संख्या से गुणा किया जाता है, उसे 'गुण्य' (Multiplicand) कहते हैं। जिस संख्या से गुणा किया जाता है, उसे गुणक (Multiplier) कहते हैं। गुणा करने के बाद जो राशि प्राप्त होती है, उसे 'गुणन फल' (Product of Multiplication) कहते हैं। गुणा के लिए (×) संकेत का प्रयोग किया जाता है।

वेदों में प्रयुक्त कुछ विधियाँ निमलिखित हैं-

१ बिना प्रत्यय के गुणन-कार्य कोई शब्द या प्रत्यय लगाए विना गुणन कार्य होता है। जैसे मैत्रायणी संहिता में उल्लेख है कि २ वर्ष में २४ और ३ वर्ष में ३६ मास होते हैं। १ वर्ष=१२ मास, २ वर्ष= १२×२=२४ मास। ३ वर्ष = १२×३=३६ मास।

ऋग्वेद में २ का पहाड़ा १० तक दिया गया है। जैसे २×१=२,२×२=४, २×३=६, २×४=८, २ ×५=१०

अथर्ववेद में २१ के लिए त्रिषप्त, अर्थात ३×७=२१ दिया है।

२ स् प्रत्यय लगाकर गुणनकार्य स् प्रत्यय लगाकर द्वि का द्विः और त्रि का त्रिः बनता है। इसका अर्थ दोबारा या तीन बार होता है। जैसे- ऋग्वेद में २० के लिए द्विर्दश है, अर्थात १०×२=२० । काठक संहिता में ३३ के लिए त्रिः एकादश है, अर्थात ११×३=३३

३ संख्याशब्दों से वृत् लगाकर गुणनकार्य 'गुना'अर्थ में 'वृत्' लगाकर एकवृत् (एक गुना), द्विवृत् (दो गुना), त्रिवृत् (त्रिगुना) आदि शब्द बने हैं।

४ गुणन अर्थ में ता और धा प्रत्यय ऋग्वेद में 'गुना' अर्थ में 'ता' और 'धा' प्रत्ययों के प्रयोग हैं। 'द्विता' (दुगुना या दो प्रकार से) का प्रयोग है। चतुर्धा और चतुर्गुण का अर्थ है चौगुना।

५ गुणन अर्थ में कृत्वः प्रत्यय वेदों में गुणन अर्थ में 'कृत्वः' प्रत्यय का प्रयोग भी मिलता है। जैसे त्रिः कृत्वः (तिगुना), पञ्चकृत्वः (पाँच गुना) इत्यादि।

६ गुणन अर्थ में कृत् प्रयोग एक अर्थ में समान (स) शब्द से कृत् लगाकर सकृत् (एक गुना, एक बार) प्रयोग बनता है। ऋग्वेद में इसका 'एकवार' अर्थ में प्रयोग मिलता है।

भाग, भागहार (Division)

प्राचीन ग्रन्थों में भाग के लिए भागहार शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके और भी अन्य पर्याय हैं, जैसे- भाजन, हरण, छेदन आदि। जिस संख्या को किसी अन्य संख्या से भाग दिया जाता है, उसे भाज्य या हार्य (Dividend) कहते हैं। जिस संख्या से भाग देते हैं, उसे भाजक, भागहार, हार, छेद या हर (Divisor) कहते हैं। भाग देने पर जो उत्तर प्राप्त होता है, उसे लब्धि या लब्ध (Quotient) कहते हैं। वेदों में 'भाग' शब्द का प्रयोग भाग या हिस्सा (Share) अर्थ में अनेक मंत्रों में हुआ है। जैसे- 'इन्द्र ने मुझे मेरा हिस्सा दिया।

१ भज् धातु 'यो रत्ना भजति मानवेभ्यः' जो मनुष्यों को रत्न बाँटता है।

२ वि-भज् धातु 'भागं विभजासि' तुम मनुष्यों को उनका हिस्सा देते हो।

३ वि- धा धातु यजुर्वेद में बांटने के अर्थ में विधा धातु का प्रयोग है। जैसे- 'अर्थान् व्यदधात्' परमात्मा ने प्रजा को यथायोग्य धन बाँटा है।

४ वन् धातु ऋग्वेद में वन् धातु का बाँटना अर्थ में प्रयोग है। 'अस्मभ्यं वनसे रत्नम्' तुम हमे रत्न बाँटते हो।

५ सन् धातु ऋग्वेद में सन् धातु बाँटने अर्थ में प्रयोग है। 'सनोति वाजम्' वह अन्न बाँटता है।

६ धा प्रत्यय'धा' प्रत्यय का प्रयोग भी भाग के लिए हुआ है। जैसे द्विधा (दो हिस्से में), त्रिधा (तीन हिस्से में), चतुर्धा (चार हिस्से में)।

७ शः प्रत्यय एकैकशः (एक-एक करके)

४, ८, १२, १६, २०, २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४, ४८ इनमें क्रमशः ४ से भाग देने पर क्रमशः यह उत्तर आएंगे १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२

भिन्न-परिकर्म (Fractions)

भिन्न या बटा के लिए वेदों में कुछ शब्द मिलते हैं। यजुर्वेद में चतुर्थांश अर्थात १/४ के लिए 'पाद' शब्द का प्रयोग हुआ है। मंत्र में वर्णन आता है कि परमात्मा का त्रिपाद अर्थात ३/४ अंश संसार के बाहर है और एक पाद अर्थात १/४ अंश यह संसार है। वेदों में भाग या हिस्से के अर्थ में अंश और

भाग शब्दों का प्रयोग हुआ है। आधा अर्थात १/२ के लिए अर्ध और नेम शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक-तिहाई अर्थात १/३ के लिए त्रेधा, त्रिधा शब्द मिलते हैं। इसी प्रकार डेढ (१+१/२) के लिए 'अध्यर्ध' शब्द है । ऋग्वेद में सौवें और सौवें हिस्से (१/१००) के लिए 'शततम' शब्द का प्रयोग हुआ है। शुल्ब सूत्रों में 'बटा' के अर्थ में 'भाग' शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे १/५ के लिए 'पञ्चम् भाग' शब्द १/१० के लिए 'दशमभाग' शब्द इत्यादि।

वर्ग, वर्गमूल (Square, Square-root)

वेदों में वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। वर्ग एवं वर्गमूल का संकेत है। घन एवं घनमूल का कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संकेत नहीं मिलता है, आर्यभट्ट, भास्कर आदि के ग्रन्थों में वर्ग के लिए 'कृति' शब्द का प्रयोग है।

यजुर्वेद में दो स्थानों पर विषम संख्याओं का उल्लेख है। दोनों स्थानों पर १ से ३३ तक की विषम संख्याएँ दी गयी है। मंत्र १८, २४ में १ से ३३ तक विषम संख्याएँ दी गयी हैं, वे इस प्रकार से हैं- १, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २३, २५, २७, २९, ३१, ३३ इस प्रकार ये १७ अंक हैं। १ से १७ तक का वर्ग और वर्गमूल निकाला जाता है। जिस संख्या का वर्ग निकालना हो, उसके लिए उतनी ही विषम संख्याएँ लेनी होंगी। जैसे १ के लिए केवल १ विषम संख्या, २ के लिए २ विषम संख्याएँ, ३ के लिए ३ विषम संख्याएँ, १० के लिए १० विषम संख्याएँ। जैसे १ से १० तक के वर्ग के लिए १० तक की विषम संख्याएँ लेकर उन्हें जोड़ लें। वही वर्ग की संख्या होगी।

१. १+० = १
२. १+३ = ४ (२ का वर्ग) $२^{२}$
३. १+३+५ =९ (३ का वर्ग) $३^{२}$
४. १+३++५+७ = १६ (४ का वर्ग) $४^{२}$
५. १+३+५+७+९ = २५ (५ का वर्ग) $५^{२}$
६. १+३+५+७+९+११ = ३६ (६ का वर्ग) $६^{२}$
७. १+३+५+७+९+११+१३=४९ (७ का वर्ग) $७^{२}$
८. १+३+५+७+९+११+१३+१५ = ६४ (८ का वर्ग) $८^{२}$
९. १+३+५+७+९+११+१३+१५+१७ = ८१ (९ का वर्ग) $९^{२}$
१० १+३+५+७+९+११+१३+१५+१७+१९= १०० (१० का वर्ग) $१०^{२}$

इसी प्रकार १ से ३३ तक १७ विषम संख्याओं का जोड़ २८९ होगा और यह १७ संख्या का वर्ग है। श्रीधर, महावीर, भास्कर द्वितीय आदि ने भी इस विधि का उल्लेख किया है।

वर्ग निकालने में १, ३, ५ आदि विषम संख्याओं का जोड़ लेते हैं, किन्तु वर्गमूल निकालने में उन विषम संख्याओं का जोड़ नहीं लेना है, केवल इतना गिनना है कि विषम संख्या ली गयी है। इस प्रकार वर्ग का वर्गमूल निकलता जाएगा। १ से ३३ तक विषम संख्याओं में केवल १७ वर्गमूल होते हैं। जैसे-

वर्ग-

तीन का वर्ग १+३+५ = ९

पाँच का वर्ग १+३+५+७+९ = २५

छह का वर्ग १+३+५+७+९+११ = ३६

वर्गमूल-

९ का वर्गमूल- ३, इसमें १, ३, ५ = ३ संख्याएँ हैं।

२५ का वर्गमूल- ५, इसमें १, ३, ५, ७, ९ = ५ संख्याएँ हैं।

३६ का वर्गमूल- ६ इसमें १, ३, ५, ७, ९, ११ = ६ संख्याएँ हैं।

इसी प्रकार १७ तक के वर्ग के १७ वर्गमूल निकलते जाएंगे।घन एवं घनमूल का कोई संकेत प्राप्त नहीं होता है।

1.4.2 बीजगणित (Algebra)

भास्कराचार्य के अनुसार बीजगणित एवं अंकगणित में संरचना और सिद्धान्त के विचार से अनेक समानताएँ हैं। इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि अंकगणित में व्यक्त (ज्ञात) राशि की बात की जाती है जबकि बीजगणित में अव्यक्त (अज्ञात) राशि की बात की जाती है। बीजगणित में अंकों की सहायता के बिना संकेताक्षरों या वर्णों से गणित की क्रिया की जाती है।

ख = शून्य या आकाश (खं ब्रह्म, यजु० ४०.१७)

क = प्रजापति या ईश्वर (प्रजापतिर्वै कः, ऐत० ब्रा० २. ३८)

प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के संकेताक्षरों का बहुत प्रयोग हुआ है। लीलावती आदि में ऐसे संकेताक्षर अनेक हैं। जैसे- भ (२७), नन्द (९), अग्नि (३), ख (०), बाण (५), सूर्य (१२), शैल (७)। अंक दायें से बाईं ओर पढे जाते हैं। अतः भन्दाग्नि (३९२७), ख-बाण-सूर्य (१२५०) होते हैं।

1.4.3 ज्यामिति या रेखागणित (Geometry)

भारतीय गणित के इतिहास देखें तो ज्ञात होता है कि वैदिक काल में ही रेखागणित की नींव पड़ गई थी। भारतवर्ष में वैदिक यज्ञ वेदियों के निर्माण के प्रसंग में हुई। वेदों में रेखागणित सम्बन्धी सामग्री सूत्ररूप में मिलती है। इसका विस्तृत विवरण शुल्वसूत्रों में मिलता है।शुल्वसूत्र वे वैदिक साहित्य है जो कल्प तथा श्रौत सूत्र ग्रंथों के खण्ड हैं जो वेद के षडगों में एक है। ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों में रेखागणित के कुछ पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। यज्ञवेदी के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है कि इसका क्या नाप था, इसकी क्या रूपरेखा थी, इसकी क्या परिधि थी।

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानम्, आज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद् देवा देवमयजन्त विश्वे ।। (ऋग्०१०.१३०.३)

मंत्र में रेखागणित से संबद्ध ये शब्द हैं-

१. प्रभा- नाप, परिमाण (Measurement)
२. प्रतिमा- नक्शा, रूपरेखा (Outline)
३. निदानम्- कारण, मूलसिद्धान्त (Basic Principles)
४. परिधि- घेरा (Circumference)
५. छन्द- नापने का साधन, रज्जु आदि। इसी को शुल्व कहा गया है।

6. प्रउग- शुल्वसूत्रों में समद्विबाहु त्रिभुज (Isosceles triangle) के लिए इस शब्द का प्रयोग है।

ऋग्वेद के एक मंत्र में वृत्त (Circle) के बारे में विवरण मिलता है, जो इस प्रकार से है-

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिः

चक्रं न वृत्तं व्यतीरवीविपत् । (ऋग० १.१५५.६)

अर्थात एक वृत्त में ४×९० = ३६० अंश होते हैं। ऐसे कालचक्र को विष्णु घुमाते हैं। इस मंत्र में स्पष्ट संकेत हैं कि एक वृत्त में ९० अंश के ४ खण्ड (त्रिज्या, Radius) होते हैं।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में एक मंत्र मिलता है, जिसमें रेखागणित से संबद्ध कई महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त हैं।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।

तस्मिन् साकं त्रिशता न शंकवो आर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ।। (ऋग०१.१६४.४८ अथर्व० १०.८.४)

अर्थात इसमें वर्षचक्र का वर्णन करते हुए ये पारिभाषिक शब्द दिए हैं। एक चक्र (Circle) है, उसमें १२ प्रधियाँ हैं, अर्थात ३०-३० अंश पर १२ अरे हैं। पूरे चक्र में १२० अंश वाले ३ केंद्र बिन्दु हैं। पूरे चक्र में ३६० अंश हैं।

यजुर्वेद के एक मंत्र में त्रिभुज की रूपरेखा दी गई है।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्

अधः स्विदासीद् उपरि स्विदासीत्। (यजु० ३३.७४)

अर्थात सूर्य की किरणे तिरछी आती हैं, फिर नीचे फैलती हैं और फिर ऊपर तिरछी जाती हैं। इस प्रकार त्रिभुज की तीन भुजाएँ होती हैं। नीचे एक रेखा और दोनों ओर दो तिरछी रेखाएँ। इस प्रकार त्रिकोण की अनेक आकृतियाँ बनाई जा सकती हैं।

ऋग्वेद और तैत्तिरीय संहिता में अग्नि को त्रिषधस्थ अर्थात् तीन स्थानों पर विराजमान कहा गया है। तीन प्रकार की अग्नियाँ हैं- गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण। शतपथ ब्राह्मण में इनके आकार का वर्णन प्राप्त होता है।

1. गार्हपत्य अग्नि की वेदी मंडलाकार (Circle)
2. आहवनीय की चतुर्भुज (Square)
3. दक्षिनाग्नि की अर्धवृत्ताकार या अर्धचंद्राकार (Semi-Circle) होती है।

यह भी वर्णन किया गया है कि इनका क्षेत्रफल भी बराबर हो और यह एक वर्ग व्याम हो। (एक व्याम = १६ अंगुल या ४ हाथ अर्थात् लगभग ६ फीट) इससे यह ज्ञात होता है कि वेदी का निर्माण करणे वाला रेखागणित का ज्ञान रखता होगा, जिससे वह वृत्त को चतुर्भुज में बदल सके और उसको अर्धवृत्ताकार बना सके ।

महावेदी

समद्विबाहु चतुर्भुज (Isosceles Trapezium)

शतपथ ब्राह्मण में महावेदी का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है।काण्ड ३ और काण्ड १० में इसके निर्माण का वर्णन किया गया है। इस वेदी का सम्बन्ध १. शत० ब्रा० ३.५.१.१ से ६ और

काण्ड १०.२.३.७ से १४ सोम योग से है, अतः इसे सौमिकी वेदी भी कहते हैं। इसकी रचना समद्विबाहु चतुर्भुज (Isosceles Trapezium)होती है। इसका मुख पूर्व की ओर होता है।
पूर्व दिशा चौड़ाई- २४ पग (१२+१२ के भाग)
पश्चिम दिशा चौड़ाई- २४+६ = ३० पग (१५+१५ के २ भाग)
लंबाई - ३६ पग (पद)
१ पद प्रायः २ फीट का होता है। उसी हिसाब से इसकी लंबाई चौड़ाई समझनी चाहिए। इसमें पूर्व की ओर से पश्चिम की ओर २४×२४ पग का एक चतुर्भुज बनता है। पश्चिम दिशा में मध्य भाग से उत्तर और दक्षिण की ओर ३-३ पग और बढाते हैं। इस प्रकार ६ पग बढ़ जाने से पश्चिम दिशा में चौड़ाई २४+६ = ३० पग हो जाती है। उत्तर और दक्षिण दिशा के भाग समान हैं, अतः यह समद्विबाहु चतुर्भुज है। और्व और पश्चिम के भाग विषम है (२४ और ३० पग), अतः और्व और पश्चिम की भुजाएँ विषम हैं।

परिधि, व्यास और पाई-

ऋग्वेद के एक मंत्र में वृत्त की परिधि और व्यास का अनुपात 'त्रित' शब्द के द्वारा दिया गया है। मंत्र का अर्थ है कि त्रित ने वल राक्षस की परिधि को तोड़ दिया। अर्थात वृत्त की परिधि को त्रित यानि व्यास के अनुपात १/३ ने तोड़ दिया। यह अनुपात वस्तुतः २२/७ है। इस अनुपात को पाई (Pie) द्वारा सूचित किया जाता है।
भास्कराचार्य ने लीलावती में 'पाई' का स्थूल और सूक्ष्म मान दिए हैं-

व्यासो भनन्दाग्नि (३९२७) – हते विभक्ते
खवाणसूर्यैः (१२५०) परिधिस्तु सूक्ष्मः ।
द्वविंशति (२२) घ्ने विहृतेऽथ शैलैः (७)
स्थूलोऽथवा स्याद् व्यवहारयोग्यः ।। (लीलावती, क्षेत्रव्यवहार ९८)

इसमें "पाई" का सूक्ष्ममान इस प्रकार है-

(क) ३९२७/१२५० = ३.१४१६
(ख) पाई का स्थूलमान २२/७ = ३.१४

कर्ण (Hypotenuse)

बौधायन, आपस्तम्ब और कात्यायन शुल्ब सूत्रों में आयत (Rectangle) के कर्ण (Hypotenuse) के विषम में कहा गया है कि आयत का कर्ण दोनों क्षेत्रफलों को उत्पन्न करता है, जिसे उसकी लम्बाई और चौड़ाई अलग-अलग उत्पन्न करती है।
कात्यायन शुल्वसूत्र में इस बात को स्पष्ट किया है कि यदि लंबाई और चौड़ाई ज्ञात हो तो कर्ण (Hypotenuse) क्या होगा।

१. यदि चौड़ाई १ हो और लंबाई ३ हो तो इसका कर्ण १० का वर्गमूल होगा।
   $१^२ + ३^२$ = १० का वर्गमूल
   अर्थात १×१ = १ और ३×३ = ९, इस प्रकार १+९ = १०
२. इसी प्रकार यदि किसी आयत की चौड़ाई २ पद और लंबाई ६ पद होगी तो उसका कर्ण ४० का वर्गमूल होगा। २ और ६ का वर्ग निकालकर जो जोड़ होगा, वह कर्ण का वर्ग होगा।

$२^२ \times ६^२ = ४०$

अर्थात $२ \times २ = ४$, $६ \times ६ = ३६$, $४+३६ = ४०$

शुल्वसूत्रों में कर्ण के लिए 'करणी' शब्द का प्रयोग है। शुल्व और शुल्ब शब्द यह दोनों प्रकार से लिखा जाता है।

1.5 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई मे आपने 'वैदिक गणित का उद्भव एवं विकास' का अध्ययन किया। आपने जाना कि भारत में गणित का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। यह जानकारी वैदिक ग्रन्थों से प्राप्त होता है। गणित एक ऐसा विषय है जिसकी व्यापकता सार्वभौम है। प्रकृति के अनेकों व्यवहार गणित की साहयता से ही सम्भव है। गणित को विज्ञान एवं तकनीकी का मेरुदण्ड कहा गया है।गणित को विज्ञान की आधारशिला कहा जाता है। गणित ही सृष्टि रचना के मूल में है। संसार की प्रत्येक वस्तु किसी नियम से बद्ध है, उसमें कोई क्रम है। उस नियम और क्रम का ज्ञान गणित का विषय है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में गति है। गति का सम्बन्ध गणना से होता है, और गणना गणित का विषय है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह एवं पृथिवी की गति के ज्ञान से ही सूर्योदय और सूर्यास्त, सूर्य-ग्रहण, चन्द्रग्रहण, भू-परिक्रमा आदि का ज्ञान होता है। पूरा ज्योतिष शास्त्र गणित पर निर्भर है। स्थान और समय का निर्धारण गणित के आधार पर ही होता है। गति की निरन्तरता का नाम समय है और गति का चतुर्दिक् प्रसार ही स्थान है। इनके ज्ञान के लिए गणित की आवश्यकता होती है।आचार्य लगध जी ने वेदांग ज्योतिष में गणितशास्त्र का महत्व बताते हुए कहा है कि-

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।।

अर्थात जिस प्रकार मयूरों की शिखाएँ और नागों की मणियाँ सर्वोच्च स्थान पर रहती है, ठीक उसी प्रकार सारे वेदांगों में गणित का स्थान सर्वोपरि है।भारत में गणितीय ज्ञान वैदिक काल से ही सर्वोपरि रहा है। प्रचलित संख्या पद्धति आधुनिक विश्व को भारतवर्ष की देन है। आज विश्व बौद्धिक समुदाय का एक बड़ा वर्ग हमारे वैदिक काल के समुन्नत ज्ञान को स्वीकार कर रहा है। ज्यामिति या रेखागणित (Geometry)की उत्पत्ति, भारतवर्ष में वैदिक यज्ञ वेदियों के निर्माण के प्रसंग में हुई।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

- वैदिक गणित – वेदों में वर्णित गणित
- निर्धारण - निश्चित करना
- समुन्नत – बहुत ऊँचा
- अज्ञात - बिना जाने
- ज्यामिति – गणित की वह शाखा है जिसमें रेखाओं, आकृतियों और सतहों का अध्ययन किया जाता है।
- अंकगणित – गणित की वह शाखा जिसमें संख्याओं का हिसाब किया जाए।

- बीजगणित – गणित की वह शाखा जिसमें संख्याओं के बजाय प्रतीकों का इस्तेमाल किया जाता है।

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिये।

1.'वैदिकगणित'पुस्तक का लेखक हैं।

(क) जगद्गुरू स्वामीभारती कृष्ण तीर्थ (ख) भास्कराचार्य
(ग) रामानुजन (ग) आर्यभट्ट

2. वैदिक गणित के मूल सूत्रों की संख्या है।

(क) १५ (ख) १६
(ग) १७ (घ) १८

3. दो या अधिक राशियों के जोड़ने को कहते हैं।

(क) गुणन (ख) घटाना
(ग) संकलित (घ) भाग

4. अंकगणित के परिकर्म हैं।

(क) ४ (ख) ६
(ग) ७ (घ) ८

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिये।

1. वैदिक एवं सूत्र ग्रंथों के बाद----------में भी अंकगणित की जानकारी प्राप्त होती है।
2. वेदों में रेखागणित सम्बन्धी सामग्री ---------- में मिलती है।
3. किसी राशि में से किसी राशि को घटाने को--------- कहते हैं।
4.किसी संख्या को किसी किसी संख्या से गुणा करने को -------- कहते हैं।

(3) सही गलत का चयन कीजिये।

1. घन एवं घनमूल का कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संकेत नहीं मिलता है, आर्यभट्ट, भास्कर आदि के ग्रन्थों में वर्ग के लिए 'कृति' शब्द का प्रयोग है। ( )
2. वेदों में 'भाग' शब्द का प्रयोग भाग या हिस्सा (Share) अर्थ में अनेक मंत्रों में हुआ है। ( )
3. अंकगणित में संख्याएँ व्यक्त नहीं होती हैं। ( )
4. वेदों में रेखागणित सम्बन्धी सामग्री सूत्ररूप में नहीं मिलती है। ( )

1.7अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क, ख, ग, घ
2. रामायण, सूत्ररूप, व्यकलित, गुणन
3. सही, सही, गलत, गलत

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वेदों में विज्ञान, लेखक डॉ कपिल देव द्विवेदी
2. वैदिक गणित, लेखक जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीभारती कृष्णतीर्थ जी महाराज

3. वेद विज्ञानश्री:, लेखक डॉ उर्मिला श्रीवास्तव
4. गणित का इतिहास, लेखक डॉ व्रज मोहन
5. वैदिक ज्ञान-विज्ञान, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय भारत सरकार

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. वैदिक गणित के उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालिए।
2. गणितशास्त्र का महत्व लिखिए।
3. रेखागणित के बारे में स्पष्ट कीजिए।
4. अंकगणित के बारे में स्पष्ट कीजिए।

इकाई 2 भारतीय गणित के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ परम्परा

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 भारतीय गणित के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ परम्परा

2.3.1 गणित शास्त्र का अर्थ

2.3.2 गणितशास्त्र का परिचय

2.3.3 आर्यभट्ट

2.3.4 वराहमिहिर

2.3.5 ब्रह्मगुप्त

2.3.6 महावीराचार्य

2.3.7 भास्कराचार्य

2.3.8 श्रीधर

2.3.9 नारायण पण्डित

2.3.10 माधव

2.3.11 नीलकंठ सोमयाजी

2.3.12 पंडित जगन्नाथ

2.3.13 बापूदेव शास्त्री

2.3.14 सुधाकर द्विवेदी

2.3.15 श्रीनिवास रामानुजन

2.4 सारांश

2.5पारिभाषिक शब्दावली

2.6अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई 'भारतीय गणित के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ परम्परा' से सम्बन्धित है।भारत मेंप्रारंभिक काल से ही गणित महत्वपूर्ण विषय रहा है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान की परम्परा में प्रारम्भ से ही गणित को समस्त शस्त्रों में शीर्षस्थ कहा जाता है। शिष्ट समाज से लेकर जंगलों में रहने वाली सभी जातियाँ अपने-अपने ढंग से कामकाज चलाने के लिए हिसाब लगाती हैं। संसार के प्रायः सभी देशों में गणित का प्रारम्भ अंकों तथा गिनती से ही हुआ है, यही गिनती कुछ काल पश्चात अंकगणित में परिणित हो गई तथा दीर्घकाल बिताने पर गणित रूपी वृक्ष की अनेक शाखाएँ बीजगणित, त्रिकोणमिति एवं ज्यामिति आदि रूप में विकसित हुई। गणितशास्त्र को सुगम एवं सरल बनाने में कई आचार्यों ने अपना योगदान दिया।उन्हीं में से कुछ प्रमुख आचार्यों एवं उनके ग्रन्थों से परिचित करवाना इस इकाई का ध्येय है।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- गणितशास्त्र के अर्थ को जानेंगे।
- गणितशास्त्र से परिचित होंगें।
- भारतीय गणित के प्रमुख आचार्य एवं उनके ग्रन्थों को जानेंगे।
- गणितशास्त्र के प्रति रुचि उत्पन्न होगी।
- जीवन में गणित की उपयोगिता को समझेंगे।

2.3 भारतीय गणित के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ परम्परा

भारतीय ज्ञान-विज्ञान की परम्परा में प्रारम्भ से ही गणित को समस्त शस्त्रों में शीर्षस्थ कहा जाता है। आचार्यों का कथन है कि त्रैलोक्य में कुछ भी गणित के बिना सम्भव नहीं है। गणित के द्वारा गति का आकलन किया जाता है। वेदांग ज्योतिष में गणितशास्त्र का महत्व बताते हुए कहा गया है कि-

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।। वेदाङ्गज्योतिष (याजुष)४

अर्थात जिस प्रकार मयूरों की शिखाएँ और नागों की मणियाँ सर्वोच्च स्थान पर रहती है, ठीक उसी प्रकार सारे वेदांगों में गणित का स्थान सर्वोपरि है।गणितशास्त्र के मर्मज्ञ महावीराचार्य ने (लगभग ८५० ई०) ने अपने ग्रन्थ 'गणितसारसंग्रह' में कहा है कि-

बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत् किंचिद् वस्तु तत् सर्वं गणितेन विना न हि।।

अर्थात अधिक गुणगान से क्या लाभ। इस चराचर जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके मूल में गणित न हो। गणित ज्ञान और विज्ञान की सभी शाखाओं का आधार है।

2.3.1 गणित शास्त्र का अर्थ

गणित का अर्थ है, जिसमें गणना की जाती है। इसी अर्थ में मित अर्थात 'नापा हुआ' और संख्यात अर्थात 'गिनती किया हुआ' शब्दों का भी प्रयोग कभी-कभी होता रहा है। किन्तु नाम प्रायः 'गणित' ही रहा है। गणित शब्द की व्युत्पत्ति गण् धातु से क्त प्रत्यय लगाकर की गई है। गण् धातु का अर्थ है 'गिनना' । क्त का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है, लेकिन 'गणित' शब्द के साथ निम्नलिखित अर्थों में किया जाता है-

१. भूतकालिक अर्थ अर्थात् गिना हुआ जैसे,

तस्माद्विक्रयः पण्यानां धृत्तो मितो गणितो वा कार्यः (कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ० ११०)

अर्थात विक्रयार्थ वस्तुओं को तोलकर, नाप कर अथवा गिनकर विक्रय करें। अमरकोष में भी कहा गया है 'संख्यातम् गणितम्' अर्थात् गणित का अर्थ है संख्या किया हुआ।

२. गणना अथवा हिसाब जैसे, गणित करके बताओ।

३. ज्योतिष, जिसमें प्रारम्भिक अंकगणित भी सम्मिलित था। क्योंकि वह उसका साधन था।

४. ग्रहगणित ज्योतिष की तीन शाखायें मानी जाती हैं। १. गणित अर्थात् ग्रहगणित, २. संहिता अर्थात सामान्य फलित ज्योतिष, ३. होरा अर्थात जातक शास्त्र जिसमें जन्मकाल की ग्रह-स्थिति के फलों का विवरण दिया रहता है।

पाणिनि के 'गण् संख्याने' अर्थात् गणधातु का अर्थ है संख्यान इस उक्ति से ही यह प्रतीत होता है कि संख्यान शब्द प्राचीन समय में गणना या गणित से अधिक प्रचलित था। बौद्धकाल में तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसका बाहुल्य रूप से प्रयोग हुआ है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में एकाउण्टेंट के लिए संख्यायक शब्द आया है। परवर्ती काल में संख्यान शब्द केवल गणना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। जैसे-

लौकिके वैदिके वापि तथा सामयिकेऽपि यः ।
व्यापारस्तत्र सर्वत्र संख्यानमुपयुज्यते ।। (गणित सार० सं०)

गणित की प्रशंसा में यह वचन महावीराचार्य का है। वह कहते हैं कि लौकिक, वैदिक तथा अन्य सब प्रकार के सामयिक कृत्यों में संख्यान (गणना) का प्रयोग किया जाता है। गणना और गणित के शब्दार्थ मात्र से यह प्रतीत होता है कि गणना गिनने की क्रिया तथा गणित उसका फल है। जैसे- गिनने वाले णे २० आम गिने और कह दिया २०, यहाँ गिनने की क्रिया गणना से तथा २० गणित शब्द का वाच्यार्थ है।

गणना का प्रारम्भिक अर्थ गिनना अथवा गिनती ही था बाद में उसका गणित की प्रक्रियाओं द्वारा हिसाब लगाना अर्थ भी हो गया। आज भी जनगणना, पशुगणना आदि शब्दों में गणना का प्रारम्भिक अर्थ सुरक्षित है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में आया है **'विव्वस्त गणनां च कुर्यात्'** अर्थात टूटे हुए हथियारों का हिसाब रखें, इसमें भी गणना का उपरोक्त अर्थ ही है।

2.3.2 गणितशास्त्र का परिचय

भारतीय वैदिक साहित्य में गणित के ज्ञान का पर्याप्त परिचय मिलता है। गणित शास्त्र का प्रयोग सार्वभौम है। शिष्ट समाज से लेकर जंगलों में रहने वाली सभी जातियाँ अपने-अपने ढंग से कामकाज चलाने के लिए हिसाब लगाती हैं। संसार के प्रायः सभी देशों में गणित का प्रारम्भ अंकों तथा गिनती से ही हुआ है, यही गिनती कुछ काल पश्चात अंकगणित में परिणित हो गई तथा दीर्घकाल बिताने पर गणित रूपी वृक्ष की अनेक शाखाएँ बीजगणित, त्रिकोणमिति एवं ज्यामिति

आदि रूप में विकसित हुई। भारतीय परम्परा में गणित, नाट्यशास्त्र आदि का स्रोत यज्ञ रहा है। भिन्न-भिन्न देवताओं के पूजा समारोहों से ही प्राचीन ग्रीस में भी गणित और नाट्य आदि का विकास हुआ है। यज्ञ आदि हेतु वेदियों का निर्माण किया जाता था। यज्ञकाल के लिए उचित गणना की जाती थी, जैसे ज्योतिष सम्बन्धी गणना, गति, स्थिति आदि की आवश्यकता पड़ती थी। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन है। गणक, गण, गण्या आदि शब्द ऋग्वेद में मिलते हैं। गणित नक्षत्र विद्या के अंतर्गत आता था। यज्ञों को यथाकाल करने से ही शुभ फल की प्राप्ति तथा अनिष्टों की निवृत्ति होती थी। उचित काल जानने के लिए ज्योतिष की आवश्यकता पड़ी तथा उसका सम्यक ज्ञान नक्षत्र, वेध और ग्रहगणित से ही संभव था।

गणित की आवश्यकता विभिन्न क्षेत्रों में होती है, जैसे विज्ञान, इंजीनियरिंग, अर्थशास्त्र, और तकनीकी अनुप्रयोगों में इत्यादि। यह शास्त्र केवल संख्याओं तक सीमित नहीं है, अपितु यह सिद्धांतों, सूत्रों, और अवधारणाओं के माध्यम से विभिन्न प्रकार की समस्याओं का समाधान निकालने के लिए एक व्यवस्थित पद्धति प्रदान करता है।

गणित के कुछ प्रमुख क्षेत्र हैं-

संख्याशास्त्र (Number Theory)यह संख्याओं और उनके गुणों का अध्ययन करता है, जैसे प्रधान संख्याएँ, पूर्णांक, और विभाजन आदि।

बीजगणित (Algebra)इसमें संख्याओं और प्रतीकों का प्रयोग करके समीकरणों का हल निकाला जाता है।

ज्यामिति (Geometry)यह रूपों, आकारों, और उनके गुणों का अध्ययन करता है, जैसे कि त्रिकोण, वृत्त, समतल, और ठोस आकार।

कलन (Calculus)यह शास्त्र परिवर्तन और गति के अध्ययन से संबंधित है। इसमें अवकलन (Differentiation) और समाकलन (Integration) की प्रक्रियाएँ शामिल हैं, जो निरंतर बदलती स्थितियों का अध्ययन करती हैं।

सांख्यिकी (Statistics)यह डेटा के संग्रह, विश्लेषण और व्याख्या के लिए विधियाँ प्रदान करता है।

संभाव्यता (Probability)यह घटना के घटित होने की संभावना का अध्ययन करता है।

गणित का इतिहास बहुत प्राचीन है और इसकी जड़ें विभिन्न सभ्यताओं में पाई जाती हैं, जैसे प्राचीन मिस्र, ग्रीस, भारत, और चीन । गणित ने सभ्यता के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

2.3.3 आर्यभट्ट

आर्यभट्ट का जन्म कुसुमपुर (पटना) में ४७६ ई० में हुआ था। इन्होंने अपने ग्रंथों में गणितीय सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ **'आर्यभटीयम्'** है। इस ग्रन्थ की रचना पद्धति वैज्ञानिक है तथा यह चार भागों में विभाजित है- जिनमें दो पाद गणित विषयक तथा खगोलविषयक हैं। इन्होंने अंकगणित, बीजगणित, ज्यामिति और त्रिकोणमिति के ३३ सूत्र दिए हैं।इन्होंने संख्या लिखने की अनोखी रीति का निर्माण किया। जैसे- क से प्रारम्भ करके वर्ग अक्षरों को वर्ग स्थानों और अवर्ग अक्षरों को अवर्ग स्थानों में व्यवहार करना चाहिए। इसी प्रकार ङ और म मिलकर य होता है। वर्ग और अवर्ग स्थानों के अंत के पश्चात दोहरानी चाहिए। इकाई, सैकड़ा, दस

हजार व दस लाख आदि विषम स्थानों को वर्ग स्थान और दहाई, हजार, लाख आदि स्थानों को अवर्ग स्थान कहते हैं। जैसे-

क-१ ख-२ ग-३ घ-४

ङ-५ च-६ छ-७ ज-८

झ-९ ञ-१० ट-११ठ-१२

ड-१३ ढ-१४ ण-१५ त-१६

थ-१७ द-१८ ध-१९ न-२०

प-२१ फ-२२ ब-२३ भ-२४

म-२५ य-३० र-४० ल-५०

व-६० श-७० ष-८०

स-९० ह-१००

इसी प्रकार

अ = १

इ = १००

उ = $१००^२$ = १०,०००

ऋ = $१००^३$ = १०,००,०००

ऌ = $१००^४$ = १०,००,००,०००

पाई का सूक्ष मान – दो आयुत (२०,०००) विष्क्रम्भ व्यास वाले वृत्त की परिधि का आसन्नमान ६२,८३२ होता है।

$$\frac{६२,८३२}{२०,००} = ३.१४१६ = \pi$$

वर्गमूल-

भागं हरेदववर्गान्नित्यं द्विगुणेन वर्गमूलेन।
वर्गादवर्गे शुद्धे लब्धं स्थानान्तरे मूलम्।।

अर्थात अंतिम वर्ग स्थान में से बड़ी से बड़ी जो वर्ग संख्या घट जाए, उसे घटा दो। सर्वदा वर्गमूल के दोगुने से अवस्थित को भाग दो। भाग करने से प्राप्त लब्धि के वर्ग स्थानों से घटाओ। अलग पंक्ति में रखी हुई संख्या वर्गमूल सूचित करती है।

घनमूल- अंतिम घन स्थान में से सबसे बड़ी संख्या घटाओ। उसके बाद द्वितीय अघन स्थान से आरम्भ करके जो संख्या बाईं ओर हो उसे घनमूल के वर्ग के तिगुने से भाग दो। इसके बाद प्रथम घन से आरम्भ करके बायीं ओर जो संख्या हो उसमें से त्रिगुणित घनमूल के गुणनफल को तथा अगले घन स्थान से लब्धि के घन को घटाओ।

बीजगणितीय प्रक्रियाएँ-जैसेदो वणिकों के पास कुछ गायें तथा कुछ नकद रुपया है। पहले के पास १०० रुपये तथा ६ गायें तथा दूसरे के पास ६० रुपये व ८ गायें हैं। यदि दोनों की धनराशियाँ, जिसमें गायों का मूल्य भी सम्मिलित है, बराबर हों तो दोनों के पास कुल कितनी संपत्ति है?

अर्थात १०० + ६ य = ६० + ८ य

२ य = ४०, य = २०, उत्तर = २२०

रेखागणितीय प्रक्रियाएँ- जैसे परिधि के छठे भाग की ज्या उसकी त्रिज्या के समान होती है। इसी प्रकार यदि वृत्त का व्यास बीस हजार हो तो उसकी परिधि ६२८३२ होती है।

आर्यभट्ट ने वर्गक्षेत्र, घनमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल, शंकु, गोल एवं कर्णों के संपात आदि के साधारण नियम दिये हैं।

2.3.4 वराहमिहिर

आचार्य वराहमिहिर प्रख्यात ज्योतिषशास्त्र एवं गणितशास्त्र के ज्ञाता थे। ज्योतिष की तीनों शाखाओं पर इनके ग्रन्थ हैं। इन्होंने स्वयं अपने काल का उल्लेख नहीं किया है पर अपने ग्रन्थ **'पञ्चसिद्धान्तिका'** में गणितारम्भ वर्ष शके ४२७ माना है। यदि 'पञ्चसिद्धान्तिका' ४२७ में बनाई हो तो इनका जन्म शके ४०७ से पूर्व होना चाहिए क्योंकि २० वर्ष से कम अवस्था में ऐसा ग्रन्थ बनाना असम्भव है। बृहज्जातक में इन्होंने अपने सम्बन्ध में कहा है-

आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः काम्पिल्लके सवितृलब्धवरप्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार।।

अर्थात् काम्पिल्ल (कालपी) नगर में सूर्य से वर प्राप्त कर अपने पिता आदित्यदास से ज्योतिषशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की, अनन्तर उज्जैनी में जाकर रहने लगे और वहीं पर बृहज्जातक की रचना की। यह त्रिस्कन्ध ज्योतिषशास्त्र के रहस्यवेत्ता, नैसर्गिक कविता-लता के प्रेमाश्रय कहे गये हैं। आचार्य वराहमिहिर द्वारा अपने पिता की स्मृति में स्थापित 'कापित्थका गुरुकुल' ७०० वर्षों तक गणित का विख्यात केंद्र रहा है। गणित के इतिहास में यह 'उज्जैन गुरुकुल' के नाम से जाना जाता है। कापित्थका गुरुकुल का गणित के विकास में अति महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ब्रह्मगुप्त, महावीराचार्य एवं भास्कराचार्य इसी गुरुकुल के उद्भट गणितज्ञ रहे हैं।

आचार्य वराहमिहिर की मृत्युकाल के विषय में एक वाक्य प्रचलित है-

नवाधिकपञ्चशतसंख्यशाके वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः।

2.3.5 ब्रह्मगुप्त

ब्रह्मगुप्त का जन्म राजस्थान के भीनमाल नामक स्थान में ५९८ ई० में हुआ था। इन्होंने **"ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त"** और **"खण्डखाद्य"** की रचना की है। इन्होंने शून्यपरिकर्म, क्षेत्रमिति के उच्च नियम, बीजगणित तथा अनन्तरराशि के नियम समझाये।**"ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त"** में २१ अध्याय हैं जिनमें दो अध्याय गणित पर तथा शेष ज्योतिष सम्बन्धी हैं। इन अध्यायों में अंकगणित, बीजगणित तथा ज्यामिति के सूत्र हैं।

परिकर्मविंशतिमिमां संकलिताद्यां पृथग्विजानाति।
अष्टौ व व्यवहारान् छायान्तान् भवति गणकः सः।।(ब्रा० स्फु० सि०)

अर्थात संकलित आदि गणित की २० क्रियाओं तथा ८ व्यवहारों को जो जानता है वही गणक है। वैदिक काल में गणक, ज्योतिषी को कहते थे किन्तु अब गणित स्वतंत्र सत्ता रखने लगा।

परिकर्म- संकलित, व्यवकलित, प्रत्युत्पन्न, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबंध जाति, भागापवाह जाति, भागमाता जाति, त्रैराशिक, व्यस्तत्रैराशिक, पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, एकादशराशिक तथा भांडप्रतिभांड।

व्यवहार- मिश्रक, श्रेढी, क्षेत्र, खात, चिति, क्राकचिक, राशिक और छाया।

बीजगणित पर सर्वप्रथम **"ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त"** का कुट्टक अध्याय मिलता है उस समय कुट्टक-समीकरण (Indeterminate equation) के साधनको अत्यंत महत्वपूर्ण समझा जाता था। बीजगणित को कुट्टक कहा गया है। उदाहरण-

अवयक्तान्तरभक्तं व्यस्तं रूपान्तरं स्मेऽव्यक्तः। (ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त)

अर्थात् अचरों के अंतर को गुणांकों के अंतर से भाग देने पर अव्यक्त का नाम व्यक्त हो जाता है।

जैसे- कय + ख = गय = घ तो य = $\frac{\text{घ}-\text{ख}}{\text{क}-\text{ग}}$

इन्होंने समखात (Prism) सूची (Cone या Pyramid) के घनफल निकालने का नियम बताया। इन्होंने गुणोत्तर श्रेणी के योग के नियम दिये। इस उदाहरण में अंत्यधन अंतिम पद के लिए गुण सार्व अनुपात के लिए तथा गु, गुणधन (Common ratio)के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

श्रेणी योग =

$$\frac{\text{आ} - \text{गु}^{\text{स-१}} \times \text{गु- आ}}{\text{गु} - \text{१}}$$

$$\frac{\text{आ} - \text{गु}^{\text{स}} - \text{१}}{\text{गु-१}}$$

यहाँ अंत्यधन आ गु-१ है।

यूक्लिड का प्रमेय (Euclid's theorem) यदि दो जीवाएँ परस्पर एक-दूसरे को काटती हों तो एक के अन्तः खंडों की गुणा दूसरे के अन्तः खंडों की गुणा के बराबर होती है।

पाइथागोरस प्रमेय यह प्रमेय शुल्वकाल में ही भारत में ज्ञात था परन्तु ब्रह्मगुप्त ने इसे विस्तृत रूप से वर्णित किया-

कर्णकृतेः कोटिकृतिं विशोध्य मूलं भुजो भुजस्य कृतिम्।
प्रोह्य पदं कोटि कोटिबाहुकृतियुतिपदं कर्णः।।

अर्थात- कर्ण^{२} - कोटि^{२} = भुज^{२}
कर्ण^{२} - भुज^{२} = कोटि^{२}
कोटि^{२} - भुज^{२} = कर्ण^{२}

ब्रह्मगुप्त ने चतुर्भुज के परिगत वृत की त्रिज्या निकालने का भी नियम बताया है।

2.3.6 महावीराचार्य

ब्रह्मगुप्त के उपरान्त दक्षिण के प्रसिद्ध जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ८५० ई० में हुए। इन्होंने गणित के अनेक नवीन सिद्धान्त निकाले। इनकी बनाई हुई **'गणितसार-संग्रह'** अंकगणित की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में से एक है। इनके द्वारा बताये गये सिद्धान्त कुछ इस प्रकार से हैं-

लघुत्तम समापवर्त्य (Lowest Common Multiple) का नियम आविष्कृत किया जिसको उन्होंने निरुद्ध शब्द से द्योतित किया-

छेदापवर्तकानां लब्धानां चाहतौ निरुद्धः स्यात्।

अर्थात छेदों (Denominator) के अपवर्तकों अर्थात् समापवर्तकों तथा उनसे प्राप्त लब्धियों को परस्पर गुणा करने से निरुद्ध प्राप्त होता है। यूरोप में इस विधि पता १५वीं शती में चला।

ब्रह्मगुप्त और महावीर दोनों ने चतुर्भुज के क्षेत्रफल का यह निम्न नियम दिया था, जो कि केवल वृत्तांतर्गत चतुर्भुज के विषय में शुद्ध है-

√ स (स-अ) (स-ब) (स-च) (स-द)

भिन्नो, श्रेढियों तथा अंकगणितीय प्रश्नों का विशद और विस्तृत रूप गणितसारसंग्रह में मिलता है।

आयातवृत्त (दीर्घवृत्त) का क्षेत्रफल – दीर्घाक्ष में अर्धलघ्वक्ष को जोड़ें तथा २ से गुणा करें। इस प्रकार दीर्घवृत्त की परिधि ज्ञात होती है। पुनः १/२ लघ्वक्ष को परिधि से गुणा करने पर उसका क्षेत्रफल प्राप्त होता है लेकिन यह नियम स्थूल है।

2.3.7 भास्कराचार्य

भास्कराचार्य ज्योतिषशास्त्र एवं गणितशास्त्र के असाधारण विद्वान हुए हैं । भारत ही नहीं अपितु बाहर भी इनकी कीर्ति लगभग ७०० वर्षों से फैली हुई है । **'सिद्धान्तशिरोमणि'** और **'करणकुतूहल'** नामक इनके दो गणित ज्योतिष ग्रन्थ हैं । इन्होंने सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में लिखा है-

रसगुणपूर्णमही १०३६ समशकनृपसमयेऽभवन्ममोत्पत्तिः ।
रसगुणवर्षेण मया सिद्धान्तशिरोमणि रचितः ।।५८।।

इससे यह ज्ञात होता है कि इनका जन्म शके १०३६ में हुआ और इन्होंने ३६ वर्ष की अवस्था में **'सिद्धान्तशिरोमणि'** की रचना की **'करणकुतूहल'** में आरम्भ वर्ष ११०५ है अर्थात वह उसी समय लिखी गयी है । इनके पिता का नाम महेश्वर उपाध्याय था । इन्होंने एक स्थान पर लिखा है-

आसीन्महेश्वर इति प्रथितः पृथिव्यामाचार्यवर्यपदवीं विदुषां प्रपन्नः ।
लब्धावबोधकलिकां तत एव चक्रे तज्जेन बीजगणितं लघुभास्करेण ।।

इससे स्पष्ट है कि महेश्वर इनके पिता और गुरु दोनों ही थे । इनके द्वारा रचित लीलावती, बीजगणित, सिद्धान्तशिरोमणि, करणकुतूहल और सर्वतोभद्र ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं ।

ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त और पृथूदक स्वामी के भाष्य को मूल मानकर इन्होंने अपना सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ का निर्माण किया । तथा आर्यभट्ट, लल्ल, ब्रह्मगुप्त आदि के मतों की समालोचना की है ।

लीलावतीग्रन्थ में उन्होंने अंकगणित, बीजगणित और ज्यामिति के सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। लीलावती भास्कराचार्य की पुत्री का नाम था। इस ग्रन्थ के अनेक अनुवाद अनेक भाषाओं में हो चुके हैं। लीलावती में पूर्णाक और भिन्न, त्रैराशिक, ब्याज, व्यापार गणित, मिश्रण, श्रेणियाँ और श्रेढियाँ, क्रमचय (Permutations),मापिकी और थोड़ा सा बीजगणित। लीलावती की भाषा साहित्यिक है।

भास्कराचार्य की द्वितीय पुस्तक बीजगणित है जिसमें ५ प्रकरण हैं- करणियाँ, शून्य, गणित, सरल, समीकरण, वर्गसमीकरण तथा कुट्टक।

१. ऋण राशियाँ बताने के लिए ऊपर बिंदी लगाना। यथा, -क = कं आदि।
२. अज्ञात राशि के लिए यावत्तावत् का प्रयोग करना।
३. अज्ञात राशियों के लिए रंगों के नामों का प्रयोग करना जैसे- कालक (का), नीलक (नी), पीतक (पी), रुपक (रु) आदि।
४. एकघात अनिर्णीत समीकरण, युगपद एकघात समीकरण तथा द्विघात समीकरणों का साधन।
५. अनिर्णीत वर्ग समीकरण की विधि बहुत ही प्रतिभापूर्ण व मौलिक है जैसे-
   क य^{२} + १ = र^{२}इसका नाम इन्होंने चक्रवाल विधि (Cyclic Method) रखा है।

खयोगे वियोगे धनर्णं तथैव च्युतं शून्यतस्तद्विपर्यासमेति।

अर्थात शून्य को किसी राशि में जोड़ने अथवा शून्य में किसी राशि को जोड़ने अथवा शून्य को किसी राशि में से घटाने से राशि में कोई परिवर्तन नहीं होता।

० + अ = अ, अ + ० = अ, अ - ० = अ, लेकिन ० – अ ∞ अ बल्कि ० – अ = -अ

भास्कराचार्य के ग्रन्थ '**लीलावती**' पर जितनी भी टीकाएँ हुई, उन सबके टीकाकार भी गणित परम्परा के आचार्य माने जाने लगे, जैसे- गंगाधर (१४२०ई०) ने गणितमृतसागरी तथा अमृतसागरी, गणेश (१५०७ ई०) ने बुद्धिविलासिनी, सूर्यदास (१५०७ ई०) नेगणितामृतकूपिका,कृष्ण (१५८४ ई०) ने बीजपल्लव या कल्पलतावतार, रंगनाथ (१६४३ ई०) ने मितभाषिणी, रामकृष्ण ने बीजप्रबोध इत्यादि टीकाएँ लिखीं।

2.3.8 श्रीधर

श्रीधराचार्य बीजगणित के असाधारण आचार्य हुए। इन्होंने त्रिशतिका, पाटीगणित एवं बीजगणित (लुप्त) लिखकर गणित पद्धति को आगे बढ़ाया। इनका काल ७५० ई० के आस-पास माना जाता है। त्रिशतिका में ३०० श्लोक हैं जिनमें श्रेढ़ी व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार, चिति व्यवहार, राशि व्यवहार व छाया व्यवहार का वर्णन है। श्रीधर ही अकेले ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने बीजगणित विषय का ज्यामितीय उपचार किया।

2.3.9 नारायण पण्डित

नारायण पंडित का समय १३५६ ई० माना जाता है। इनके पिता का नाम नृसिंह दैवज्ञ था। इन्होंने गणित शास्त्र के दो ग्रंथों की रचना की- गणितकौमुदी और बीजगणितावतंस। गणितकौमुदी को १३५६ ई० की रचना माना जाता है। इस ग्रन्थ में १४ अध्याय हैं। इसमें अंकगणित के आठ परिकर्म जो कि प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलते हैं, इसके अतरिक्त श्रेढि का भी प्रयोग किया गया है। इन्होंने त्रिभुजात्मक अंकों (Triangular numbers) के योग की पद्धति का निर्माण किया। बीजगणित में बीजगणितीय समस्याओं के साथ-साथ लगभग मान (approximate values) और अवर्गात्मक संख्याओं के वर्गमूल निकालने की विधि प्रस्तुत की है।

2.3.10 माधव

आचार्य माधव का समय १४००ई० माना जाता है। इनका निवास स्थान केरल था। इन्होंने वेण्वारोह ग्रन्थ क रचना की। के. वी. शर्मा ने मलयाली टीका के साथ १९५६ में इसे संपादित किया। इनका प्रमुख योगदान गोलीयखगणित (Spherical astronomy) के क्षेत्र में है इसलिए ये गोलवित् के नाम से जाने जाते हैं। विद्वता के कारण इनके परिवार को बकुलविहारम् उपाधि से भूषित किया गया था। वेण्वारोह चन्द्रमा की स्पष्ट गतियों को प्रस्तुत करने वाला गणितीय ग्रन्थ है जिसमें त्रिकोणमिति की सूक्ष्मताएँ तथा पाई (π) सूक्ष्म मान का विचार किया गया है। नीलकंठ ने माधव को बार-बार उद्धृत किया है।

2.3.11नीलकंठ सोमयाजी

नीलकंठ सोमयाजी अथवा नीलकंठ सोमसुत्वन १४४३-१५४३ ई० के एक प्रमुख ज्योतिर्विद् थे परन्तु इनका गणित के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। यह दक्षिण मालाबार के त्रिक्कट्यूर स्थान के केल्लालूर परिवार के नम्बूदिरी ब्राह्मण थे। इन्होंने अप् को भट्ट, गर्ग गोत्रीय तथा आश्वलायन परम्परा का बताया है। इनके पिता का नाम जातदेव था। ये भगवान शिव के अनन्य भक्त थे। इन्होंने शिक्षा गुरु दामोदर से ली। इन्होंने आर्यभटीयभाष्य तथा तंत्रसंग्रह नाम का मूल ग्रन्थ लिखा। तंत्रसंग्रह में इन्होंने गणितीय प्रक्रियाओं, बीजगणितीय समस्याओं और ज्यामिति पर प्रकाश डाला। ज्योतिर्विज्ञान में इनके अन्य ग्रन्थ गोलसार, चंद्रच्छायागणित तथा चंद्रच्छायागणितटीका हैं।

2.3.12 पंडित जगन्नाथ

पंडित जगन्नाथ ने राजा जयसिंह के साथ काम किया। इनका समय १६५७-१७५० ई० है। ये बीस वर्ष की आयु में जयसिंह के पास आए और खगोल व गणित का अध्ययन किया। ये संस्कृत, फारसी और अरबी भाषा के विद्वान थे। इन्होंने यूक्लिड की ऐलीमेंट्स का फारसी से संस्कृत भाषा में अनुवाद किया। इनकी पुस्तक का नाम रेखागणित है। वर्तमान रेखागणित की हिन्दी शब्दावली इसी पुस्तक पर आधारित है। इनका दूसरा ग्रन्थ सिद्धान्त सम्राट है जो कि १७३१ टॉल्मी (Ptolemy) के अलमेजिस्ट (Almagest) का संस्कृत अनुवाद है।

2.3.13 बापूदेव शास्त्री

बापूदेव शास्त्री का जन्म महाराष्ट्र प्रांत के अहमदनगर जिले में गोदा नदी के किनारे टोंके गाँव में १८२१ ई० में हुआ। इन्होंने नागपुर में ढुण्ढिराज मिश्र से बीजगणित, लीलावतीतथा सिद्धान्तशिरोमणि का अध्ययन किया और अंत में काशी आकर संस्कृत कॉलेज में गणित के अध्यापक हुए। इन्हें महामहोपाध्याय की पदवी प्राप्त हुई। इन्होंने रेखागणित प्रथमाध्याय, त्रिकोणमिति, प्राचीन ज्योतिषाचार्याशयवर्णन, अष्टादशविचित्रप्रश्नसंग्रह- सोत्तर, तत्त्वविवेकपरीक्षा, मानमन्दिरस्थयंत्रवर्णन और अंकगणित की रचना की। ये सब संस्कृत भाषा में हैं और प्रकाशित ह चुके हैं।

2.3.14 सुधाकर द्विवेदी

सुधाकर द्विवेदी का जन्म शक समवत् १७८२ (१८६०) चैत्र शुक्ल ४, सोमवार को हुआ। इन्हें महामहोपाध्याय की पदवी मिली थी। गणितशास्त्र को दिया गया इनका योगदान महत्वपूर्ण है।

१. दीर्घवृत्तलक्षणम् (शक १८००)- इसमें दीर्घवृत्त के लक्षण व नियम सोपपत्तिक विस्तारपूर्वक बताये गये हैं।
२. विचित्रप्रश्नसमंग-इसमें ग्रहण करने की विधि बतायी है।
३. ग्रहणकरण- इसमें ग्रहण करने की विधि बतायी है।
४. गोलीयरेखागणित- यह ज्यामिति का ग्रन्थ है। इसके अतरिक्त इन्होंने सिद्धान्तज्योतिष सम्बन्धी वास्तवचंद्रशृंगोन्नतिसाधन,द्युचरचार, पिण्डप्रभाकर, भाभ्रमरेखानिरुपण और गणकतरंगिणी ग्रन्थों की रचना की। इन्होंने कई ग्रन्थों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखी।

2.3.15 श्रीनिवास रामानुजन

श्रीनिवास रामानुजन एक महान भारतीय गणितज्ञ थे। इन्हें आधुनिक काल के महानतम गणित विचारकों में गिना जाता है। इनका जन्म २२ दिसंबर १८८७ को दक्षिण भारत में स्थित कोयंबटूर के ईरोड नामके गाँव में हुआ था। इन्होंने बहुत कम आयु में ही गणित का कौशल प्राप्त कर लिया था। १२ वर्ष की आयु में इन्होंने त्रिकोणमिति में दक्षता प्राप्त कर लि थी। रामानुजन ने अपने ३२ वर्ष की अल्प आयु में ३९०० परिमाणों समीकरणों और सर्वसमिकाओं का संकलन किया है। उनके महत्वपूर्ण कार्यों में पाई (Pi) की अनंत श्रेणी सामिल थी। उन्होंने पाई के अंकों की गणना करने के लिए कई सूत्र प्रदान किए जो परम्परागत तरीकों से अलग थे।

रामानुजन के विविध कार्य क्षेत्र-

रामानुजन के कार्यों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जाता है-

१. निश्चयात्मक अवकलन-सूत्र (Definite integrals)
२. मॉडुलर समीकरण (Modular equations)
३. रीमान्स-जीटा फलन (Riemann's Zeta Furcation)
४. अनंत श्रेणियाँ (Infinite Series)
५. अनंत श्रेणियों का योग (Summation of Series)
६. एनालिटिक संख्या-शास्त्र (Analytic number theory)
७. अस्मटोटिक सूत्र (Asymptotic formula)
८. विभक्तियाँ (Partitions)
९. संयोजन-शास्त्र (Combinatorics)

रामानुज संख्याएँ- 'रामानुज संख्याएँ' उस प्राकृतिक संख्या को कहते हैं जिसे दो अलग-अलग प्रकार से दो संख्याओं के घनों के योग द्वारा निरूपित किया जा सकता है।

$९^३ + १०^३ = १^३ + १२^३ = १७२९$

2.4 सारांश

प्रारम्भिक काल से ही गणित महत्वपूर्ण विषय रहा है।भारतीय वैदिक साहित्य में गणित के ज्ञान का पर्याप्त परिचय मिलता है। भारतवर्ष में आर्यभट्ट,वराहमिहिर, भास्कराचार्य श्रीनिवास रामानुजन सहित अनेक विद्वान हुए। जिन्होंने भारतीय गणित की परम्परा को आगे बढ़ाया।

गणित शास्त्र का प्रयोग सार्वभौम है। शिष्ट समाज से लेकर जंगलों में रहने वाली सभी जातियाँ अपने-अपने ढंग से कामकाज चलाने के लिए हिसाब लगाती हैं। गणित की प्रकृति के अनुसार गणित विषय गणना का माध्यम है। गणित अन्य विषयों का आधार है। गणित की प्रशंसा में महावीराचार्य का कथन है कि-लौकिक, वैदिक तथा अन्य सब प्रकार के सामयिक कृत्यों में संख्यान (गणना) का प्रयोग किया जाता है। गणना और गणित के शब्दार्थ मात्र से यह प्रतीत होता है कि गणना गिनने की क्रिया तथा गणित उसका फल है। गणित को विज्ञान की आधारशिला कहा जाता है। गणित ही सृष्टि रचना के मूल में है। संसार की प्रत्येक वस्तु किसी नियम से बद्ध है, उसमें कोई क्रम है। उस नियम और क्रम का ज्ञान गणित का विषय है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में गति है। गति का सम्बन्ध गणना से होता है, और गणना गणित का विषय है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह एवं पृथिवी की गति के ज्ञान से ही सूर्योदय और सूर्यास्त, सूर्य-ग्रहण, चन्द्रग्रहण, भू-परिक्रमा आदि का ज्ञान होता है। पूरा ज्योतिष शास्त्र गणित पर निर्भर है। स्थान और समय का निर्धारण गणित के आधार पर ही होता है।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

- **बीजगणित**- गणित की वह शाखा जिसमें अमूर्त प्रतीकों या चिह्नों का प्रयोग करके समस्याओं का हल किया जाता है।
- **संख्या पद्धति-** कोई वस्तु कितनी है, यह जानने का प्रयास ही संख्या पद्धति के ज्ञान को ग्रहण करने का प्रयास है।
- **ज्यामिति-** गणित की वह शाखा जिसमें रेखाओं, आकृतियों और सतहों का अध्ययन किया जाता है।
- **अंकगणित-** गणित की वह शाखा जिसमें संख्याओं का हिसाब किया जाता है।
- **त्रिकोणमिति-** त्रिकोणमिति में त्रिभुजों की भुजाओं और कोणों के बीच के संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिए।

1. 'गणितसारसंग्रह' के रचयिता हैं।

(क) भास्कराचार्य (ख) आर्यभट्ट

(ग) महावीराचार्य (घ) रामानुजन

2. 'लीलावती' ग्रन्थ के रचयिता हैं।

(क) आर्यभट्ट (ख) वारहमिहिर

(ग) सुधाकर (घ) भास्कराचार्य

3. श्रीनिवास रामानुजन का जन्म हुआ था।

(क) जन्म २२ दिसंबर १८८७ (ख) जन्म २२ दिसंबर १८८८
(ग) जन्म २३ दिसंबर १८८७ (घ) जन्म २१ दिसंबर १८८०

4.आर्यभट्ट का जन्म कुसुमपुर (पटना) में हुआ था।
(क) ४४० ई० (ख) ४७६ ई०
(ग) ४५६ ई० (घ) ४६६ई०

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. श्रीनिवास रामानुजन एक महान भारतीय---------थे।
2.ब्रह्मगुप्त का जन्म राजस्थान के भीनमाल नामक स्थान में --------- ई० में हुआ था।
3. आचार्य माधव का समय १४००ई० माना जाता है। इनका निवास स्थान -------- था।
4.भारतीय ज्ञान-विज्ञान की परम्परा में प्रारम्भ से ही गणित को समस्त शस्त्रों में---कहा जाता है।

(3) सही गलत का चयन कीजिए।

1.गणित शब्द की व्युत्पत्ति गण् धातु से क्त प्रत्यय लगाकर की गई है। ( )
2.**"ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त"** में २१ अध्याय हैं जिनमें दो अध्याय गणित पर तथा शेष ज्योतिष सम्बन्धी हैं। इन अध्यायों में अंकगणित, बीजगणित तथा ज्यामिति के सूत्र हैं। ( )
3. ब्रह्मगुप्त के उपरान्त दक्षिण के प्रसिद्ध जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ८५१ ई० में हुए। ( )
4. 'गोलीयरेखागणित' यह ज्यामिति का ग्रन्थ है। ( )

2.6अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.ग, घ, क, ख,
2. गणितज्ञ, ५९८, केरल, शीर्षस्थ
3. सही, सही, गलत, सही

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वेदों में विज्ञान, लेखक डॉ कपिलदेव द्विवेदी
2. वेदविज्ञानश्री:, लेखक डॉ उर्मिला श्रीवास्तव
3. संस्कृत वाङमय में विज्ञान का इतिहास, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT)
4. प्राचीन भारतीय गणित, लेखक डॉ व० ल० उपाध्याय
5. गणित का इतिहास, लेखक डॉ ब्रज मोहन
6.अद्भुत गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजन, लेखक नरेन्द्र कुमार गोविल, भूदेव शर्मा)

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. गणित शास्त्र का परिचय दीजिए।
2. भास्कराचार्य का परिचय दीजिए।
3. आर्यभट्ट का परिचय दीजिए।
4. भारतीय गणित के प्रमुख आचार्यों का परिचय संक्षिप्त में दीजिए।

इकाई. 3 उत्तरवैदिक कालीन भारतीय गणित (जैन, बौद्ध आदि)

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 उत्तरवैदिक कालीन भारतीय गणित (जैन, बौद्ध आदि)

3.3.1 उत्तरवैदिक कालीन भारतीय गणित

3.3.2 जैन गणित का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

3.3.3 बौद्ध गणित का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

3.4 सारांश

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावन

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई 'उत्तरवैदिक कालीन भारतीय गणित जैन, बौद्ध आदि' से सम्बन्धित है। भारतीय ज्ञान परम्परा में 'वेद' को सर्वोपरि माना जाता है। वेद विश्व वांगमय मेंप्राचीनतम ज्ञान के रत्न हैं। वेदों में धर्म, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, आचारशास्त्र, आयुर्वेद, दर्शन, संगीत आदि समस्त विषयों का पर्याप्त वर्णन मिलता है। प्रचलित संख्या पद्धति आधुनिक विश्व को भारतवर्ष की ही देन है। वेदों में गणितशास्त्र से सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। उनमे एक संख्या से लेकर परार्द्ध संख्या तक का उल्लेख है। उनमे १० संख्या का महत्व, उसके गुणन, स्थानमान तथा भाग आदि का वर्णन है। वेदों में गणित शब्द का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन कुछ अन्य शब्द मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि गणना की विधि ज्ञात थी। गणित एक ऐसा विषय है जिसकी व्यापकता सार्वभौम है। गणित विज्ञान एवं तकनीकी का मेरुदण्ड है। इसीलिए वेदांग ज्योतिष में ऋषि लगध ने कहा है कि सभी वेदांग शास्त्रों के शीर्ष पर गणित उसी प्रकार सुशोभित है जैसे मोर के सिर पर शिखा तथा सर्प के फन पर मणि सुशोभित है। भारतीय गणित का शुभारम्भ 'ऋग्वेद' से माना जाता है।गणित के इतिहास को पाँच काल खण्डों में विभक्त किया गया है- १. आदिकाल (५०० ई.पू. तक) २. पूर्वमध्य काल (५०० ई.पू. से ४००ई. तक) ३. मध्यकाल अथवा स्वर्णकाल (४०० ई. से १२०० ई. तक) ४. उत्तरमध्य काल (१२०० ई. से १८०० ई. तक) ५. वर्तमान काल (१८०० ई. के पश्चात)।भारतीय गणित को आदिकाल से वर्तमान तक सुलभ एवं सुगम बनाने में गणितशास्त्र के आचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ८५० ई० में हुए। इन्होंने गणित के अनेक नवीन सिद्धान्त निकाले। इनकी बनाई हुई 'गणितसार-संग्रह' अंकगणित की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में से एक है।आगे चलकर गणित शास्त्र के आचार्यब्रह्मगुप्त हुये इनका जन्म राजस्थान के भीनमाल नामक स्थान में ५९८ ई० में हुआ था। इन्होंने "ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त" और "खण्डखाद्य" की रचना की है। इन्होंने शून्यपरिकर्म, क्षेत्रमिति के उच्च नियम, बीजगणित तथा अनन्तरराशि के नियम समझाये।

3.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- उत्तरवैदिक कालीन भारतीय गणित के बारे में जानेंगे।
- गणित को कितने काल खण्डों में विभक्त किया गया है? यह जानेंगे।
- जैन गणित का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य को जानेंगे।
- बौद्ध गणित का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य को जानेंगे।
- भारतवर्ष के महान गणितज्ञों के बारे में जानेंगे।
- भारतीय गणित के प्रति रुचि उत्पन्न होगी।

3.3 उत्तरवैदिक कालीन भारतीय गणित (जैन, बौद्ध आदि)

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रारम्भ से ही गणित को महत्वपूर्ण विषय माना गया है। गणित ज्ञान और विज्ञान की सभी शाखाओं का आधार है।वेदांग ज्योतिष में गणित का महत्व बताते हुए कहा गया है कि-

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।। वेदाङ्गज्योतिष (याजुष)४

अर्थात जिस प्रकार मयूरों की शिखाएँ और नागों की मणियाँ सर्वोच्च स्थान पर रहती है, ठीक उसी प्रकार सारे वेदांगों में गणित का स्थान सर्वोपरि है।गणितशास्त्र के मर्मज्ञमहावीराचार्य ने (लगभग ८५० ई०) अपने ग्रन्थ 'गणितसारसंग्रह' (अध्याय १,श्लोक ९-१९) में कहा है कि-

बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत् किंचिद् वस्तु तत् सर्वं गणितेन विना न हि।।

अर्थात् अधिक गुणगान से क्या लाभ। इस चराचर जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके मूल में गणित न हो। गणित ज्ञान और विज्ञान की सभी शाखाओं का आधार है।

वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान का स्रोत हैं। वेदों में गणितशास्त्र से सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। उनमे एक संख्या से लेकर परार्द्ध संख्या तक का उल्लेख है। उनमे १० संख्या का महत्व, उसके गुणन, स्थानमान तथा भाग आदि का वर्णन है। वेदों में गणित शब्द का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन कुछ अन्य शब्द मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि गणना की विधि ज्ञात थी। यजुर्वेद (३०,२०) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.४.१५) में गणक (गणना करने वाला, ज्योतिषी) शब्द मिलता है। गणनासूचक गण, गणपति, गणाश्रि, गणिन्, गण्य आदि शब्द ऋग्वेद और यजुर्वेद में अनेक मंत्रों में आये हैं। ऋग्वेद में 'व्रातव्रातम्, गणंगणम्' शब्द गणना के आधार पर किए गए समूहों या वर्गों के लिए हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद और अथर्ववेद में निधि, निधिपति, निधिपा शब्द कोष और कोषागार के अध्यक्ष के लिए हैं। ये कोष की गणना करते थे। यजुर्वेद में वित्तध शब्द भी कोषागार के अध्यक्ष के लिए आया है। यजुर्वेद में ज्योतिषी के लिए 'नक्षत्रदर्श' शब्द है और गणित विद्या जानने के कारण उसके ज्ञान की प्रशंसा की गयी है । छान्दोग्य उपनिषद् में सर्वप्रथम गणितशास्त्र का 'राशिविद्या' और ज्योतिष का 'नक्षत्रविद्या' नाम से उल्लेख है। वर्णन आता है कि सनत्कुमार के पूछने पर नारद जी ने बताया कि मैंने चारों वेद, इतिहास, पुराण, ब्रह्मविद्या आदि के साथ राशिविद्या और नक्षत्रविद्या का भी अध्ययन किया है। राशिविद्या शब्द अंकगणित के लिए है और नक्षत्रविद्या ज्योतिष के लिए है। इससे यह ज्ञात होता है कि अध्यात्म या पराविद्या के जिज्ञासु के लिए गणित और ज्योतिष का भी ज्ञान आवश्यक है।

भारतीय गणित का शुभारम्भ 'ऋग्वेद' से माना जाता है। गणित के इतिहास को पाँच काल खण्डों में विभक्त किया गया है-

१. आदिकाल (५०० ई.पू. तक)
   (क) वैदिक काल (१००० ई.पू. तक)
   (ख) उत्तरवैदिक काल (१००० ई.पू. से ५०० ई.पू. तक) उत्तर वैदिक काल को दो भागों में विभक्त किया गया है।

i. शुल्व एवं वेदांग ज्योतिष काल

ii. सूर्य प्रज्ञप्तिकाल

२. पूर्वमध्य काल (५०० ई.पू. से ४००ई. तक)

३. मध्यकाल अथवा स्वर्णकाल (४०० ई. से १२०० ई. तक)

४. उत्तरमध्य काल (१२०० ई. से १८०० ई. तक)

५. वर्तमान काल (१८०० ई. के पश्चात)

विश्व में लगभग सभी देशों में गणित का प्रारम्भ अंकों तथा गिनती से ही हुआ है, यही गिनती कुछ काल पश्चात अंकगणित में परिणित हो गई तथा दीर्घकाल बिताने पर गणित रूपी वृक्ष की अनेक शाखाएँ बीजगणित, त्रिकोणमिति एवं ज्यामिति आदि रूप में विकसित हुई।भारतीय परम्परा में गणित, नाट्यशास्त्र आदि का स्रोत यज्ञ रहा है। भिन्न-भिन्न देवताओं के पूजा समारोहों से ही प्राचीन ग्रीस में भी गणित और नाट्य आदि का विकास हुआ है। यज्ञ आदि हेतु वेदियों का निर्माण किया जाता था। यज्ञकाल के लिए उचित गणना की जाती थी, जैसे ज्योतिष सम्बन्धी गणना, गति, स्थिति आदि की आवश्यकता पड़ती थी। प्रायः गणित की आवश्यकता विभिन्न क्षेत्रों में होती है, जैसे विज्ञान, इंजीनियरिंग, अर्थशास्त्र, और तकनीकी अनुप्रयोगों में इत्यादि। यह शास्त्र केवल संख्याओं तक सीमित नहीं है, अपितु यह सिद्धांतों, सूत्रों, और अवधारणाओं के माध्यम से विभिन्न प्रकार की समस्याओं का समाधाननिकालने के लिए एक व्यवस्थित पद्धति प्रदान करता है।

3.3.1 उत्तरवैदिक कालीन भारतीय गणित

वेदों में उपलब्ध आख्यानों में रामायण, महाभारत एवं पुराणों की रचना हुई। दार्शनिक सूक्तों से दर्शनशास्त्र, धर्मसूत्रों से धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र तथा अर्थवादात्मक सूक्तों से काव्य साहित्य का उद्भव हुआ। वेदांगों से गणित-विज्ञान, खगोल विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, आयुर्विज्ञान, रसायनविज्ञान, भौतिकी, शिल्पविज्ञान आदि का उत्तरवर्ती विकास हुआ।

उत्तरवैदिक काल (१००० ई. पू. से ५०० ई.पू. तक)

i. शुल्व एवं वेदांग ज्योतिष काल-शुल्व वह (रस्सी) होती थी, जो यज्ञ वेदी का निर्माण करने के लिए माप में काम आती थी। शुल्व काल की विश्व को सबसे बड़ी देन रेखागणित के ज्ञान की नींव डालना है। प्रारम्भ से ही भारतवर्ष धर्मपरायण देश रहा है। प्राचीन भारत के लोगों का विश्वास था कि मोक्ष प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन यज्ञ है। यज्ञ भी अनेक प्रकार के होते हैं जैसे अश्वमेध यज्ञ, पुत्रेष्टि यज्ञ आदि। इन यज्ञों के लिए वेदियों के आकार प्रकार भी सुनिश्चित थे।शुल्व सूत्रों में रेखागणित के सूत्रों का विकास एवं विस्तार उपलब्ध होता है। इनमें तीन सूत्रकारों के नाम प्रमुख हैं- १. बोधायन, २. आपस्तम्ब और ३. कात्यायन।इनके अतरिक्त मैत्रायण, वाराह, मानव एवं बाधुल इस काल के प्रसिद्ध सूत्रकार हैं।

पाइथागोरस प्रमेय का ज्ञान- बोधायन के निम्नलिखित सूत्र में पाइथागोरस प्रमेय का ज्ञान अंतर्निहित है **"दीर्घचतुरश्रस्याक्ष्णया रज्जुः पाश्र्वमानी तिर्याङ्गानी च यत्पृयग्भूते कुरु तस्तदुभयं करोति।"**(बो० शुल्व सूत्र)

अर्थात् **दीर्घचतुरश्र** (आयत) की **तिर्याङ्गानी** (लम्ब) और **पाश्र्वमानी** (आधार) भुजायें जो दो वर्ग बनाती हैं उनके योग के बराबर अकेली **अक्ष्ण्यारज्जु** (कर्ण) वर्ग बनाती है। पेइथागोरस का समय ५४० ई०पू० है, जबकि बोधायन का समय लगभग १००० ई०पू० है।

बौधायन ने दो वर्गों के योग और अन्तर के बराबर वर्ग बनाने की विधि बताई है, और करणीगत संख्या का मान दशमलव के पाँच स्थानों तक निकालना भी बताया है। बौधायन ने अन्य करणीगत संख्याओं के मान भी दिये हैं। यज्ञों के लिए जिस प्रकार वेदी में माप हेतु रज्जु का प्रयोग किया गया और शुल्व सूत्रों के स्थापन हुई, ठीक उसी प्रकार यज्ञ के लिए समुचित काल हेतु ज्योतिष का भी विकास हुआ। अत: शुल्व काल को वेदांग ज्योतिष काल भी कहा जाता है। ज्योतिष के क्षेत्र में गणित का विकास काल-गणना की आवश्यकता को लेकर हुआ।

ii. सूर्य प्रज्ञप्तिकाल- सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चंद्रप्रज्ञप्ति ५००ई० पू० के प्रसिद्ध जैन धार्मिक ग्रन्थ हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति में 'दीर्घवृत' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, अर्थात् दीर्घ (आयत) पर बना परिवृत जिसको परिमण्डल के नाम से जाना जाता था। 'परिमण्डल' शब्द दीर्घवृत के लिए प्रयुक्त किया है जिसके दो प्रकार बताये गये हैं- १. प्रतरपरिमण्डल, २. घन परिमण्डल।जैनाचार्यों का गणित और ज्योतिष में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन आचार्यों ने तैशाशिक व्यवहार तथा मिश्रानुपात, लेकन पद्धति, बीजगणितीय समीकरण, विविध श्रेणियाँ क्रमचय-संचय, समुच्चय सिद्धान्त, घातांक एवं लघुगणक के नियम आदि विषयों पर प्रकाश डाला है। बौद्ध साहित्य में भी गणित को पर्याप्त महत्व दिया गया है। इसमें गणित को गणना तथा संख्यान (उच्चगणित) को दो भागों में बाँटा गया है। संख्याओं का वर्णन तीन प्रकार से है-

१. संख्येय अर्थात गिनने योग्य।

२. असंख्येयअर्थात अगण्य योग्य।

३. अनन्तअर्थात असीम।

3.3.2 जैन गणित का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

जैन साहित्य में गणित विषय का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। जैन साहित्य धर्म व दर्शन प्रधान है, तो भी उसमें गणित-शास्त्र का उपयोग व व्याख्यान पद-पद पर पाया जाता है। जैन धर्म में गणित विज्ञान एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। यह जैन परम्परा का हिस्सा है संख्यान (अंक और ज्योतिष) जैन मुनियों की साधन का महत्वपूर्ण अंग रहा है। जैन धर्म में ७२ विज्ञानों तथा कलाओं में अंकगणित को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। जैन वांगमय को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। उसे गणितानुयोग भी कहा जाता है। गणितीय सिद्धान्तों द्वारा सृष्टि-संरचना को स्पष्ट करना तथा कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या करना जैन आचार्यों का प्रमुख दृष्टिकोण है। अतः मात्र करणानुयोग का ही नहीं, अपितु द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों का भी अध्ययन गणित के परिपक्व ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। गणित के महत्व को बताते हुए महावीराचार्य ने कहा है कि- "सांसारिक ग्रन्थों में गणितीय सामग्री प्रत्यक्ष रूप परोक्ष रूप में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। हमारे प्राचीन ज्ञान-भण्डार में आगम साहित्य का बहुत महत्व है। ऐसे ही एक महत्वपूर्ण वैदिक तथा धार्मिक आदि सभी कार्यों में गणित उपयोगी है"।

जैन गणितज्ञ महावीराचार्य और गणितसार-संग्रह-

प्रसिद्ध जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ८५० ई० में हुए। इन्होंने गणित के अनेक नवीन सिद्धान्त निकाले। इनकी बनाई हुई **'गणितसार-संग्रह'** अंकगणित की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में से एक है।

संस्कृत भाषा में लिखी गणितसार-संग्रह में महावीराचार्य ने गणित का विलक्षण तरीके से विवेचन किया है। यह जैन परम्परा का सर्व प्रथम गणित विषयक ग्रन्थ की श्रेणी में आता है। इसमें गणित के

नियमों के साथ-साथ गणित सम्बन्धी प्रश्न भी दिये गये हैं। जो अत्यंत मनोरंजन तथा ज्ञानवर्धक होते हैं। गणितसार-संग्रह में नौ अधिकार (अध्याय) हैं।

इनके द्वारा बताये गये सिद्धान्त कुछ इस प्रकार से हैं-

लघुत्तम समापवर्त्य (Lowest Common Multiple) का नियम आविष्कृत किया जिसको उन्होंने निरुद्ध शब्द से द्योतित किया- **छेदापवर्तकानां लब्धानां चाहतौ निरुद्धः स्यात्।**

अर्थात् छेदों (Denominator) के अपवर्तकों अर्थात् समापवर्तकों तथा उनसे प्राप्त लब्धियों को परस्पर गुणा करने से निरुद्ध प्राप्त होता है। यूरोप में इस विधि का पता १५वीं शती में चला।

ब्रह्मगुप्त और महावीर दोनों ने चतुर्भुज के क्षेत्रफल का यह निम्न नियम दिया था, जो कि केवल वृत्तांतर्गत चतुर्भुज के विषय में शुद्ध है-

$\sqrt{}$ स (स-अ) (स-ब) (स-च) (स-द)

भिन्नो, श्रेढियों तथा अंकगणितीय प्रश्नों का विशद और विस्तृत रूप गणितसारसंग्रह में मिलता है।

आयातवृत्त (दीर्घवृत्त) का क्षेत्रफल – दीर्घाक्ष में अर्धलध्वक्ष को जोड़ें तथा २ से गुणा करें। इस प्रकार दीर्घवृत्त की परिधि ज्ञात होती है। पुनः १/२ लध्वक्ष को परिधि से गुणा करने पर उसका क्षेत्रफल प्राप्त होता है लेकिन यह नियम स्थूल है।

यदि जैन लोग इस युग के अपने धार्मिक ग्रन्थों को संजोए न रखते तो आज गणित का तत्कालीन इतिहास पूर्ण रूप से अन्धकार-विलीन हो गया होता। स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र तथा अनुयोगद्वार सूत्र इस युग के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इस युग के प्रमुख आविष्कार तथा महत्वपूर्ण कृतियाँ ये हैं-

१. दशमिक अंक-लेखन प्रणाली।
२. शून्य का आविष्कार।
३. बीजगणित का आविष्कार।
४. अंकगणित का विकास-वक्षाली-गणित।
५. ज्योतिष का विकास और सूर्यसिद्धान्त की रचना।

परिकर्म्म व्यवहारो रज्जु रासी क्लासवन्ने य।
जावन्तावति वग्गो घनो ततह वग्गवग्गो विकप्पोत।। (स्थानांग सूत्र,७४७)

अर्थात् ३५० ई०पू० भारतवासी परिकर्म्म (मूलभूत क्रियायें), व्यवहार (व्यवहार गणित Practical Arithmetic), रज्जु (रेखागणित), राशि (त्रैराशिक नियम), कलासवर्ण (भिन्न क्रिया), यावत्तावत (सरल समीकरण), वर्ग (वर्ग समीकरण), घन (घन समीकरण) वर्गवर्ग (चतुर्घात समीकरण), विकल्प (क्रमचय तथा संचय) जानते थे।

दशमिक अंकलेखन प्रणाली और शून्य-

आचार्य पिंगल के छन्दशास्त्र में शून्य के सांकेतिक चिह्न का प्रयोग किया गया था। उसमे छन्द के प्रस्तार करने हेतु लिखा गया है कि **'रुपे शून्यम्'** इसका अर्थ है कि विषम संख्या में से एक घटाने पर शून्य स्थापित करिये। **'द्वि शून्ये'** अर्थात शून्य स्थान में दो बार आवृत्ति कीजिए। इससे यह पता चलता है कि २०० ई० पू० शून्य का कोई चिह्न अवश्य रहा होगा। अतः दशमिक अंकलेखन प्रणाली तथा शून्य का आविष्कार अगभग २०० ई० पू० का है। भारतीयों का सबसे बड़ा आविष्कार

शून्य सहित दशमिक संख्या पद्धति तथा दशमिक अंकलेखन प्रणाली है। संसार में बुद्धि और सभ्यता के विकास में सहायक सबसे महत्वपूर्ण गणितीय आविष्कार यही है। १ से ९ तक के अंकों तथा शून्य के द्वारा बड़ी से बड़ी संख्या बड़ी सरलता तथा कुशलता से लिखी जा सकती है। यही कारण है कि विश्व भर ने इस प्रणाली को अपना लिया है।

3.3.3 बौद्ध गणित का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

बौद्ध काल में दुनियाँ अपने ज्ञान के चरम पर थी। तक्षशिला, नालंदा और विक्रमशिला नामक महानतम विश्वविद्यालयों में विश्वभर के लोग ज्योतिष, गणित, खगोल और धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन करने आते थे। बौद्ध कालीन गणित का अपना विशिष्ट महत्व रहा है। बौद्ध साहित्य भी अनिश्चयात्मक और असीम संख्याओं के प्रति जागरूकता प्रदर्शित करता है। बौद्ध गणित का विभाजन गणना अर्थात सरल गणित या सांख्यन अर्थात उच्चतर गणित में हुआ है।

प्राचीन बौद्ध साहित्य में गणित के भेद-

१. मुद्रा (अंगुलियों पर गिनना)

२. गणना (सामान्य गणित, मौखिक गणना)

३. संख्यान (उच्च गणित)

दीर्घनिकाय, विनयपिटक, दिव्यावदान और मिलिन्दपंहो ग्रन्थों में इन तीनों का उल्लेख मिलता है। गणित के अर्थ में ‘संख्यान’ शब्द का प्रयोग अनेक ग्रन्थों में मिलता है। प्राचीन गणित में ज्योतिष भी समिलित था। क्षेत्रगणित या ज्यामिति (Geometry) का उल्लेख वेदांग के रूप प्रचलित ‘कल्पसूत्र’ और शुल्बसूत्रों में मिलता है। बाद में ज्योतिष स्वतन्त्र विषय हो गया और क्षेत्रगणित या ज्यामिति गणित का अंग हो गया। आगे चलकर अज्ञात राशि से सम्बन्ध रखने वाला बीजगणित (Algebra) कहलाया। यह पृथक करण सर्वप्रथम ब्रह्मगुप्त ने किया। उन्होंने ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त ग्रन्थ में बीजगणित से सम्बद्ध अध्याय को ‘कुट्टकाध्याय’ कहा है।

आचार्य ब्रह्मगुप्त—

ब्रह्मगुप्त का जन्म राजस्थान के भीनमाल नामक स्थान में ५९८ ई० में हुआ था। इन्होंने **“ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त”** और **“खण्डखाद्य”** की रचना की है। इन्होंने शून्यपरिकर्म, क्षेत्रमिति के उच्च नियम, बीजगणित तथा अनन्तरराशि के नियम समझाये।**“ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त”** में २१ अध्याय हैं जिनमें दो अध्याय गणित पर तथा शेष ज्योतिष सम्बन्धी हैं। इन अध्यायों में अंकगणित, बीजगणित तथा ज्यामिति के सूत्र हैं।

परिकर्मविंशतिमिमां संकलिताद्यां पृथग्विजानाति।
अष्टौ व व्यवहारान् छायान्तान् भवति गणकः सः॥(ब्रा० स्फु० सि०)

अर्थात् संकलित आदि गणित की २० क्रियाओं तथा ८ व्यवहारों को जो जानता है वही गणक है। वैदिक काल में गणक, ज्योतिषी को कहते थे किन्तु अब गणित स्वतंत्र सत्ता रखने लगा।

परिकर्म- संकलित, व्यवकलित, प्रत्युत्पन्न, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबंध जाति, भागापवाह जाति, भागमाता जाति, त्रैराशिक, व्यस्तत्रैराशिक, पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, एकादशराशिक तथा भांडप्रतिभांड।

व्यवहार- मिश्रक, श्रेढी, क्षेत्र, खात, चिति, क्राकचिक, राशिक और छाया।

बीजगणित पर सर्वप्रथम **"ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त"** का कुट्टक अध्याय मिलता है उस समय कुट्टक-समीकरण (Indeterminate equation) के साधनको अत्यंत महत्वपूर्ण समझा जाता था। बीजगणित को कुट्टक कहा गया है। उदाहरण-

अवयक्तान्तरभक्तं व्यस्तं रूपान्तरं स्मेऽव्यक्तः। (ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त)

अर्थात् अचरों के अंतर को गुणांकों के अंतर से भाग देने पर अव्यक्त का नाम व्यक्त हो जाता है।

जैसे- कय + ख = गय = घ तो य = $\frac{\text{घ} - \text{ख}}{\text{क} - \text{ग}}$

इन्होंने समखात (Prism) सूची (Cone या Pyramid) के घनफल निकालने का नियम बताया।

इन्होंने गुणोत्तर श्रेणी के योग के नियम दिये। इस उदाहरण में अंत्यधन अंतिम पद के लिए गुण सार्व अनुपात के लिए तथा गु, गुणधन (Common ratio) के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

श्रेणी योग =

$\frac{\text{आ} - \text{गु}^{\text{स-१}} \times \text{गु- आ}}{\text{गु} - \text{१}}$

$\frac{\text{आ} - \text{गु}^{\text{स}} - \text{१}}{\text{गु-१}}$

यहाँ अंत्यधन आ गु-१ है।

यूक्लिड का प्रमेय (Euclid's theorem) यदि दो जीवाएँ परस्पर एक-दूसरे को काटती हों तो एक के अन्तः खंडों की गुणा दूसरे के अन्तः खंडों की गुणा के बराबर होती है।

पाइथागोरस प्रमेय यह प्रमेय शुल्वकाल में ही भारत में ज्ञात था परन्तु ब्रह्मगुप्त ने इसे विस्तृत रूप से वर्णित किया-

कर्णकृतेः कोटिकृतिं विशोध्य मूलं भुजो भुजस्य कृतिम्।
प्रोह्य पदं कोटि कोटिबाहुकृतियुतिपदं कर्णः।।

अर्थात-कर्ण^{२} - कोटि^{२} = भुज^{२}

कर्ण^{२} - भुज^{२} = कोटि^{२}

कोटि^{२} - भुज^{२} = कर्ण^{२}

ब्रह्मगुप्त ने चतुर्भुज के परिगत वृत की त्रिज्या निकालने का भी नियम बताया है।

भारतीय अंक अपने आधुनिक रूपमें७वीं और ११वीं सदी के मध्य विकसित हो चुके थे। साथ ही विभिन्न गणितीय क्रियाओं को दर्शाने वाले संकेतों जैसे- धन, ऋण, वर्गमूल आदि का भी विकास हुआ। भारत ने अंकों के अलावा शून्य की भी खोज की शून्य से पहले भी विश्व में अनेक प्रकार की अंक प्रणाली थी। शून्य आविष्कार के पश्चात भी यह प्रणालियाँ प्रचलित थी। पहले लोग ९ के पश्चात ११ लिख देते थे या मान लेते थे। परन्तु विद्वानों के अनुसार उत्तर वैदिक काल में शून्य के आविष्कार के पश्चात गणित में एक नया परिवर्तन हुआ।

अंकगणित- अंकगणित का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। इसकी जानकारी वैदिक ग्रंथों से प्राप्त होती है। वैदिक एवं सूत्र ग्रंथों के बाद रामायण में भी अंकगणित की जानकारी प्राप्त होती है। जिसमें शत, सहस्र, कोटि, शंख, महाशंख, वृन्द आदि शब्द मिलते हैं। गणित के सामान्य प्रश्न पाटी (तख्ती, पट्ट या फलक) पर या मिट्टी में अंक लिखकर किए जाते थे, अतः अंकगणित का नाम 'पाटीगणित' या

'धूलिकर्म' पड़ गया। अंकगणित में संख्याएँ व्यक्त होती हैं, अतः उसे 'व्यक्तगणित कहा जाता है, और संखयाएँ अव्यक्त होने के कारण बीजगणित को 'अव्यक्तगणित' भी कहा जाता है।

अंकगणित के आठपरिकर्म (Fundamental Operations)

१. संकलित (जोड़), २. व्यवकलित (घटाना), ३. गुणन (गुणा करना), ४. भागहार (भाग देना), ५. वर्ग (Square),६. वर्गमूल (Square-root), ७. घन (Cube), ८. घनमूल (Cube-root)

रेखागणित- वैदिक काल में गणित का परिचय कल्प नामक वेदांग में सुल्व सूत्रों के रूप में ३००० ई० पू० मिलता है। वेदी मापन में प्रयोग होने वाली रस्सी को सुल्व कहा जाता है। पाइथागोरस के नाम से जो प्रमेय वर्तमान समय में प्रचलित है, उस प्रमेय की रचना शुल्व सूत्रों में 'बौद्धायन शुल्व सूत्र में हो चुकी थी। शुल्व सूत्रों के रचिताओं में बौद्धायन, आपस्तम्भ, कात्यायन, मानव, मैत्रायण आदि के नाम जाने जाते हैं।

ज्यामिति के क्षेत्र में आर्यभट्ट, भास्कर प्रथम, ब्रह्मगुप्त, महावीर का विशेष योगदान रहा है। आर्यभट्ट ने अपने ग्रन्थ में मुख्यतः त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त के क्षेत्रफल, ठोसों के आयतन के सूत्र लिखे हैं। आचार्य भास्कर ने 'लीलावती' के 'क्षेत्र व्यवहार' नामक अध्याय में समकोण त्रिभुज व चतुर्भुज के क्षेत्रफल, वृत्त-क्षेत्रफल, गोलों के तल व आयतन आदि पर विस्तार से विवेचना की है।

बीजगणित- भास्कराचार्य के अनुसार बीजगणित एवं अंकगणित में संरचना और सिद्धान्त के विचार से अनेक समानताएँ हैं। इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि अंकगणित में व्यक्त (ज्ञात) राशि की बात की जाती है जबकि बीजगणित में अव्यक्त (अज्ञात) राशि की बात की जाती है। बीजगणित में अंकों की सहायता के बिना संकेताक्षरों या वर्णों से गणित की क्रिया की जाती है।

भास्कराचार्य के अनुसार अंकगणित से जिन प्रश्नों को हल करने में कठिनाई होती है उन प्रश्नों को बीजगणित से हल किया जा सकता है। अंकगणित की अपेक्षा प्रतीकों का प्रयोग कर, कम श्रम से अत्यन्त व्यापक फल प्राप्त करना बीजगणित की उपलब्धि है। इसीलिए बीजगणित को भाषा की 'आशुलिपि' (short hand) कहते हैं।

3.4 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई में आपने 'उत्तरवैदिक कालीन भारतीय गणित जैन, बौद्ध आदि' का अध्ययन किया। आपने जाना कि भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रारम्भ से ही गणित को महत्वपूर्ण विषय माना जाता रहा है। वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान का स्रोत हैं। वेदों में गणितशास्त्र से सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। उनमे एक संख्या से लेकर परार्द्ध संख्या तक का उल्लेख है। उनमे १० संख्या का महत्व, उसके गुणन, स्थानमान तथा भाग आदि का वर्णन है। वेदों में गणित शब्द का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन कुछ अन्य शब्द मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि गणना की विधि ज्ञात थी। जैन साहित्य यद्यपि धर्म व दर्शन प्रधान है। तथापि उसमें गणित शास्त्र का उपयोग व व्याख्यान पद-पद पर पाया जाता है। जैन गणित में महावीराचार्य का 'गणितसार संग्रह' प्रसिद्ध है। यदि जैन लोग इस युग के अपने धार्मिक ग्रन्थों को संजोए न रखते तो आज गणित का तत्कालीन इतिहास पूर्ण रूप से अन्धकार-विलीन हो गया होता। स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र तथा अनुयोगद्वार सूत्र इस युग के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इस युग के प्रमुख आविष्कार तथा महत्वपूर्ण कृतियाँ ये हैं- दशमिक अंक-लेखन प्रणाली,

शून्य का आविष्कार, बीजगणित का आविष्कार, अंकगणित का विकास- वक्षाली-गणित, ज्योतिष का विकास और सूर्यसिद्धान्त की रचना। बौद्ध काल में दुनियाँ अपने ज्ञान के चरम पर थी। तक्षशिला, नालंदा और विक्रमशिला नामक महानतम विश्वविद्यालयों में विश्वभर के लोग ज्योतिष, गणित, खगोल और धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन करने आते थे। बौद्ध कालीन गणित का अपना विशिष्ट महत्व है। बौद्ध साहित्य भी अनिश्चयात्मक और असीम संख्याओं के प्रति जागरूकता प्रदर्शित करता है। बौद्ध गणित का विभाजन गणना अर्थात सरल गणित या 'सांख्यन' अर्थात उच्चतर गणित में हुआ है। संख्याएँ तीन प्रकार की मानी गई हैं। 'संख्येय' अर्थात गिनने योग्य, 'असंख्येय' अर्थात अगण्य योग्य, 'अनन्त' अर्थात असीम। भारत ने अंकों के अलावा शून्य की भी खोज की शून्य से पहले भी विश्व में अनेक प्रकार की अंक प्रणाली थी। शून्य आविष्कार के पश्चात भी यह प्रणालियाँ प्रचलित थी।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

प्रणाली - पद्धति

विभाजन - बाँटना, विभाग करना

रूपान्तर - रूप का बदलना

समखात - समान

व्यक्त - ज्ञात

अव्यक्त - अज्ञात

परोक्ष - जो आँखों के सामने न हो, आँखों से ओझल

चाप - एक वृत्त की परिधि का एक भाग

अभ्यासप्रश्न—

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिये।

1. भारतीय गणित का शुभारम्भ किससे माना जाता है?

(क) ऋग्वेद (ख) यजुर्वेद

(ग) सामवेद (घ) अथर्ववेद

2. 'शुल्व' का अर्थ होता है।

(क) माप (ख) आधार

(ग) वेदी (घ) रस्सी

3. 'विनयपिटक' ग्रन्थ है।

(क) जैन (ख) बौद्ध

(ग) अद्वैत (घ) इनमे से कोई नहीं

4. गणितसार-संग्रह में महावीराचार्य ने किसका विलक्षण तरीके से विवेचन किया है?

(क) समाजशास्त्र का (ख) न्याय का

(ग) गणित का (घ) रसायन शास्त्र का

5. 'पाटीगणित' कहा जाता है।

(क) बीज गणित को (ख) अंकगणित को

(ग) रेखागणित (घ) इनमे से कोई नहीं

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिये।

1.शुल्व वह (रस्सी) होती थी, जो यज्ञ वेदी का निर्माण करने के लिए --------------- में काम आती थी।

2. वेद समस्त ----------------- का स्रोत हैं।

3. जैन धर्म में ------------------ विज्ञानों तथा कलाओं में अंकगणित को सर्वाधित महत्व दिया गया है।

4. बौद्ध गणित का विभाजन गणना अर्थात सरल गणित या सांख्यन अर्थात----------- गणित में हुआ है।

5. शुल्व काल की विश्व को सबसे बड़ी देन ------------------ के ज्ञान की नींव डालना है।

(3) सही गलत का चयन कीजिये।

1. छान्दोग्य उपनिषद् में सर्वप्रथम गणितशास्त्र का 'राशिविद्या' और ज्योतिष का 'नक्षत्रविद्या' नाम से उल्लेख है। ( )

2. जैन धर्म में गणित विज्ञान एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। ( )

3. बौद्ध काल में तक्षशिला, नालंदा और विक्रमशिला नामक महानतम विश्वविद्यालयों में विश्वभर के लोग ज्योतिष, गणित, खगोल और धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन करने आते थे। ( )

4. 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' आर्यभट्ट की प्रमुख रचना है। ( )

5.वैदिक एवं सूत्र ग्रंथों के बाद रामायण में भी अंकगणित की जानकारी प्राप्त होती है। ( )

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क, घ, ख, ग, ख
2. माप, ज्ञानिविज्ञान, ७२, उच्चतर, रेखागणित
3. सही, सही, सही, गलत, सही

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वेदों में विज्ञान, लेखक डॉ कपिलदेव द्विवेदी
2. वैदिक ज्ञान-विज्ञान विशेषांक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय भारत सरकार
3. संस्कृत वाङमय में विज्ञान का इतिहास, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT)
4. प्राचीन भारतीय गणित, लेखक डॉ व० ल० उपाध्याय
5. गणित का इतिहास, लेखक डॉ ब्रज मोहन
6. वेदविज्ञानश्री: (वैदिक वांगमय में विज्ञान), लेखिका डॉ उर्मिला श्रीवास्तव
7. गणितसार-संग्रह, लेखक महावीराचार्य, संपादक लक्ष्मीचन्द्र जैन
8. गणित का शिक्षणशास्त्र (भाग १) उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तरवैदिक कालीन भारतीय गणित के बारे में बताईए।

2. जैन गणित को स्पष्ट कीजिए।

3. बौद्ध गणित को स्पष्ट कीजिए।

4. आचार्य ब्रह्मगुप्त के गणित के नियमों को संक्षिप्त में स्पष्ट कीजिए।

इकाई-2 खगोल विज्ञान

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 खगोल शब्द का अर्थ एवं उसकी सार्थकता
2.4 खगोल विज्ञान के प्रतिपाद्य विषय
2.4.1 ग्रह व उनके उपग्रहों का सामान्य परिचय
2.4.2 क्षुद्र ग्रह तथा उल्का पिंड
2.4.3 प्रमुख तारे व तारा मंडल
2.4.4 आकाश गंगाएं
2.5 खगोल विज्ञान के प्रमुख ग्रन्थ एवं रचनाकार
2.5.1 प्राचीन खगोलीय ग्रन्थ एवं रचनाकार
2.5.2 आधुनिक खगोल विज्ञान के पाश्चात्य ग्रन्थ एवं रचनाकार
2.6 वेदों में खगोल विज्ञान : खगोल एवं ज्योतिष
2.7 खगोल विज्ञान की आधुनिक अवधारणा एवं उपादेयता
2.8 सारांश
2.9 बोध-प्रश्न
2.10 शब्दावली
2.11बोध प्रश्नों के उत्तर
2.12 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची
2.13 उपयोगी पुस्तकें
2.14 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

ईश्वर की विवेकशील शक्ति से संपन्न मनुष्य बौद्धिक क्षमता से युक्त होने के साथ-साथ जिज्ञासु प्रवृति का होने के कारणवहप्राचीन काल से ही प्रकृति की आश्चर्य जनक शक्तियों का कौतुहलवश अनुसन्धान कर्ता रहा है। प्रकृति अथवा ब्रह्माण्ड की उन्हीं शक्तियों में गुरुत्वाकर्षण शक्ति से संचालित सौरमंडलीय वातावरण है। सौरमंडल में व्याप्त सूर्य के अतिरिक्त बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि आदि ग्रह एवं उपग्रह, विविध तारामंडल, आकाश गंगाएं आदि सभी को खगोल की संज्ञा दी जाती है एवं उससे सम्बंधित क्रमबद्ध एवं सुसंगठित ज्ञानको अपने दीर्घचिंतन एवं अनुसन्धान प्रणाली के फलस्वरूप मनुष्य ने उसे(खगोल)उसका विज्ञान कहा है। इस प्रकार विभिन्न ग्रह-उपग्रह, तारामंडल, आकाश गंगाएं आदि से व्याप्त सौरमंडल से सम्बंधित विज्ञान को खगोल विज्ञान कहा जाता है। इस दृष्टी से इस इकाई के अंतर्गत हम खगोल विज्ञान का अर्थ एवं उसकी सार्थकता, खगोल विज्ञान के प्राचीन आचार्य, खगोल विज्ञान के प्रमुख ग्रन्थ, खगोल विज्ञान के प्रमुख सिद्धांत, खगोल विज्ञान एवं ज्योतिषशास्त्र, वेदों में खगोल विज्ञान, आर्ष काव्यों-रामायण एवं महाभारत में खगोल विज्ञान के संकेत, खगोल विज्ञान की आधुनिक अवधारणा एवं वर्तमान समय में खगोल विज्ञान की उपादेयता आदि विषयों का अध्ययन करेंगे।

2.2 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई में आपखगोल विज्ञान का अर्थ के माध्यम से उसके आशय को समझेंगे।
- प्रस्तुत इकाई में आपखगोल विज्ञान के विषय में समाज को अवगत कराने वाले विभिन्न ग्रंथों एवं उनके रचनाकारों के विषय में जानेंगे।
- प्रस्तुत इकाई में आप खगोल विज्ञान के प्रतिपाद्य विषयों में- ग्रह व उनके उपग्रहों का सामान्य परिचय, क्षुद्र ग्रह तथा उल्का पिंड, प्रमुख तारे व तारा मंडल एवं विभिन्न आकाश गंगाएं, आदि विषय से परिचित होंगे
- आप वेदों में खगोल विज्ञान किस प्रकार अभिव्यंजित है साथ ही ज्योतिषशास्त्रसे किस प्रकार सम्बंधित है? आदि संदर्भित तथ्यों से अवगत होंगे।
- आप वर्तमान समय में खगोलविज्ञान की उपादेयता के विषय में जानेंगे।

2.3 खगोल विज्ञान का अर्थ एवं उसकी सार्थकता

खगोल शब्द का अर्थ दो शब्दों के योग से बना है-ख+गोल। जिसमें ख का अर्थ है आकाश तथा गोल का अर्थ है मंडल। इस प्रकार खगोल का अर्थ आकाशमण्डल अर्थात आंतरिक्ष व ब्रह्माण्ड से है। आचार्य वामनशिवराम आप्टे **"ख"** का आकाश अर्थ में ग्रहण करते हैं। खगोलविज्ञान को शब्द आंग्ल भाषा में **"एस्ट्रोनॉमी"** कहा जाता है। यह शब्द ग्रीक भाषा के **स्ट्रोनोमस** शब्द से उद्भूत है, जो दो शब्दों के योग से बना है-**एस्ट्रोन+नोमोस**, जिसमें एस्ट्रोन का अर्थ है**तारा** तथा **नोमोस** का अर्थ हैनियम। इस प्रकार सौरमंडल में व्याप्त समस्त तारामंडल एवं उल्कापिंड आदि से सम्बंधित खगोल विज्ञान एक प्राकृतिक विज्ञान है जो ब्रह्माण्ड में होने वाली घटनाओं का अध्ययन करता है। ये घटनाएं विभिन्न ग्रहों, चन्द्रमा, तारे, नेबुला, आकाशगंगाएं,

उल्कापिंड, ग्रहक्षुद्र धूमकेतु आदि से सम्बंधित होती हैं । सामान्यतः दूसरे शब्दों में कहें तो खगोल विज्ञानपृथ्वी के बाह्य वायुमंडल अथवा अन्तरिक्ष में उद्भूत होने वाली हर वस्तु का अध्ययन करता है। खगोल विज्ञान ऐतिहासिक दृष्टी से प्राचीनविज्ञान माना जाता है। प्रारम्भिक सभ्यताओं ने रात्री के आकाश का व्यवस्थित अवलोकन किया, परिमाणतः स्रोत रूप में खगोलमिति, खगोलविज्ञान संबंधी कैलेण्डर आदि विविध विषयों का विकास हुआ, जिनके माध्यम से परवर्ति संस्कृति को शनैः शनैः यह अवगत हुआ कि खगोल का अर्थ अंतरिक्ष का वह विज्ञान है, जिसमें सभी ग्रहों, तारों, क्षुद्रग्रहों, उल्का पिण्डों आदि की गतियों का अध्ययन किया जाता है। इन सभ्यताओं में मिस्र, बेबीलोन, यूनानी, भारतीय, चीनी एवं लैटिन अमेरिका आदि प्रमुख थीं। खगोल विज्ञान सौरमंडल का वह विज्ञान है जिसका अध्ययन संस्कृत साहित्य की परंपरा में स्वतंत्र न होकर षड् वेदांगों में वेद रुपी पुरुष की चक्षु इंद्री से अभिधेयित **"ज्योतिष"** के रूप में हुआ है। इसमें सौरमंडल के मुख्य तारे सूर्य और गुरुत्वाकर्षण शक्ति से संचालित ग्रहों तथा उपग्रहों की परिक्रमण एवं परिभ्रमण गति के परिणाम स्वरुप समय की इकाइयों, ऋतुओं, अयन, नक्षत्र, तारामंडल, सूर्य ग्रहण एवं चन्द्र ग्रहण आदिविभिन्न विषयों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार सौरमंडल में व्याप्त विभिन्न वस्तुओं की तथ्यागत एवं वैज्ञानिक व्याख्या करने वाला विज्ञान खगोल विज्ञान है एवं यही इसकी सार्थकता।

2.4 खगोल विज्ञान के प्रतिपाद्य विषय

2.4.1 ग्रह व उनके उपग्रहों का सामान्य परिचय-

सौरमंडल के विभिन्न ग्रहों में बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण, यम तथा साथ ही उनके उपग्रहों में चन्द्रमा आदि को सौर का मुख्य विषय माना गया है। इनका सूक्ष्म परिचय निम्नवत है-

बुध- उपग्रहविहीनयह सौरमंडल के आठ ग्रहों में सबसे छोटा एवं सूर्य का सबसे निकटतम ग्रह है।इसका परिक्रमण(सूर्य की परिक्रमा) काल लगभग 88 दिवस है, जो कि अन्य ग्रहों में सबसे तेज है। बुध के अक्ष का झुकाव सौरमंडल के अन्य किसी भी ग्रह से सबसे कम है,किन्तु कक्षीय विकेन्द्रता सर्वाधिक है। बुध ग्रह अपसौर पर उपसौर की तुलना में सूर्य से करीब 1.5 गुना ज्यादा है। बुध का वायुमंडल ऑक्सीजन, सोडियम, हाइड्रोजन, हीलियम एवं पोटैशियम से मिलकर बना है। इसकी भौतिक संरचना ठोस चट्टानी एवं विभिन्न गड्ढों से निर्मित है।

शुक्र- सूर्य कीपरिक्रमा करने वाला यह दूसरा ग्रह है, जो 224.7 दिनों में सूर्य का एक चक्कर पूर्ण करता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने शुक्र ग्रह का नामकरण प्रेम और सौंदर्य की देवी रोमनके नाम पर किया है। आकाश में चंद्रमा के बाद यह रात्रि में तीव्र चमकने वाला ग्रह है। चूँकि शुक्र एक अवर ग्रह है इसलिए पृथ्वी से देखने पर यह कभी सूर्य के समीप ही प्रतीत होता है। शुक्र सूर्योदय से पहले या सूर्यास्त के बाद केवल थोड़ी देर के लिए ही अपनी अधिकतम चमक पर पहुँचता है।यहीं कारण है जिसके लिए यह प्राचीन संस्कृतियों के द्वारा भोर का तारा या शाम का तारा के रूप में संदर्भित किया गया है।बुध ग्रह की भांति इस ग्रह का भी कोई उपग्रह नहीं है।

पृथ्वी-पृथ्वी सौरमंडल का एकमात्र जीवन यापन करने की सभी परिस्तिथियों से युक्त एक नीला ग्रह है। विद्वानों द्वारा इसकी उत्पत्ति 4.54 अरब वर्ष पूर्व मानी की गई है। पृथ्वी सूर्य का एक चक्कर 365 दिनों में पूरा करती है।सूर्य कीपरिक्रमा करने वाला यह तीसरा ग्रह है। इसका 71% भाग जल

एवं 29% भाग विविध धरातलीय स्थलों से युक्त है। इसका परिक्रमण पथ अंडाकार सूर्य सेपरिक्रमा करते हुए यह कभी सूर्य के निकट तथा कभी सूर्य से दूर रहती है। इसी कारण पृथ्वी पर मौसम संबंधी विविध दशाएं उत्पन्न होती हैं। यह अपने अक्ष पर लम्बवत 23.5 डिग्री अवनत रूप में परिभ्रमण करती हुई 24 घण्टे में एक चक्कर पूरा करती है,जिस कारण दिन एवं रात का निर्धारण होता है। यह स्तिथि केवल भूमध्य रेखा उत्तर एवं दक्षिणी क्षेत्रों में होता है,किन्तु इसके ध्रुवीय कक्षों पर 6 माह दिन तथा 6 माह रात होती है। पृथ्वी गोलाकार है किन्तु घुमाव के कारण, पृथ्वी भौगोलिक अक्ष में चिपटा हुआ एवं भूमध्य रेखा के आसपास उभार लिया हुआ प्रतीत होता है। पृथ्वी का औसत व्यास 12,742 किलोमीटर (7, 918 मील) है। क्षोभमंडल, समतापमंडल, मध्यमंडल, तापमंडल एवं बहिर्मंडल से व्याप्त पृथ्वी विभिन्न वायु परतों से परिवृत्त है। पृथ्वी का एक मात्र उपग्रह **चन्द्रमा** है, जिसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति पृथ्वी को प्रभावित करती है। चंद्रमा, पृथ्वी से करीब 3,84,403 किलोमीटर दूर है, यह दूरी पृथ्वी के व्यास से 30 गुना ज़्यादा है एवं गुरुत्वाकर्षण शक्ति, पृथ्वी की तुलना में छह गुना कम है। उदय नारायण सिंह द्वारा अनुवादित सूर्यसिद्धान्त के भूमिका में उल्लेख किया गया है कि चन्द्रमा 27 दिन 9 होरा 43 मिनट 11.5 सैकेंड में पूरी करता है एवं इसका रंग कृष्ण,लाल तथा श्वेत होता है। चंद्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण ही पृथ्वी पर समुद्री ज्वार एवं भाटा आते हैं। चंद्रमा, हिन्दू धर्म के नौ ग्रहों में से एक, वैदिक ज्योतिष में बहुत महत्वपूर्ण माना गया है।

मंगल-मंगल को लाल ग्रह कहा जाता है। मंगल ग्रह को सूर्य का प्रक्रिमा में 687 पृथ्वी दिन लगते हैं, अर्थात मंगल को सूर्य की एक परिक्रमा करने में पृथ्वी से लगभग दोगुने से भी कम समय लगता है। यह पृथ्वी की तुलना में कम इसका घनत्त्व, आयतन एवं द्रव्यमान कम है। मंगल ग्रह पर दिन और रात का चक्र एवं मौसम सम्बन्धी परिवर्तन पृथ्वी के सामान होते हैं। मंगल ग्रह के दो छोटे उपग्रह **फ़ोबोस**एवं **डीमोस** हैं। मंगल ग्रह की सतह का रंग लाल-नारंगी होता है। ग्रह पर ज्वालामुखी ओलंपस मॉन्स है, जो माउंट एवरेस्ट से ढाई गुना ज़्यादा ऊंचा है। मंगल ग्रह की सतह पर वैलेस मेरिनेरिस नाम की घाटी है, जो 2,500 मील लंबी और 4 मील गहरी है। मंगल ग्रह के विषय में खगोल वैज्ञानिकों के अनुसंधान में पाया कि मंगल ग्रह की जलवायु, धरातलीय उच्चावच आदि पृथ्वी के सामान ही है। अत एव उन्होंने मंगल ग्रह को पृथ्वी का पुत्र कहा है।

बृहस्पति-बृहस्पति सौरमंडल का सबसे बड़ा ग्रह है। ग्रहों के क्रम में इसका क्रम पांचवां है, यह सूर्य की एक परिक्रमा11.86 वर्ष में पूरा करता है। इस ग्रह का वायु मंडल विभिन्न गैसों से आवृत्त है, जिसमें हाईड्रोजन तथा हीलियम मुख्य हैं। गुरुत्त्विय एवं चुम्बकीय शक्ति से युक्त इसका द्रव्यमान सूर्य के १०००वें भाग के बराबर है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार इस ग्रह का नामकरण देवताओं के गुरु बृहस्पति के नाम के आधार पर किया गया है। इस ग्रह के कुल **95 उपग्रह** हैं।

शनि-शनि ग्रह बृहस्पति के बाद सौरमंडल दूसरा सबसे बड़ा एवं ग्रहों के क्रम में का छटवां ग्रह है। शनि अपनी वलयाकार आकृति हेतु जाना जाता है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र में शनि ग्रह को सूर्य का पुत्र एवं कर्म फलदाता के रूप में पूजा जाता है तथा पाश्चात्य खगोल वैज्ञानिकों द्वारा इसका नाम कृषि के रोमन देवता के नाम पर रखा गया है। शनि ग्रह के वायुमंडल का 94% हाइड्रोजन तथा 6% भाग

हीलियम आदि गैसों से निर्मित है। शनि ग्रह के **50 उपग्रह** हैं जो इसकी परिक्रमा करते हैं। शनि ग्रह को सूर्य की एक परिक्रमा करने में कुल 29.5 वर्ष का समय लगता है।

अरुण-अरुण ग्रह को यूरेनस के नाम से भी जाना जाता है। ग्रहों के क्रम में यह 7वाँ ग्रह एवं सौरमंडल का तीसरा सबसे बड़ा ग्रह है। अरुण ग्रह अपने अक्ष पर 98 डिग्री पर अवनत हैएवं इसे सूर्य की एक परिक्रमाकरने में 84 वर्ष लगते हैं। इसकी खोज विलियम हर्शेल ने 1781 ई.में की थी, एवं उनके मत में अरुण ग्रह को दूरबीन से देखा जा सकता है। अरुण ग्रह की भौतिक संरचना हिम एवं विभिन्न गैसों से निर्मित है। अरुण ग्रह सूर्य से बहुत दूर है। अरुण ग्रह पर सूरज पश्चिम दिशा में उगता है तथाइस पर 42 वर्ष का दिन एवं 42 वर्ष की रात होती है। अरुण ग्रह पर औसत तापमान -197 डिग्री सेल्सियसरहता है। इस ग्रह पर हाइड्रोजन, मीथेन, एवं हीलियम गैसें हैं जो 04 वलय रूप में इसे परिवृत्त करतें हैं। अरुण ग्रह के **27 उपग्रह** हैं।

वरुण-वरुण ग्रह सौरमंडल का आठवां ग्रह है। इस ग्रह को सूर्य की एक परिक्रमा करने में 164.79 वर्ष का समय लगता हैं, जो की अन्य ग्रहों की अपेक्षा अधिक है। वरुण ग्रह की सूर्य से औसत दूरी 5.28 अरब किलोमीटर है। वरुण ग्रह पर एक दिन पृथ्वी के करीब 16 घंटे का होता है। वरुण ग्रह अपनी धुरी पर 28.3 डिग्री अवनत है। वरुण ग्रह के **13** प्राकृतिक**उपग्रह** हैं, जिसमें**ट्राइटन** सबसे बड़ा उपग्रह है। बृहस्पति, शनि एवं अरुण की भांति ही वरुण की भौतिक संरचना गैसीय आवरण से युक्त है, जिसमें अमोनिया तथा मीथेन मुख्यतः हैं। इस प्रकार बृहस्पति, शनि, अरुण की भांति ही वरुण को सौरमंडल का गैसीय दानव ग्रह कहा जाता है।

यम-यम ग्रह को प्लूटो भी कहा जाता हैं। वर्ष 2006 से पूर्व इसका क्रम सौरमंडल के 9वें ग्रह के रूप में माना जाता था। किन्तु अब इसे बौने ग्रहों की सूची में रखा गया है। प्लूटो, सौरमंडल का सबसे बड़ा बौना ग्रह है। प्लूटो का आकार पृथ्वी के चंद्रमा का एक-तिहाई है। इसे सूर्य की एक परिक्रमा करने में 247.7 वर्ष का समय लगता है। इसकी भौतिक संरचना नाइट्रोजन, मीथेन, और कार्बन मोनोऑक्साइड जैसी गैसों से निर्मित है। प्लूटो के**05उपग्रह** हैं। प्लूटो को कभी सौरमंडल का सबसे बाहरी ग्रह माना जाता था, किन्तु 18 फ़रवरी 1930 को इसकी खोज के पश्चात इसे सौरमंडल के 9वें ग्रह के रूप में माना गया। वर्तमान खगोलीय अनुसन्धान के पश्चात इस ग्रह को सौरमंडल की कक्षा से बाहर माना गया है, अतःअब खगोल विज्ञान में सौरमंडल के 8 ही ग्रह अंगीकार किए गए हैं।

2.4.2 क्षुद्र ग्रह तथा उल्का पिंड-

कठोर चट्टान एवं धातु से बने सूक्ष्म पिंड जो ग्रहों के साथ-साथ सूर्य की परिक्रमा करते हैं, क्षुद्र ग्रह कहलाते हैं। सबसे छोटे क्षुद्र ग्रह 1 मीटर या 3 फीट माप के बराबर माने गए हैं। सौर माडल का सबसे बड़ा क्षुद्र ग्रह “सेरेस”है। यह मंगल और बृहस्पति के बीच क्षुद्रग्रह बेल्ट में स्थित है। सेरेस को बौने ग्रह का दर्जा भी दिया गया है। वस्तुतः क्षुद्र ग्रह सौरमंडल के सभी ग्रहों की कक्षाओं में पाए जाते हैं, किन्तु सर्वाधिक क्षुद्र ग्रह बृहस्पति तथा मंगल की कक्षा में हैं। सामान्यतः क्षुद्र ग्रह तीन प्रकार के होते हैं-कार्बनयुक्त,पथरीले तथा धातु युक्त। इन्हें आधुनिक खगोल वैज्ञानिकों द्वारा सी-टाइप, एस-टाइप एवं एम-टाइप की संज्ञा दी गई है। मई 2016 तक क्षुद्र ग्रहों की संख्या 614690 थी, किन्तु वर्तमान समय में वैज्ञानिकों के खगोल अनुसंधान के बाद इनकी संख्या इससे भी अधिक मानी गई है। 1 मीटर से बड़े क्षुद्र ग्रहों को उल्का पिंड की संज्ञा दी जाती है। इनकी

संरचना लौह, निकिल आदि मिश्र धातुओं से निर्मित होती है। इन्हें वैज्ञानिकों द्वारा तीन वर्गों में रखा गया-धात्विक, आश्मिक तथा धत्विकाश्मिक। आश्मिक उल्का पिंड के कौंड्राइट (धूल कणों तथा धातु से निर्मित) तथा अकौंड्राइट(कठोर चट्टानों के पृथक अंश)एवं धात्विक उल्का पिंड के क्रमश: अष्टानीक(धात्विक पदार्थ से युक्त अष्टाकृतिनुमा प्लेट) और षष्ठानीक(धात्विक पदार्थ से युक्त षष्ठाकृतिनुमा प्लेट) प्रकार के दो भेद होते हैं। तीव्र जलते हुए प्रकाश के सामन इन सभी उल्कापिंडों में आक्सीजन, आर्गनगैलीयम, एल्युमिनियम, कार्बन,कोबाल्ट आदि 52 प्रकार के रसायनों की मात्रा होती है।

2.4.3 प्रमुख तारे व तारा मंडल-

सौरमंडल का प्रमुख एवं विशालकाय तारा **सूर्य** है। सूर्य ब्रह्माण्ड के केंद्र में अवस्थित है तथा चुम्बकीय अथवा गुरुत्त्वीय शक्तिके कारण सभी ग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं। सूर्य हाइड्रोजन तथा हीलियमआदि गैसों का एक पिंड है। सूर्य के केंद्र में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया से उर्जा उत्पन्न होती है, जो प्रकाश रूप में समस्त ब्रह्माण्ड में प्रकीर्ण होता है। सूर्य पृथ्वी से 4 करोड़ 65 लाख मील दूर है, किन्तु इसके प्रकाश को पृथ्वी पर पहुँचने पर 8 मिनट 22 सेकेण्ड का समय लगता है। सूर्य का व्यास 13 लाख 90 हजार किलोमीटर है, यह व्यास पृथ्वी के 113 गुने अधिक है। सूर्य के अलावा, सौरमंडल के आस-पास कुछ अन्य **तारे** भी हैं, जिसमेंअल्फ़ा **सेंटौरी ए**एवं **बी**, **बर्नार्ड तारा**, **वुल्फ़ 359 (सीएन लेओव)**, **लालैंड 21185**, **प्रॉक्सिमा सेंटॉरी**। **तारामंडल** आकाश में दिखाई देने वाले तारों का समूह है, जिनका स्वयं का प्रकाश नहीं होता अपितु ये सूर्य के प्रकाश के कारण चमकते हैं। इन तारा मंडलों को प्राचीन काल से ही विभिन्न आकृतियों में जोड़कर नाम दिए गए हैं।तारामंडलों के नाम और आकृतियाँ विभिन्न संस्कृतियों की कल्पना और कहानियों से जुड़ी हुई हैं।उदाहरण के लिए, सप्तऋषि मंडल भारतीय संस्कृति में बहुत महत्वपूर्ण है।प्राचीन काल में नाविक तारामंडलों का उपयोग समुद्र में दिशा खोजने के लिए करते थे।आधुनिक समय में खगोलविद तारामंडलों का उपयोग आकाश में विभिन्न खगोलीय पिंडों की स्थिति निर्धारित करने के लिए करते हैं।तारामंडलों का उपयोग आकाश में दूरियों को मापने के लिए एक पैमाने के रूप में भी किया जाता है।

2.4.4 आकाश गंगाएं-

अंतरिक्ष में व्याप्त बृहद सौरमंडल से युक्त, जिसमें विभिन्न अंडाकार परिपथ तथा एक बड़ा गुरुत्त्वीय केंद्र है, उसे भारतीय खगोल विज्ञान में संस्कृत शब्द से सुशोभित **"आकाशगंगा"** तथा आधुनिक खगोल विज्ञान में **"गैलेक्सी"** नाम से अभिहित किया जाता है। आकाशगंगाओं के बीच का स्थान पतली गैस से भरा हुआ है। आकाशगंगाएं गुरुत्वाकर्षण के ज़रिए समूहों, क्लस्टरों, और सुपरक्लस्टरों में व्यवस्थित होती हैं. खगोल वैज्ञानिकों के दीर्घ अनुसन्धान के परिणामतः ब्रह्मांड में आकाशगंगाओं की संख्या दो ट्रिलियन(एक हज़ार अरब या 10 खरब. इसे 1,000,000,000,000 या 10^{12} के रूप में लिखा जाता है।) तक है, उनका अनुमान है कि ब्रह्मांड में 200 बिलियन से 2 ट्रिलियन आकाशगंगाएं हैंएवं अधिकतर आकाशगंगाएं 10 अरब से 13.6 अरब साल पुरानी हैं। इस दृष्टी से वैज्ञानिकों ने आकाशगंगाओं को अंडाकार एवंसर्पिलाकार में बांटा गया है। हमारी

आकाशगंगा का नाम **मिल्कीवे** है। यह एक सर्पिल आकाशगंगा है। मिल्कीवे के अतिरिक्तहमारी आकाशगंगा के पास **एंड्रोमेडा** गैलेक्सी है।

2.5 खगोल विज्ञान के प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ एवं रचनाकार

खगोल विज्ञान स्वयं में ही एक रहस्यात्मक विज्ञान है, इस विज्ञान से सम्बंधित विभिन्न तथ्यों व विषयों मेंद्रष्टाओं एवं वैज्ञानिकों ने विभिन्न अनुसन्धान किये हैं, परिणामस्वरूप उन्होंने नवीन ज्ञान को अपने ग्रंथों में उपनिबद्ध किया। इस दृष्टी से इस उपशीर्षक के अंतर्गत खगोल विज्ञान के प्रमुख परम्परागत ग्रंथों एवं आधुनिक खगोल विज्ञान को प्रतिपादित करने वाले ग्रंथों का अध्ययन निम्नवत है-

2.5.1 प्राचीन खगोलीय ग्रन्थ व रचनाकार-

खगोल विषय के आधार रूप विभिन्न ग्रंथों की रचनायें हुई हैं, किन्तु कतिपय ग्रंथोंमें-सूर्यसिद्धांत,आर्य भट्ट प्रणीत आर्यभट्टीयम्,वराहमिहिर कृत पंचसिद्धान्तिका, ब्रह्मगुप्त प्रणीत ब्रह्मस्फुटसिद्धांत, धीवृद्धितन्त्र, खण्डखाद्यकरण, सिद्धांतसिरोमणि,सिद्धांतसम्राटएवं ग्रहलाघव आदि ग्रंथों कोही खगोल विज्ञान की दृष्टी से महत्त्वपूर्ण बाताये गए हैं-

सूर्यसिद्धांत-आर्ष परंपरा में विरचित सूर्यसिद्धान्त खगोल विज्ञान का आदि ग्रन्थ माना जाता है। विद्वानों द्वारा इस ग्रन्थ प्रवर्तक भगवान सूर्य को माना गया है। 14 अधिकारोंमें(मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, छेद्यक, चंद्रग्रहण, सूर्यग्रहण, ग्रहयुति, उदयास्त, चन्द्रश्रींगोनती, पात, भूगोल, ज्योतिष तथा उपनिषद संज्ञक)उपनिबद्ध इस ग्रन्थ की वर्तमान समय में दो टीकाएँ प्रसिद्ध हैं-प्रथम सुधाकर कृत "सुधावर्षिणी" एवं द्वितीय कपिलेश्वर कृत "श्रीतत्त्वामृत"। इस ग्रन्थ का आरम्भ भगवान सूर्य की स्तुति से होता है। तत्पश्चात सूक्ष्म काल एवं स्थूल्काल, ब्रह्मा की आयु, दिक्साधन, अयनांश तथा लम्बाक्ष आदि साधनों का वर्णन, वैज्ञानिक रीति से सूर्य एवं चन्द्रग्रहण वर्णन, ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन,ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन, इसमें ब्रह्मांड की परिधि को व्योमकक्षा कहा गया है। तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र एवं ब्रह्माण्ड स्वरुप की व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थ में ग्रहों के क्रम के विषय में कहते हैं कि गुरु, भौम, बुद्ध, शुक्र, सूर्य आदि ग्रह ब्रह्माण्डमें चंद्रमा की कक्षाएं हैं। -**मंदामरेज्यभूपुत्रः सूर्य शुक्रेंदुजेंदवः।**

आर्यभट्टीयम्-खगोल शास्त्रीय ग्रंथों मेंआर्यभट्टीयम् आद्यश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसके रचयिता आर्यभट्ट हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ "आर्यभटीय" के द्वितीय पाद (गणितपाद) के 9वें श्लोक मेंपृथ्वी, चन्द्रमा, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल एवं बृहस्पति आदि धिष्ठित परब्रह्म को नमस्कार करते हुए कुसुमपुर(बिहार) के लोगों द्वारा इस ग्रन्थ को समादृत बताया है, इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कुसुमपुर स्थान के निवासी थे-

ब्रह्मकुशशिबुधभृगरविकजगुरुकोणभगणान्नमस्कृत्य।
आर्यभट्टस्त्विह निगददि कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्। ।

आर्या छंद में उपनिबद्ध यह ग्रन्थ अपनी काव्यात्मकता एवं गणितीय व्याख्या पद्धतियों के कारण प्रसिद्ध है, इसमें उल्लेखित गीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद तथा गोलपाद क्रमशः चार पाद कहे गए हैं-

प्रणिपत्यैकमनेकं कं सत्यां देवतां पलं ब्रह्मा।
आर्यभट्टस्त्रीणि गदति गणितं कालक्रिया। ।

उपर्युक्त चार पादों में **"गीतिकापाद"** मात्र 13 शोलोकों में उपनिबद्ध सबसे छोटा है। इस पाद के प्रतिपाद्य विषयों में संख्याओं की लेखन पद्धति का वैज्ञानिक रीति से वर्णन, ब्रह्मा के एक दिन का मान, मन्वंतर, अंश, कल्प, कला, राशि, पृथ्वी का व्यास एवं नवीन संख्या लेखन की विविध विधाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है। **"गणितपाद"** 33 श्लोकों में उपनिबद्ध है, जिसमें वृत्त, वर्ग, आयत, त्रिभुज, शंकु, घनमूल, वर्गमूल आदि के क्षेत्रफल को जानने हेतु विभिन्न सूत्रों का एवं दो ग्रहों के मध्य युतिकाल के नियमों को जानने की विधा का प्रतिपादन किया गया है। काल की विविध विधाओं की व्याख्या होने के कारण **"कालक्रियापाद"**में- केंद्र, भगण, वर्ष, व्यतीतपात, योग,वर्षों तथा युगों में सम्बन्ध दर्शाया गया है, साथ ही चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से गणनारंभ का उल्लेख है। इसी प्रकार 50 श्लोकों में उपनिबद्ध अंतिम पाद गोलपाद में विषुवत रेखा कल्पित केंद्र, नक्षत्रचक्र, उत्तरिध्रुव की स्तिथि, क्रांतिवृत, भूमा(पृथ्वी की छाया), सम्पात बिंदु, लंका तथा उज्जैन का अंतर, मनुष्य पितर देव दैत्य के रात एवं दिन का परिमाण आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

पंचसिद्धान्तिका-ज्योतिष व खगोलविज्ञान के रूप में निर्मित यह एक संग्रहात्मक ग्रन्थ है। इसके रचयिता ज्योतिष शास्त्र के प्रकांड विद्वान वरहामिहिर हैं, इनका जन्म 505 ई. कम्पिल्ल नगर में हुआ था। अपने पिता से ज्योतिष की शिक्षा लेने के बाद यह उज्जैन में निवास करने लगे थे। इनके इस ग्रन्थ में उल्लेखित अधिकांश श्लोकों को आर्यभट्टिय, सूर्यसिद्धान्त आदि ग्रंथों से उद्धृत किया गया है। प्राचीन खगोलविज्ञान संबंधी ग्रन्थ टीकाकारों का मानना है, कि इसमें खगोल के प्राचीन सिद्धांतों में-सूर्य, पौलिश, रोमक, पितामह, वसिष्ठ आदि सिद्धांतों के विभिन्न तथ्यों का मिश्रित रूप में वर्णन किया गया है, इसलिए लेखक ने इस ग्रन्थ का नामकरण पंचसिद्धान्तिका किया है। इस ग्रन्थ में ब्रह्मांडीय स्वरुप की व्याख्या, ग्रह, नक्षत्र तथा त्रिकोणमिति के सूत्र, पृथ्वी की गति, चन्द्रमा की कक्षाएं, ग्रहों के परिक्रमण पथ आदि विभिन्न विषयों का वर्णन किया गया है।

ब्रह्मस्फुटसिद्धांत- आचार्य ब्रह्मगुप्त प्रणीत ब्रह्मस्फुट सिद्धांत नामक ग्रन्थ खगोल व ज्योतिष विज्ञान का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ब्रह्मगुप्त का समय 528 ई.पू. का माना जाता है। इनके पिता का नाम जिष्णु था एवं इनका निवास स्थान राजस्थान के भीनमाल क्षेत्र माना जाता है। इनके मत में खगोल विज्ञान के प्राचीन सिद्धांतों सूर्यादि में वर्णित ग्रहों के स्वरुप, परिभ्रमण तथा परिक्रमण पथ, उनका व्यास आदि की दृष्टी से वास्तविक ग्रहों में पर्याप्त अंतर है। इसलिये उन्होंने दृक् प्रत्यय गृहस्तिथि सिद्धांत का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ में आचार्य ने शून्य को एक पृथक संख्या के रूप में अभिव्यंजित किया। साथ ही ऋणात्मक गणितीय अंकों का उल्लेख किया है। अरबीय विद्वान भारतीय खगोल व ज्योतिष के विषय में ब्रह्मस्फुटसिद्धांत नामक ग्रन्थ से परिचित हुए एवं उन्होंने इस ग्रन्थ का अरबी भाषा में अनुवाद किया, जिसमे पहले अरबी अनुवादक अल-फजिरी थे। इस ग्रन्थ पर आचार्य पृथूदकस्वामी की "तिलक" टीका अति प्रसिद्ध है।

धीवृद्धितन्त्र-आचार्य लल्ल द्वारा विरचित धीवृद्धितन्त्र खगोलशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। त्रिविक्रम भट्ट के आत्मज लल्ल खगोल विज्ञान के प्रख्यात विद्वान थे। इनके जन्म एवं समय के संबध में इन्होंने अपनी रचना में कोई संकेत नहीं दिए हैं, किन्तु विद्वानों द्वारा अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर

इनका समय 770 शक संवत माना गया है। इस ग्रन्थ में ग्रहों की त्रिविध स्तिथियों का विवेचन किया गया है-स्पष्ट, मध्यम एवं यथार्थ। प्रथम में करुणानुयायिनी वर्णन द्वितीय में आर्यभट्ट के सिद्धांत का अनुकरण तथा तृतीय में वेध का विवेचन किया गया है। साथ ही इसमेंसूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण, ग्रहोंकी उदय एवं अस्त की स्तिथि, ग्रहयुति महापातआदि विषयों का उल्लेख उपलब्ध होता है। आचार्य लल्ल ने ब्रह्मगुप्त की भांति आर्यभट्ट के सिद्धांतों की समालोचना नहीं की अपितु उनको संस्कृत कर एक बीजसंस्कार के रूप में प्रतिपादन किया । यथा-**शाके नाखाब्धि (420) रहिते शशिनोऽक्षदस्त्रैः(25)**

ततुन्गतः कृतशिवैः(114)तमसः षडङ्कै(93)।

शैलाब्धिभीः(47)सुरगुरोर्गुणिते सितोच्चात्,

शोध्यं त्रिपंचकू(153) हते ऽभ्रशराक्षी(250) भक्ते

खण्डखाद्यकरण-प्रसिद्ध खगोलशास्त्री ब्रह्मगुप्त द्वारा प्रणीत खंडखाद्यकरणं एक करण ग्रन्थ है। ब्रह्मगुप्त द्वारा इसकी रचना ब्रह्मस्फुट सिद्धांत के बाद (६६५ ई में) हुई।पूर्वार्द्ध(पूर्वखण्डखाद्यक) एवं उत्तरार्द्ध(उत्तरखण्डखाद्यक) भाग में उपनिबद्ध इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय सूर्य सिद्धांत पर आधारित है-पूर्वखण्डखाद्यक में ९ अध्याय हैं एवं इसमें ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट्ट द्वारा दिये गये खगोलीय नियतांकों का उपयोग किया है। **उत्तरखण्डखाद्यक** ६ अध्यायों में उपनिबद्ध हैं। इसमें ग्रह गति, नक्षत्र, लग्न, राशि आदि सम्बन्धी विभिन्न उन्नत नियमों का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से यह भाग ज्योतिष के क्षेत्र में भी अति महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ पर वरुण भट्टोत्पल एवं पृथुदक की प्रसिद्ध टीकाओं का प्रणयन हुआ है।

सिद्धांतसिरोमणि-आचार्य भास्कर द्वारा प्रणीत सिद्धांत शिरोमणि ज्योतिष व खगोलशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ज्योतिषशास्त्र की अद्भुत प्रतिभा के धनी भास्कराचार्य का जन्म शक् संवत 1036 (1114ई.) शांडिल्य गोत्र में हुआ। इनके पिता का नाम माहेश्वर था। खगोल विद्वानों द्वारा इसके रचनाकाल का समय शक संवत 1072 माना गया है। चार भागों में (बीजगणित, ग्रहगणित, गोलाध्याय, पाटीगणित) उपनिबद्ध यह ग्रन्थ ज्योतिष शास्त्र हेतु अत्यंत उपादेय माना गया है। पाटीगणितभाग पर 278 पद्यों में लीलावती नाम की स्वतंत्र रचना का प्रणयन हुआ है। गोलाध्याय नामक भाग में आचार्य द्वारा गणित को आधार मानकरगुरुत्त्वाकर्षण के विविध उदाहरणों का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में आचार्य द्वारा धरती के गोल होने का प्रमाण दिया है, वे कहते हैं कि-

समो यतः स्यातपरिधेह शंतान्श पृथी च पृथ्वीनितरां तनीयान्।

नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना, समेव तस्य प्रतिमात्यतः सा।।

इस ग्रन्थ में आचार्य भास्कर ने खगोलीय निरीक्षण हेतु-गोलयन्त्र, नाडीवलयंत्र, सूर्यघड़ी, शंकु, घटिका, चक्र, चाप, सूर्य फलकयंत्र। इन 12 प्रकार के यंत्रों का उल्लेख किया गया है। साथ ही अपने ग्रन्थ के पद्यभाग की सरल व्याख्या हेतु "वासनाभाष्य" नामक टीका लिखी।

सिद्धांतसम्राट- खगोल एवं ज्योतिष का प्रसिद्ध ग्रन्थसिद्धांत सम्राट नामक ग्रन्थ की रचना श्री जगन्नाथ द्वारा की गई। श्री जगन्नाथ मत्स्य नरेश रजा जयसिंह के दरबारी कवि थेएवं राजा इन्हें ससम्मान सहित दक्षिण क्षेत्र से अपने राज्य में लाये थे। कतिपय विद्वानों का मानना है कियह ग्रन्थ अरबी ज्योतिष ग्रन्थ मिजास्ता नामक ग्रन्थ का हिंदी भाष्य है क्योंकी इसमें उल्लेखित खगोलीय

यंत्रादि संबंधी तथ्यों का वर्णन अरबी ग्रन्थ के अनुरूप ही किया गया है। कवि स्वयं कहते हैं-**अरबी भाषया ग्रन्थं मिजास्ता नामक स्तिथः। गणकानां सुबोधाय गिर्वाण्या प्रकटिकृत ।।** इस ग्रन्थ में वेध शाला द्वारा सायन ग्रह, क्रन्तिसाधन, अक्षांश, देशांतर तथा कालवेद्य आदि विभिन्न विषयों का विवेचन किया गया है।

ग्रहलाघव- खगोल शास्त्रीय परंपरा में आचार्य दैवेज्ञ प्रणीत "गृह्लाघव" का अप्रतिम स्थान है। गणेशदैवेज्ञ के पिता का नाम केशव एवं माता का नाम लक्ष्मी था। विद्वानों द्वारा कौशिक गौत्र में उत्पन्न, इनका निवास स्थान नंदीग्राम माना जाता है। इनकी रचनाओं में गृह्लाघव, लघुतिथिचिंतामणि, बृहत्तिथिचिंतामणि, सिद्धांतसिरोमणि टीका आदि प्रमुख है। खगोलविज्ञान के क्षेत्र में इनका प्रमुख ग्रन्थ गृह्लाघव है। इस ग्रन्थ में गणीतिय समीकरणों द्वारा ग्रहों की तुल्यता, संयोग एवं वियोग राशि, नक्षत्र छाया, महापात इत्यादि का 15 अधिकारों में उपनिबद्ध कर विवेचन किया गया है।

3.5.2 आधुनिक खगोल विज्ञान के पाश्चात्य ग्रन्थ एवं उनके रचनाकार

खगोल विज्ञान के क्षेत्र में जिस प्रकार भारतीय आचार्यों ने अपना अभूत पूर्व योगदान दिया उसी प्रकार पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी इस क्षेत्र में अपनी नवीतम आश्चर्यजनक खोजों को समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है साथ ही विभिन्न ग्रंथों की रचनाएं की। इन ग्रंथों मेंऑन द हेवन्स,सिडेरियस नुनसियस, मैकेनिज्म ऑफ द हेवेन्स, आउटलाइन्स ऑफ एस्ट्रोनॉमी, मंगल और उसकी नहरेंतथा द इंटरनल कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ द स्टार्सआदि प्रमुख हैं।

ऑन द हेवन्स- अरस्तु प्रणीत "ऑन द हेवन्स" आधुनिक खगोल विज्ञान का ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में पृथ्वी को ब्रह्माण्ड का केंद्र एवं उसे स्वर्ग से पृथक माना गया है। विद्वानों के अनुसार प्रसिद्ध समुद्र यात्री कोलंबस ने आंशिक रूप से इस ग्रन्थ का उपयोग अपनी यात्राओं के लिए प्रेरणा के रूप में किया था।

सिडेरियस नुनसियस-गैलीलियोद्वारा सन् 1609ई. में विरचित "साइडेरियस नुनसियस"नामक पुस्तक खगोल विज्ञान के क्षेत्र में में हुई नवीनतम खोजो के विषय में अवगत कराती है। इसमें उल्लेख उपलब्ध होता है कि उन्होंने अपनी दूरबीन के माध्यम से अन्तरिक्ष का अवलोकन किया साथ ही सूर्यकेन्द्रित ब्रह्माण्ड के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

द मैकेनिज्म ऑफ द हेवेन्स-मैरी सोमरविले द्वारा लिखित 1831ई.में प्रकाशित "द मैकेनिज्म ऑफ द हेवन्स खगोल विज्ञान पर सबसे प्रभावशाली पुस्तकों में से एक है। पाश्चात्य खगोलविदों ने खगोलीय गति को समझने में सोमरविले की पुस्तक को तेजी से अपनाया गया। सोमरविले ने अपने 91 वर्षों के कार्यकाल में पांच महत्वपूर्ण खगोल विज्ञान की पुस्तकें एवं विभिन्न शोधपत्र लिखे जो खगोल के क्षेत्र में परवर्ति वैज्ञानिकों के लिए बहुत उपयोगी थे।

आउटलाइन्स ऑफ एस्ट्रोनॉमी-1849 में जॉन हर्शेल द्वारा विरचित पुस्तक पुस्तक "आउटलाइन्स ऑफ एस्ट्रोनॉमी" को खगोल विद्वानों ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सार ग्रन्थ की संज्ञा दी है। हर्शेल ने इस पुस्तक में ग्यूसेप पियाज़ी, हेनरिक ओलबर, फ्रेडरिक बेसेल व अन्य खगोलशास्त्रियों के खगोल सम्बन्धी सिद्धांतों एवं उनके द्वारा प्रतिपादित शोध पत्रों का उल्लेख किया है। इस पुस्तक में

अन्तरिक्षभूगोल, समय, धूमकेतु, ग्रहों की हलचल, तारा मण्डल आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

मंगल और उसकी नहरें-मार्स एंड इट्स कैनल्स द्वारा 1906 में प्रकाशित पुस्तक के माध्यम से लोगों में मंगल ग्रह के विषय में जानने की जिज्ञासा को उत्पन्न किया। इस पुस्तक में मंगल ग्रह की जलवायु, वहाँ के जीवजन्तु, भूमण्डल आदि भौतिक संरचनाओं के विषय में आश्चर्य उल्लेख किया गया है।

द इंटरनल कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ द स्टार्स-सर आर्थर एस एडिंगटन द्वारा विरचित एवं 1926 में प्रकाशित "द इंटरनल कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ द स्टार्स" में सौरमंडल में व्याप्त तारों के अध्ययन पर प्रकाश डाला गया है। इसमें तारे कैसे चमकते हैं?, उन्हें उर्जा कैसे मिलती है?, क्या उनका कोई परिक्रमण पथ है?, सूर्य के अतिरिक्त क्या चन्द्रमा की उर्जा से प्रभावित होते हैं?, गुरुत्वाकर्षण शक्ति किस प्रकार कार्य करती है?, सभी ग्रह सूर्य का ही चक्कर क्यों लगाते हैं?, आकाश गंगा कितनी प्रकार की होती हैं?, उल्का पिण्ड में तीव्र उर्जा की उत्पत्ति का स्रोत क्या है?,उपग्रहों के परिक्रमण से ग्रहों पर पड़ने वाले प्रभाव आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

2.6 वेदों में खगोल विज्ञान : खगोल एवं ज्योतिष

वेद भारतीय ज्ञान परंपरा के अक्षय स्रोत है, जिसमें मनुष्य एवं उसके जीवन से जुड़े विभिन्न विषय सम्मिलित हैं। उन्हीं विषयों में मुख्य है, खगोल। जिसने प्राचीन समय से ही मनुष्य की कौतुहल शक्ति को अभिप्रेरित किया है। खगोल के सन्दर्भ में प्राचीन आचार्यों ने अपने दीर्घ चिंतन सेजिस परिभाषा को अभिव्यक्त किया है, उसमें सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, मंगल आदि ग्रह तथा उपग्रह, विभिन्न तारे, गुरुत्त्वीय शक्ति व चुम्बकीय शक्ति, क्षुद्र ग्रह तथा उल्का पिण्ड आदि विषय वेदों से अनुकृत है। अर्थात् खगोल सम्बन्धी इन सभी विषयों का उल्लेख वेदों में विवेच्य हैं। वैदिक काल से ही खगोल विज्ञान का**ज्योतिष** के अंतर्गत अध्ययन किया जाता रहा है। ज्योतिष को षड् वेदांगों में वेद रुपी पुरुष का नेत्र कहा गया है। इस दृष्टी से खगोल विज्ञान भी वेद का नेत्र है। सम्पूर्ण सृष्टियों में होने वाले व्यवहार का निर्धारण काल से ही संभव है एवं काल का ज्ञान सौरमंडल में व्याप्त बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, आदि ग्रहों की गति से होता है। अत: प्राचीन काल से खगोल विज्ञान वेदांग का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्राचीन समय में शुभ मुहूर्त में याज्ञिक अनुष्ठान करने के लिए ग्रहों तथा नक्षत्रों का अध्ययन करके सही समय ज्ञात करने की विधि से ज्योतिष की उत्पति हुई एवं इसके रचनाकार लगधाचार्य थे।डॉ0 उमाशंकर ऋषि के मत में इन्होंने अपने ग्रन्थ के तृतीय श्लोक में ज्योतिष की उपादेयता का उल्लेख किया है-

वेदा हि याग्यर्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधान शास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम् ।।

अर्थात् वेदों की प्रवृत्ति यज्ञानुष्ठान के उद्देश्य से ही हुई, उनके विधान में काल के अधीन है एवं काल का विधान करने वाला विज्ञान (खगोल विज्ञान) ज्योतिषविज्ञान है। इस प्रकार यज्ञों के काल का निर्धारण ग्रहों एवं नक्षत्र आदि की गति पर निर्भर है। अतः सौरमंडल एवं नक्षत्रों के बारे में भविष्यवाणी करना ज्योतिष का मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।ऋग्वेद, शतपथ व्राह्मण आदि ग्रथों में नक्षत्र, चान्द्रमास, सौरमास, मल मास, ऋतु परिवर्तन, उत्तरायन, दक्षिणायन, आकाशचक्र, सूर्य की

महिमा, कल्प का माप आदि के संदर्भ में विभिन्न संकेत उपलब्ध होते हैं। इस हेतु प्राचीन द्रष्टा खगोल संबंधी विषयों का स्वयं प्रत्यक्ष अवलोकन करते थे। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त**(10.90.13)** में ब्रह्मांड जगत द्यु, अंतरिक्ष एवं पृथ्वी रूप में वर्णित है-**नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्णो द्यौ समवर्तत पदभ्याम भूमिः।** प्राचीन खगोल व ज्योतिष विद्वानों द्वारा वर्णित एक कथानक के अनुसार ऋषि दीर्घतमस् **सूर्य** का अध्ययन करने में ही अंधे हुए थे। ऋग्वेद में सूर्य को ब्रहमांड में एक चक्र के केंद्र बिंदु के रूप में परिकल्पित किया गया है। उसे द्युलोक का स्वामी एवं पृथ्वी को अपनी आकर्षण शक्ति से बांधे रखने वाला कहा गया है। सूर्य ही सभी भुवनों का अधार है- **यत्रेमा विश्व भुवनानि तस्थुः।** एवं वह सभी ऋतुओं का हेतु है। ऋग्वेद के **1/35/2**मंत्र में उल्लेख है कि ईश्वर द्वारा प्रदत्त सूर्य अपनी आकर्षण शक्ति सेपृथ्वी आदि लोकों को धारण करता है। ऋग्वेद में क्षुद्र ग्रहों तथा उल्का पिंडों का भी का उल्लेख उपलब्ध होता है। **शतपथ ब्राह्मण** में **पृथ्वी** को वृत्ताकार रूप में परिभाषित किया गया है। **चन्द्रमा** के गर्भ में घटने वाली विभिन्न घटनाओं एवं उनसे होने वाले परिणामों के विषय प्राचीन द्रष्टा गृहत्संवत द्वारा ऋग्वेद के द्वितीय मंडल में बताया गया है। ऋग्वेद के**10.90 सूक्त**, पुरुष सूक्त के 12वें मन्त्र में विराट पुरुष की मन तथा नेत्र नामक इन्द्रियों से क्रमशःचन्द्रमा एवं सूर्य की उत्पत्ति बताई गई है। इसी प्रकार यजुर्वेद के **18वें** अध्याय के**40**वें मंत्र में यह उल्लेख उपलब्ध होता है कि सूर्य किरणों के कारण ही चन्द्रमा प्रकाशमान है। **मैत्रयी उपनिषद** में सूर्य और सात ग्रहों का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में सूर्य को एक चक्र के मध्य में आधार रूप में बताया गया है एवं उसे जगत की आत्मा कहा गया है-**सूर्यः जगतस्तस्थुषश्च आत्मा।** साथ ही सूर्य को नवग्रहों में श्रेष्ठ मानकर उनका आह्वाहन किया गया है-**जपाकुसुमसङ्काशं काश्यपेयं महाद्युतिम्। तमोऽरिं सर्वपापघ्नं सूर्यमावायाम्यहम्।** । अथर्ववेद में **'शं नो दिविचरा ग्रहाः'**में सौरमंडलीय ग्रहों का वर्णन उपलब्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण मेंआठ ग्रहों का उल्लेख उपलब्ध होता है-**'अष्टौ ग्रहाः'**। शतपथ ब्राह्मण में भी खगोल विषयक तथ्यों का वर्णनहै, जैसे- चन्द्रमा की कक्षाओं एवं उसके मास में घटने और बढ़ने से मनुष्य हेतु विभिन्न बलिक्रम बाताये गये हैं।

वेदों में खगोल विज्ञान ज्योतिष के रूप में परिभाषित है एवं प्राचीन काल से ही ज्योतिष और खगोल का घनिष्ठ संबंध रहा है। ज्योतिषीय खगोल के सम्बन्ध में-वेदों में **सूर्य** एवं **चन्द्रमा** का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है, किन्तु **राहु** एवं **केतु** को अदृश्य तथा शेष भौम आदि में 07 ही ग्रहों(सूर्य, बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि)को वास्तविक ग्रह बताया गया है(ऋग्वेद 1.105.10)। इसी क्रम में सूर्य के दो अयनों- उत्तरायण तथा दक्षिणायन,काल गणना के सन्दर्भ में-संवत्सर, वर्ष, सौरवर्ष, चंद्रमास आदि, नक्षत्रादि का वर्णन(वेदों में कई स्थलों पर तारों को ही नक्षत्र कहा गया है), विषुव(तैत्तरीय संहिता) आदि विषयों संबंध में विभिन्न प्रसंग वेदों बहुशःउपलब्ध होते हैं। खगोल एवं ज्योतिष दोनों में सूक्ष्म रूप में अध्ययन विषय की दृष्टी से विभेद एक दूसरे से सम्बन्ध रूप में भी दृष्टीगत होता है-ज्योतिष में सौरमंडल के विभिन्न ग्रहों-बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि,सूर्य, राहु, केतु। तथा उपग्रहों में–चन्द्रमा आदि के गतिशीलता से मानव के जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्यन किया जाता है। आधुनिक खगोल विज्ञान में बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण,तारों में -सूर्य अन्य तारे । तथा उपग्रहों में–चन्द्रमा आदि का अध्ययन वैज्ञानिक तरीके से किया जाता है। ज्योतिष में भविष्यवाणी करने हेतु आकाशीय पिंडों की स्थिति का प्रयोग

किया जाता है। जबकि खगोल विज्ञान में पृथ्वी के बाह्यमंडल के साथ-साथ सौर परिवार का अध्ययन किया जाता है। आधुनिक समय में ज्योतिष और खगोल विज्ञान हेतु 'एस्ट्रो' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसका तात्पर्य है, विविध तारे या आकाशीय पिंड। भारत में वैदिक काल से ही नहीं अपितु मध्यकालीन यूरोप में खगोल विज्ञान एवं ज्योतिष का एक साथ अध्यन किया जाता था, किन्तु शनै: शनै: खगोल एवं ज्योतिष के क्षेत्र में हुए विभिन्न अनुसंधानों के परिणामस्वरूप यह विषय एक-दूसरे के पूरक अर्थ में पृथक-पृथक शाखाओं रूप में अभिव्यंजित हुए।

2.7 खगोल विज्ञान की आधुनिक अवधारणा एवं उपादेयता

खगोल एक बृहद विषय है, जिसमें हमारे प्राचीन द्रष्टाओं ने दीर्घकालीन अनुसन्धान किया है, एवं उनके द्वारा प्रदत्त खगोल के आश्चर्यात्मक निष्कर्षएवं परिणाम परवर्ती वैज्ञानिकों हेतु भी अनुकरणीय तथा पुनःपुनः खोजपूर्ण हैं। आधुनिक विज्ञान के युग में जहाँ मानव जीवनोपयोगी तथा उससे सम्बंधित आदि सभी विषय तकनीकी परम्परा से विकसित हो रहे हैं, वहीं मानव के कौतुहल व जिज्ञासा को बढाने वाली ब्रहमांड की शक्तियों का अध्ययन के पश्चात विद्वानों द्वारा विभिन्न अवधारणाएं प्रस्तुत की गई हैं, जो निम्नलिखित है-

खगोल विज्ञान मानव के विकास से प्राचीन- मानव का विकास उसकी दीर्घकालीन यात्रा का परिणाम है, प्राचीन समय में वह पृथ्वी पर रहते हुए वह पृथ्वी एवं पृथ्वी के बाह्य आकाश में घटने वाली घटनाओं को अनुभव कर्ता था, जिससे उसके अन्दर भय एवं कौतुहल उत्पन्न हुआ, किन्तु शनैः शनैः अपनी बौद्धिक क्षमता से वह खगोल की आश्चर्यजनक घटनाओं का निराकरण करने में प्रवृत्त रहने लगा। इस क्रम में उसका पृथ्वी के प्राकृतिक वातावरण को समझने से पूर्व सौरमंडल में व्याप्त सूर्य एवं ग्रहों की गति को समझना आवश्यक था। उसके द्वारा सृजित प्राचीन संस्कृतियों ने रात्रि में आकाश में व्याप्त तारों को जोड़ने वाली आकृतियों की कल्पनाएँ की, मानव के कृषि कर्म हेतु समय के निर्धारण में खगोल पर निर्भर रहा, लम्बी-लम्बी महासागरीय यात्राओं में नाविकों हेतु खगोल का ज्ञान आवश्यक था। इस प्रकार विभिन्न सभ्यताओं की कला एवं संस्कृति को प्रेरित कर विकसित करने में खगोल विज्ञान का योगदान है।

दैनिक जीवन में खगोलीय घटनाओं का अनुभव- खगोल की विभिन्न घटनाओं में यदि निदर्शन रूप में पृथ्वी के विषय में कथन करें तो, उसकी घूर्णन गति के परिणाम स्वरुप उसकी स्थिरता का उसी प्रकार अनुभव करते हैं जिस प्रकार नदी में गतिशील नाव में बैठकर नाव की स्थिरता का। खगोल की अन्य घटनाओं में पृथ्वी की गति से पृथ्वी पर मौसम सम्बन्धी घटनाओं, चन्द्रमा के परिक्रमण एवं उसके विभिन्न चरणों, बृहद दूरबीन से शनि ग्रह के छल्ले एवं उसके उपग्रह, बृहस्पति का वायुमंडल आदि का अवलोक कर सकते हैं।

रात का आकाश प्रकाशवानएवं गतिशील है- अन्तरिक्ष व आकाश का वास्तविक रंग कला होता है, किन्तु दिन में सूर्य के प्रकाश के विकिरण के कारण वह हमें नीला एवं प्रकाशमान प्रतीत होता है। रात्रि के समय सूर्य के प्रकाश से दीप्तमान तारों के माध्यम से आकाश दृष्टीगत होता है तथा आकाश की ओर उन्मुख होकर हम विभिन्न कल्पनाएँ करते हैं। जैसे-आकाश रात्रि में एक मार्गनिर्देशक है, खगोलीय उज्ज्वल पिण्ड रात्रि में भी सूर्य के क्षितिज से ऊपर नंगी आखों से दृष्टीगतहोते हैं, उल्का पिंड पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करते हुए दिखाई देते हैं, आदि।

खगोल विज्ञान सम्बन्धी उपर्युक्त अवधारणाओं के अतिरिक्त अन्य अवधारणाओं-**ब्रह्मांड विज्ञान-ब्रह्माण्ड को एक इकाई के रूप में अनुसन्धान करने का विज्ञान है, ब्रह्मांड में सैकड़ों अरब आकाश गंगाएं हैं, सौरमंडल में हमारा एक मात्र ग्रह पृथ्वी है एवं हमें इसका संरक्षण करना चाहिए।** आदि प्रमुख हैं।

खगोल विज्ञान की उपादेयता-प्राचीन समय में सौरमंडल के विभिन्न ग्रहों की गति, नक्षत्र आदि की स्थिति से यज्ञों का आयोजन एवं उसकी सिद्धि हेतु काल का निर्धारण किया जाता था। कृषि कार्य की उन्नति में लिए गए उत्कृष्ट निर्णयों का आधार ग्रहों की गति से ऋतुओं में होने वाले परिवर्तन थे। मनुष्य के जीवन से जुड़े विभिन्न कार्यों में यात्रा, उत्सव, संस्कारादि में नक्षत्र ग्रह गणना अति महत्त्वपूर्ण थी। खगोल के आधार पर ही दैनिक कलेंडर का निर्माण किया जाता था। अर्थात् किसी कार्य को किस प्रकार किया जाए, इस हेतु खगोल विज्ञान अपरिहार्य माना जाता था।

मनुष्य जीवन को सुखमय बनाने हेतु विज्ञान ने जिस प्रकार की क्रांति की है वह मनुष्य के बौद्धिक शक्ति का परिणाम है। उसके दैनिक जीवन से जुड़ा ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जो विज्ञान से प्रभावित न हो। उन्हीं विषयों में एक है खगोल, खगोल के क्षेत्र में भी नवीनतम वैज्ञानिक अनुसंधानों ने सौरमंडल के अध्ययन क्षेत्र को सूक्ष्म एवं सरल बना दिया है। कृत्रिम उपग्रहों के निर्माण एवं उन्हें सौरमंडल में भेजने की वैज्ञानिक तकनीक से खगोल में व्याप्त ग्रहों, उपग्रहों, आकाश गंगाओं से जुड़ी विभिन्न घटनाओं के सम्बन्ध में मनुष्य पृथ्वी के किसी भी कोने में रहकर जानकारी ले सकता है। पृथ्वी के परिक्रमण से मौसम परिवर्तन, चन्द्रमा के पृथ्वी के परिक्रमण से पृथ्वी पर ज्वारीय शक्ति का उद्भव, सौर प्रकाश, आकाश में चमकते तारामंडल से मनुष्य में उत्पन्न कौतुहल एवं उसकी रात्रि में आकाश मार्ग की कल्पना, आकाशीय पिंडों का पूर्व में उदय तथा पश्चिम में अस्त होना, पृथ्वी की घूर्णन से दिन-रात, सूर्य ग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि सौरमंडलीय विषयों में घटित घटनाओं के संदर्भ में वैज्ञानिक तकनीकी प्रयोग से उनके विषय में समय से पूर्व जाना जा सकता है,जिससे उपयुक्त निर्णय लिए जा सके। इस दृष्टी सेखगोल विज्ञान की आवश्यकता बढ़ जाती है। आधुनिक समय में इस विषय का "खगोल भौतिक विज्ञान" के रूप भी अध्ययन किया जाता है। खगोल विज्ञान से हमें ब्रह्मांड के रहस्यों का पता चलता है एवं इससे सम्बंधित कई तकनीकें विकसित होती हैं,खगोल विज्ञान से जुड़े शोध से निर्मित उपकरणों काप्रयोग चिकित्सा क्षेत्र में भी किया जाता है, खगोल विज्ञान से जुड़े शोधों से जुड़ी तकनीकें अन्य विषयों में भी विकसित होती हैं,उन तकनीकों का उपयोग-डेटा विज्ञान, एयरोस्पेस उद्योग, वित्त, तकनीकी लेखन और वैज्ञानिक अनुसंधान में किया जाता है।

2.8 सारांश

खगोल का क्षेत्र निश्चित रूप से समृद्ध एवं व्यापक है। मनुष्य के विकास से सम्बंधित ऐसा कोई भी विषय- वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक नहीं है, जिसकी चर्चा इसमें न हुई हो। अर्थात् मनुष्य जीवन से सम्बंधित सभी विषय खगोलीय घटनाओं से प्रभावित होते हैं। इस दृष्टी से इस इकाई के अंतर्गत हमने खगोल शब्द का अर्थ एवं उसकी सार्थकता को जाना। साथ ही खगोल विज्ञान के प्रतिपाद्य विषयों में विभिन्न ग्रहों-बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण तथा उपग्रहों में- चंद्रमाओं आदि, क्षुद्र ग्रहों एवं उल्का पिण्डों(धूमकेतु)का स्वरूप तथा प्रमुख तारों में

सूर्य एवं अन्य तारामंडलों से युक्त आकाशगंगा के विषय में जाना। इस इकाई में हमने सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत वेदों में खगोलीय विषयों का ऐतिहासिक अन्वेषणात्मक दृष्टी से अध्ययन किया एवं हम खगोल की प्राचीनतम उपयोगिता से अवगत हुए। तत्पश्चात हम ब्रह्मांड के स्वरूप को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत रखने वाले विविध ग्रंथों में-प्राचीन एवं पाश्चात्य खगोलीय ग्रन्थ एवं उनके रचनाकारों के विषय में जाना। साथ ही खगोल विषय की प्राचीन अवधारणाओं के विषय का अवलोकन किया एवं उसकी प्राचीन से लेकर वर्तमान उपादेयता के विविध तथ्यों से अवगत हुए।

2.9 बोध-प्रश्न

1.खगोल विज्ञान को आंग्ल भाषा में कहा जाता है-

क.एस्टोलाजी ख. कास्मोलाजी ग.एस्ट्रोनामी घ.एस्ट्रोफिजिक्स

2. निम्न में सौरमंडल के अध्ययन के विषय है-

क.ग्रह ख.उपग्रह ग.धूमकेतु घ. ये सभी

3.ब्रह्माण्ड के एक मात्र जीवनप्रदाता ग्रह पृथ्वी के कितने प्रतिशत भाग पर जल है-

क.78% ख.79% ग.71% घ.75%

4.शनि के कितने उपग्रह हैं-

क.50 ख.58 ग.52 घ.53

5. "ब्रह्मस्फुट सिद्धांत" के प्रणेता हैं-

क.भास्कराचार्य ख.गणेशदैवज्ञ ग.ब्रह्मगुप्त घ.आर्यभट्ट

6.नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्णो द्यौ समवर्तत पदभ्याम भूमिः। प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद के किस सूक्त से सम्बंधित है-

क.अक्ष सूक्त ख.पुरुष सूक्त ग.हिरण्यगर्भ सूक्त घ. अग्निसूक्त

रिक्त स्थान-

1. हमारी आकाशगंगा का नाम............ है?
2. प्राचीन समय में खगोल का अध्ययन ....के अंतर्गत किया जाता था।
3. "आउटलाइन्स आफ एस्ट्रोनामी" नामक पुस्तक के लेखक ....हैं।
4. मंगल ग्रह के उपग्रह............... हैं।

सत्य/असत्य

1. शतपथ ब्राह्मण में पृथ्वी को वृत्ताकार रूप में परिभाषित किया गया है। ( )

2. मंगल ग्रह के तीन उपग्रह हैं। ( )

3. सूर्य का व्यास 13 लाख 90 हजार किलोमीटर है, यह व्यास पृथ्वी के 113 गुने अधिक है। ( )

4.षड् वेदांगों में वेद रुपी पुरुष की घ्राणेंद्री **"ज्योतिष"** को कहा गया है। ( )

2.10 शब्दावली

1.उपादेय - उपयोग में लाने योग्य।

2. घूर्णन - परिक्रमा

3. कालक्रियापाद - काल गणना

4.अवर ग्रह - कनिष्ठ या छोटा ग्रह।

5.उल्का पिण्ड - कठोर चट्टान से निर्मित प्रकाशवान पिण्ड।

6.एस्ट्रोन - तारे

7.नोमोस - नियम

8.कौंड्राइट -धूल कणों तथा धातु से निर्मितउल्का पिंड।

9. अकौंड्राइट - कठोर चट्टानों के पृथक अंश।

10.कौतुहल - जिज्ञासा(किसी वास्तु को जानने की इच्छा), उत्सुकता।

2.11 बोध-प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. ग.एस्ट्रोनामी

2. घ. ये सभी

3.ग.71%

4.क.50

5.गब्रह्मगुप्त

6.ख. पुरुष सूक्त

रिक्त स्थान

1.मिल्किवे

2.ज्योतिष शास्त्र

3.जॉन हर्शेल

4.फोबोस एवं डीमोस

सत्य/असत्य

1.सत्य

2.असत्य

3.सत्य

4.असत्य

2.12 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1.आर्ष ग्रन्थं सूर्यसिद्धांतम्-सिंह उदयनारायण, स्वामी प्रकाशन मेरठ (उत्तर प्रदेश), वि. सं. 1960, पृ0 28 ।

2.आर्यभट्टियम्- परमेश्वर आचार्य, मथुरापुर शास्त्र प्रकाशन कार्यालय मुजफ्फरपुर (उत्तर प्रदेश), सन् 1906।

3.सिद्धांतशिरोमणि- द्विवेदी पण्डित गिरिजा प्रसाद, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ (उत्तर प्रदेश), सन् 1926।

4.खण्डखाद्यकरणम्- गुप्ता प्रभुचंद्रसेन, कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन 1941।

5.ब्रह्मस्फुटसिद्धांत-शर्मा पण्डित रामस्वरूप, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ ऐस्ट्रोनॉमिकल एंड संस्कृत रिसर्च करोलबाग न्यू दिल्ली- 2239।

6.ग्रह लाघव- शर्मा पण्डित रामस्वरूप, वैंक्टेश्वर प्रकाशन मुंबई, वि.सं. 1952 ।

2.13 उपयोगी पुस्तकें

1.वैदिक साहित्य एवं संकृति- द्विवेदी आचार्य कपिल देव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्र०सं0 2002

2.संस्कृत साहित्य का इतिहास- ऋषि डॉ0 उमाशंकर, पृ095, चौखम्भा भारती अकादमी,सन 2023 ।

3.सिडेरियस नुनसियस-गैलीलियो, https://en.wikipedia.org/wiki/Sidereus_Nuncius

4.आन द हेवेन्स-अरस्तु https://en.wikipedia.org/wiki/On_the_Heavens

5.द मैकेनिज्म ऑफ द हेवेन्स-मैरी सोमरविले, Anatiposi Verlag (16 अप्रैल 2023)

6.आउटलाइन्स ऑफ एस्ट्रोनॉमी-जॉन हर्शेल,Salzwasser-Verlag (25 जून 2022)

2.14 निबंधात्मक प्रश्न

1.खगोल विज्ञान ब्रह्माण्ड का विज्ञान है, कैसे?स्पष्ट कीजिये।

2.पृथ्वी के आंतरिक एवं बाह्य स्वरूप को स्पष्ट कीजिये।

3.खगोल ज्योतिष का अभिन्न अंग है। स्पष्ट कीजिये।

4.सौरमंडल के स्वरुप को अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिये।

5.खगोल विज्ञान के प्राचीन ग्रंथों का सूक्षम परिचय दीजिये।

6.खगोल विज्ञान की प्राचीन तथा आधुनिक अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिये।